स्वामी श्रद्धानन्द

पं. सत्यदेव विद्यालंकार

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द भारतीय संस्कृति की आर्ष परम्परा के अग्रगण्य पुराधाओं में से एक थे। उनके उद्भास्वर व्यक्तित्व ने आर्यसमाज और स्वाधीनता-आंदोलन—दोनों को सुदृढ़ किया। में जो परिवर्तनकारी तेजस्विता थी, उसके पीछे मूलभूत मानवीय जीवन-मूल्यों का बल था; और यही शक्ति उन्हें उनके महान बलिदानी शिखर तक ले गई।

पंडित सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा रचित स्वामी जी का यह जीवनवृत्त उनके बहुआयामी गतिशील व्यक्तित्व को पूरी प्रामाणिकता से व्याख्यायित करता है। विद्वानों की राय में स्वामी जी के जीवन के विभिन्न चरणों को उद्घाटित करनेवाली यह कृति उन पर लिखी गई प्रायः तमाम कृतियों की सिरमौर है और सर्वप्रथम प्रणीत भी। उल्लेखनीय है कि सत्यदेव जी द्वारा रचित अपने गुरुवर्य की यह जीवनी उनके बलिदान के ठीक सात वर्ष बाद १९३३ में प्रकाशित हुई थी।

आकस्मिक नहीं कि पिछले ६०-६५ वर्षों में विभिन्न विद्वानों ने इस पुस्तक की सराहना की है। उदाहरणार्थ, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ०धर्मपाल का कहना है कि 'समसामयिक समस्याओं का निदान ढूँढ़ते हुए प्रत्येक राष्ट्रभक्त नवयुवक और नवयुवती के सामने यह कृति आलोक पुंज की तरह विद्यमान रहेगी।' डॉ० विष्णुदत्त राकेश के शब्दों में, 'स्वामी जी आधुनिक भारत के संस्कृति-निर्माता थे' और 'पंडित सत्यदेव जी की यह कृति उसी महामानव के जीवन के विविध प्रेरणादायक प्रसंगों तथा पहलुओं को उद्घाटित करती है।' उनके अनुसार, 'स्वामी जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। यदि हमारी नई पीढ़ी इनके आलोक में अपना जीवन-पट बुन सकी तो निस्संदेह कल का उन्नत भारत उनका होगा तथा उन्हीं का रहेगा।' कहना न होगा कि 'इस पुस्तक से भारत की नई पीढ़ी को नवनिर्माण की प्रेरणा मिलेगी तथा मिलेगी वह मणिप्रभा, जिसके अव्याहत आलोक में निराशा का अंधकार क्षण-भर भी नहीं टिक सकता।'

मूल्य : ५००.०० रुपये

स्वामी श्रद्धानन्द

[जीवनी]

श्री स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द

पं० सत्यदेव विद्यालंकार

प्रकाशक

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र

कनखल, हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द (जीवनी)

संस्करण : १९९५

आवरण : प्रशांत

प्रकाशक

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
कनखल, हरिद्वार (उ० प्र०)

मुद्रक

हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

माता के पवित्र चरणों में

पुरोवाक्

गुरुकुल विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद के सभी सदस्यों की यह इच्छा थी कि कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज की जीवनी प्रकाशित हो। श्रद्धेय स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती ने गुरुकुल के प्रख्यात स्नातक तथा हिन्दी पत्रकारिता के सुमेरु पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा लिखित 'स्वामी श्रद्धानन्द' पुस्तक को इस संदर्भ में पुनः प्रकाशित किए जाने का प्रस्ताव रखा जो सर्वसम्मति से अनुमोदित हुआ। स्वामीजी पर उन्हीं के पट्ट शिष्य द्वारा लिखित पुस्तक सर्वाधिक प्रामाणिक हो सकती है, यह सोचकर हम इस कृति को पुनर्मुद्रित कर रहे हैं। मैं इस कृति को स्वामी जी पर लिखी गई पुस्तकों में मील का पत्थर मानता हूँ। यह कार्य पूरा ही न होता यदि श्री मूलचन्द गुप्त प्रधान आर्यसमाज दीवान हाल, दिल्ली अपने संकलन से पुस्तक की प्रति उपलब्ध न कराते। इस अवसर पर मैं श्री मूलचन्दजी को विशेष धन्यवाद देता हूँ।

आर्यजगत् में अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द का नाम और कार्य बड़े सम्मान के साथ स्मरण किया जाता है। उन्होंने आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के कार्य को आगे बढ़ाया, उनके विचारों को क्रियान्वित किया तथा उनके उद्देश्यों को जन-जन तक पहुँचाया। उन्होंने स्वयं को कल्याण मार्ग का पथिक बनाया, जो महर्षि दयानन्द के दिव्य जीवन से प्रेरणा लेकर समस्त विश्व के कल्याण के लिए निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ता रहा। वह एक साधारण पुरुष से महापुरुष बना। वह व्यष्टि से ऊपर उठकर समष्टि में लीन हो गया। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामीजी की इसी प्रेरणादायक यात्रा का रोचक तथा प्रेरक वृत्तान्त देखने को मिलता है। भारतीयता, भारतीय अस्मिता, भारतीय संस्कृति की संरक्षा तथा प्राचीन-नवीन का अद्भुत समन्वय उनके जीवन का सार है। राष्ट्रोत्थान की बलिवेदी पर समर्पित हो जाने वाले उस युग-पुरुष की शब्दमयी झांकी से आज का हिन्दुस्तान अपने वर्तमान तथा अनागत को उज्ज्वल

बनाएगा । स्वामी जी ने अपने लिए कुछ न लेकर मानव जाति के कल्याण के लिए सर्वमेध यज्ञ किया था । वैदिक शिक्षा, नारी शिक्षा, दलितोद्धार, शुद्धि आन्दोलन, स्वाधीनता आन्दोलन, आर्यसमाज का संगठन, राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए आजीवन निष्काम कार्य करते रहे । उन्होंने जो कुछ किया, उतना उस युग के किसी अन्य महापुरुष ने शायद ही किया हो । जो सोचते हैं कि वे किसी एक सम्प्रदाय के लिए सोचते थे, वे साम्प्रदायिक भावना से परिपूर्ण थे, वे गलती पर हैं । स्वामीजी महाराज इन क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठ चुके थे । वे कर्म, अकर्म और विकर्म का भेद जानते थे । उनके विचार उदार थे । उनका हृदय विशाल था । उनकी विनम्रता, निर्भीकता, बलिदानी भावना तथा सुदृढ़ता उनके जीवन का शृंगार थी । वे मनुजता का मान थे, शूरता की शान थे, ऋषियों की आनबान थे, आर्ष चेतना की पहचान थे और थे भारतभारती के अभिमान ।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र ने स्वामीजी की इतिहास सिद्ध जीवनी के प्रकाशन का निर्णय लेकर पुण्य कार्य किया है । स्वामी श्रद्धानन्दजी का यह मंगलप्रद जीवन-चरित पाठकों के अन्तःकलमष को धो डालेगा; उन्हें उदात्त जीवन शिखर की ओर बढ़ चलने की प्रेरणा देगा तथा सार्वजनिक जीवन-क्षेत्र में सदाचार, संगठन, सहिष्णुता, मानवता तथा आत्मबलिदान का मार्ग दिखाएगा ।

मैं इस कृति के प्रकाशन पर अत्यधिक प्रसन्न हूँ तथा आशा करता हूँ कि सामयिक समस्याओं का निदान ढूंढ़ते हुए प्रत्येक राष्ट्रभक्त नवयुवक और नवयुवती के सामने यह कृति आलोक पुंज की तरह विद्यमान रहेगी । स्वामीजी के कर्तृत्व के पुनर्मूल्यांकन के लिए भी यह आधारभूत सामग्री का कार्य करेगी । इतिहासवेत्ताओं को स्वामीजी की प्रासंगिकता परि-भाषित करनी है । हमने इस कृति के प्रकाशन द्वारा चिन्तन-गंगा का मूलस्रोत उद्घाटित किया है ।

(डॉ०) धर्मपाल आर्य

१४.३.८५

कुलपति

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

स्वामी श्रद्धानन्द और हिन्दी जागरण

श्री सत्यदेव विद्यालंकार द्वारा प्रणीत 'स्वामी श्रद्धानन्द' पुस्तक भारत के महान् निर्माता की प्रेरक और प्रामाणिक जीवनी है। यद्यपि स्वामीजी ने 'कल्याणमार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी थी, तथापि श्री सत्यदेव जी ने उसे कलात्मक जीवनी का रूप देते हुए इस कृति की रचना की। रूपक की भाषा में कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि श्री सत्यदेवजी भगीरथ हैं जिन्होंने कल्याणमार्ग के पथिक रूपी ब्रह्मकमंडल में सुरक्षित जीवनीगंगा को सर्वजन हिताय वैचारिक भूमि पर प्रशस्त तथा प्रथित रूप में अवतरित कराकर लेखन की भूमि को उर्वरा बनाया। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'मेरे पिता', श्री विष्णु प्रभाकर तथा विष्णुदत्त राकेश ने 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' तथा डॉ० धर्मपाल आर्य ने 'एकता के सूत्र-धार' लिखकर संस्मरण तथा जीवनी शैली को पुष्ट किया। डॉ० निरूपण विद्यालंकार तथा डॉ० विनोद विद्यालंकार ने 'स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व' ग्रन्थ का सम्पादन कर स्वामी जी के जीवन पर संदर्भ सामग्री प्रस्तुत की। कालक्रम की दृष्टि से पण्डित सत्यदेव जी की पुस्तक इन प्रयत्नों में सर्वप्रथम कही जा सकती है। स्वामी जी के बलिदान के ठीक सात वर्ष बाद १९३३ में इस कृति का प्रकाशन हुआ। इन्द्र जी की पुस्तक 'मेरे पिता' १९५७ में प्रकाशित हुई। अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी जी की आत्मकथा के बाद उन तथ्यों तथा घटनाओं का इस कृति में सत्यदेव जी ने उल्लेख किया है जिनका उल्लेख आत्मकथा में नहीं हो सका था।

सत्यदेव विद्यालंकार १९२० में गुरुकुल के स्नातक बने। पत्रकारिता को अपना लक्ष्य बनाकर उन्होंने सार्वजनिक जीवन क्षेत्र में पदार्पण किया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण वह १९२०, १९३० तथा १९३२ में जेल गए। वह उत्तम कोटि के लेखक तथा सुवक्ता

थे। उनके अग्रज मित्रों में आचार्य अभयदेव, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार तथा डॉ० सत्यव्रत विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं जो उनसे एक वर्ष पूर्व स्नातक बने थे। दिल्ली से निकलने वाले 'विजय' पत्र के सम्पादन के साथ उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में पग रखा। दैनिक हिन्दुस्तान तथा दैनिक नवभारत के वह संस्थापक सम्पादक थे। राजस्थान केसरी, मारवाड़ी, प्रणवीर, नवयुग, स्वतन्त्र, विश्वमित्र तथा अमर भारत का भी उन्होंने सम्पादन किया। नागपुर, कलकत्ता, दिल्ली तथा उज्जैन-इन्दौर में रहकर पत्रों का सम्पादन करते हुए उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता के दिग्विजयी रथ को सफलतापूर्वक संचालित किया। इसके अतिरिक्त लेखक के रूप में भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। गाँधीजी का मुकदमा, दयानन्द दर्शन, श्रद्धानन्द, लाला देवराज तथा महाशय कृष्ण की जीवनी उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं। पण्डित सत्यदेवजी को आर्यसमाज तथा सनातन धर्म के समाज-सुधारक महानुभाव समान रूप से आदर देते थे। प्रसिद्ध सनातन-धर्मी नेता गोस्वामी गणेशदत्त ने अपने पत्र 'अमर भारत दैनिक' का सम्पादक सत्यदेव जी को ही बनाया था। दयानन्द के राष्ट्रवाद के वह प्रामाणिक व्याख्याता थे।

पण्डित सत्यदेव स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रमुख शिष्य थे। सद्धर्म-प्रचारक तथा श्रद्धा का सम्पादन उन्होंने स्वामी जी के चरणों में बैठ कर संयुक्त रूप से किया था। पंजाब सरकार द्वारा उन्हें 'जय साहित्य' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया गया। पण्डित जी का निधन ६८ वर्ष की अवस्था में २५ जून, १९६५ को हुआ। इस अवसर पर पण्डितजी का सादर स्मरण करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है।

यह लिखते हुए परम हर्ष हो रहा है कि पण्डित सत्यदेव जी की पुस्तक 'स्वामी श्रद्धानन्द' का पुनर्मुद्रण गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र से हो रहा है। इस पुस्तक से भारत की नई पीढ़ी को नव-निर्माण की प्रेरणा मिलेगी तथा मिलेगी वह मणिप्रभा, जिसके अव्याहत आलोक में निराशा का अंधकार क्षण-भर नहीं टिक सकता।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति और तदनुसार चलने

वाले विश्वविद्यालयों को चुनौती देने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की नींव डाली। राष्ट्रभक्त और चरित्रवान नवयुवकों के निर्माण के लिए उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना की। महर्षि दयानन्द ने यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का रूप देने का उद्योग किया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के मंच से यह आवाज उठाई कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। स्वामी जी स्वप्नों की दुनिया में विचरने वाले हवाई व्यक्ति नहीं थे। वह जननेता तथा धरती से जुड़े हुए महामानव थे, दृढ़ संकल्पों को मूर्त करने वाली शक्ति थे तथा भविष्य को चीर कर देखने वाली अन्तर्दृष्टि के धनी विचारक थे। गुरुकुल काँगड़ी उनके विचारों के क्रियात्मक परीक्षण की प्रयोगशाला थी। दीनबन्धु एन्ड्रूज जब शान्ति निकेतन से लौटकर स्वामी जी से मिले और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के काव्य-कानन में कूजने वाले छात्र कोकिलों की चर्चा की तो स्वामी जी ने कहा था — 'गुरुदेव के आश्रम में विद्यार्थी कविता गाते हैं और गुरुकुल में विद्यार्थी कविता जीते हैं।'

स्वामी जी प्राच्य विद्याओं के उन्नयन के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान किए जाने के प्रबल समर्थक थे। जहाँ उन्होंने वेद, संस्कृत, दर्शन, तुलनात्मक धर्म तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व को अध्ययन का विषय बनाकर प्राचीन की रक्षा की, वहाँ विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था कर एक नए युग का प्रारम्भ भी किया। गुरुकुल भारतीय विश्वविद्यालयों में पहला विश्वविद्यालय है जहाँ विज्ञान का अध्यापन हिन्दी माध्यम से शुरू हुआ। आज जब तकनीकी शब्दावली के निर्माण में देश ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर ली है तब भी विश्वविद्यालयों में हिन्दी में विज्ञान-अध्यापन तथा लेखन के काम को दुरूह माना जाता है। तब १९०८ के युग में विज्ञान की पढ़ाई हिन्दी में हो, यह संकल्प कितना कठिन रहा होगा। उस समय वैज्ञानिक शब्दावली का हिन्दी गठन कल्पनातीत कार्य था। स्वामी जी ने अपनी उत्कट राष्ट्रभक्ति, आत्मगौरव तथा प्रबल इच्छा शक्ति से इस असंभव कार्य को भी संभव कर दिखा दिया। उनकी प्रेरणा से गुरुकुल के अध्यापक श्री गोवर्धन शास्त्री ने भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान पर हिन्दी में पुस्तकें लिखीं।

अमेरिका से उच्च शिक्षा प्राप्त कर लौटे वैज्ञानिक श्री महेश चरण सिन्हा ने वनस्पति शास्त्र पर पुस्तक लिखी। बाद में तो आचार्य रामदेव, चन्द्रगुप्त वेदालंकार, जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा अत्रिदेव विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, चिकित्साशास्त्र जैसे विषयों पर हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रन्थों का लेखन किया। आचार्य रामदेव जी द्वारा सम्पादित 'वैदिक मैगजीन' पत्रिका के प्रशंसकों में महात्मा गाँधी, लियो टालस्टाय तथा योगिराज अरविन्द के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के माध्यम से उच्च से उच्च विषय की शिक्षा सुगमता से दी जा सकती है, यह प्रमाणित कर उन्होंने देशी भाषाओं को पराधीन भारत में वह प्रतिष्ठा दिलाई जिसकी ओर गाँधीजी, विनोबा भावे, काका कालेलकर तथा जाकिर हुसेन इशारा करते रहे। तभी तो तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था— 'मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है।' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की अत्याधुनिकता पर इंगित करते हुए गाँधीजी ने महामना मालवीय जी से कहा था—'गंगा के किनारे हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो बनारस में गंगा के किनारे बैठाकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं?'

(३ मई, १९१३ के सद्धर्म-प्रचारक में स्वामी जी ने संयुक्त प्रान्त के भूतपूर्व लॉर्ड सर एंटनी मैकडोनल्ड को ससम्मान स्मरण किया था, जिनके सहयोग से आर्यभाषा हिन्दी तथा देवनागरी अक्षरों को न्यायालय में कुछ स्थान मिला था। इतना होने पर भी न्यायालय के अहलकार उर्दू में ही कार्य करने को बढ़ावा दे रहे थे। स्वामी जी ने इस पर अपने पत्र में टिप्पणी लिखी—'यदि संयुक्त प्रान्त के विविध स्थानों से इस प्रकार से सरकारी पत्र मेरे पास पहुँच जाएँ जिनमें आर्यभाषा तथा देवनागरी लिपि के साथ निर्दयता का वर्ताव किया गया हो तो मैं इस विषय को इस प्रान्त की कानूनी कौंसिल में पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे यह देखकर बड़ा शोक होता है कि बेचारी देवनागरी जिन भारतभूषणों को अपना एक-

मात्र सहारा समझती है उनकी सहानुभूति अपनी मातृभाषा के साथ कथन मात्र ही प्रतीत होती है ।'

इस उद्धरण से सहज ही समझा जा सकता है कि न्यायालयों में हिन्दी में कामकाज कराने में वह अत्यन्त उत्सुक थे । न्यायालय का कार्य उस भाषा में होना चाहिए, जिस भाषा को न्याय चाहने वाला अच्छी तरह समझता हो । उनके इस कार्य में बाबू मदनमोहन जज, पण्डित विष्णु-लाल शर्मा जज तथा बाबू मुसद्दीलाल जज ने भरपूर सहयोग दिया ।

स्वामी जी ने १८८६ में सद्धर्म-प्रचारक उर्दू में निकालकर पंजाब में उर्दू के गढ़ में संस्कृत और संस्कृति की नींव लगाई । ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उग्र वातावरण का निर्माण किया । जब मराठी केसरी का हिन्दी संस्करण १६०७ में प्रकाशित हुआ तब स्वामी जी ने घाटा सहकर भी सद्धर्म-प्रचारक को १६०७ से ही हिन्दी में निकालना शुरू किया । दोहरा मापदण्ड स्वामी जी के जीवन से कोसों दूर था । इस पत्र में धर्म, शिक्षा, राजनीति, समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय समस्याओं पर भरपूर सामग्री रहती थी । गाँधी जी के अफ्रीका सत्याग्रह तथा लोकमान्य तिलक के निर्वासन पर की गई बेबाक तथा निर्भय टिप्पणियों से यह पत्र सरकार की आँख की किरकिरी बन गया । उनके पुत्र इन्द्र विद्यावाचस्पति ने १६१२ में दिल्ली से इसी तेवर का 'विजय' नामक हिन्दी साप्ताहिक निकाला । १६१८ में इसे दैनिक कर दिया गया । १६२० में स्वामी जी ने गुरुकुल से 'श्रद्धा' नामक पत्रिका निकाली । 'श्रद्धा' का महत्त्व इसलिए भी हो सकता है कि इसमें हिन्दी और राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति विषयक अनेक लेख प्रकाशित हुए । आचार्य पद्म सिंह शर्मा तथा पण्डित रुद्रदत्त शर्मा को 'सत्यवादी' के प्रकाशन-सम्पादन में स्वामी जी से भरपूर सहायता मिली । यह बात १६०४ की है ।

स्वामी जी वृहत्तर भारत के गौरव को प्रकट कर भारतीय नवयुवकों में आत्मगौरव जगाना चाहते थे । उनके शिष्य चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने इस विषय पर सर्वप्रथम हिन्दी में ग्रन्थ लिखकर उनकी यह साध पूरी की । प्रचार की दृष्टि से उनके शिष्यों तथा अनेक आर्य-प्रचारकों ने भारत से बाहर जाकर हिन्दी-सेवा की । स्वामी जी की प्रेरणा से गोपाल नारायण

पथिक फीजी पहुँचे। पथिक जी ने वहाँ प्रवासी भारतीयों में हिन्दी प्रचार का कार्य किया। उन्हीं की प्रेरणा से फीजी के युवक-युवतियाँ भारत में पढ़ने के लिए आए। स्वामी राम मनोहरानन्द ने १९१९ में वहाँ जाकर गुरुकुल की स्थापना की। भवानी दयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी-प्रचार का कार्य स्वामी जी की प्रेरणा से किया। गुरुकुल के यशस्वी स्नातक अमीचन्द्र विद्यालंकार के कार्य को भी भुलाया नहीं जा सकता। मारिशस में हिन्दी-प्रचार की पृष्ठभूमि में भी आर्यसमाज की प्रमुख भूमिका रही है।

स्वामी जी ने आत्मकथा, संस्मरण तथा जीवनी विधा पर 'कल्याण-मार्ग का पथिक', 'बंदीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'आर्य पथिक लेखराम' पुस्तकें लिखकर आत्मकथाकार, संस्मरणकार तथा जीवनीकार का सफल विरुद पाया। यही कारण है कि १९१३ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन भागलपुर का उन्हें प्रधान बनाया गया। हिन्दी क सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० श्यामसुन्दर दास ने स्वामी जी के स्वागत में जो शब्द कहे थे, उनसे स्वामी जी के महिम व्यक्तित्व पर गहरा प्रकाश पड़ता है। हिन्दी के प्रारम्भिक निर्माताओं में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ स्वामी जी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

स्वामी जी ऐसे विचारक और पथदर्शक थे, जिन्होंने रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर चोट करते हुए सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष किया; धर्म, संस्कृति और जीवन दर्शन की वैज्ञानिक व्याख्या की; एक साथ सबके उठकर खड़े होने तथा चलने की प्रेरणा दी; अपने आत्मगौरव को पहचानने का अवसर दिलाया तथा समान शिक्षा के लिए समान अवसर और व्यवस्था का विधान कर पीढ़ियों के निर्माण की प्रयोगशाला गुरुकुल के रूप में स्थापित की। स्थापना क्या, शिक्षा के क्षेत्र में युगान्तर ही उपस्थित कर दिया। अछूतों के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्होंने जो कुछ किया, वह उस समय तक किसी ने नहीं किया था, कांग्रेस ने भी नहीं।

पण्डित सत्यदेव जी की यह कृति उसी महामानव के जीवन के विविध

प्रेरणादायक प्रसंगों तथा पहलुओं को उद्घाटित करती है । स्वामी जी के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। यदि हमारी नई पीढ़ी, इनके आलोक में अपना जीवन-पट बुन सकी तो निस्संदेह कल का उन्नत भारत उनका होगा तथा उनका रहेगा। स्वामी जी आधुनिक भारत के संस्कृति-निर्माता थे ।

अस्तु, इस कृति के प्रकाशन में रुचि लेकर कुलाधिपति श्री सूर्यदेव, परिद्रष्टा न्यायमूर्ति श्री महावीर सिंह, कुलपति डॉ० धर्मपाल आर्य, कुलसचिव डॉ० जयदेव वेदालंकार, उपकुलपति प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्त ने जो सहायता की है, उसके लिए हम चिरकृतज्ञ हैं । डॉ० जगदीश विद्यालंकार ने भाग-दौड़ कर ग्रन्थ को मुद्रित करवा कर आपके हाथों में पहुँचाया, इसके लिए उन्हें साधुवाद ।

इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण कर विश्वविद्यालय आचार्य-ऋण से कुछ अंशों में उऋण हुआ है, इस विनम्र विश्वास के साथ यह पुस्तक आपके हाथों में सप्रेम समर्पित है ।

१३.३.१९९५

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
अध्यक्ष, मानविकी संकाय तथा निदेशक
स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ०प्र०)
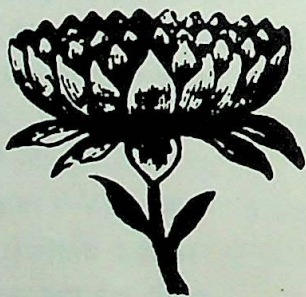
* दो शब्द *

देर से इच्छा थी कि अपने जन्म और दीक्षा के गुरु स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी का विस्तृत जीवन-चरित्र जनता की भेंट रख सकूं। आवश्यक सामग्री एकत्र कर ली, कई बार उसे आरम्भ किया, परन्तु दो कदम आगे भी न चल सका। तरह तरह की बाधाओं ने रास्ता रोक रखा। यह भी विचार आता रहा कि शायद मैं अपने को पक्षपात से ऊँचा उठाने में समर्थ न हो सकूं। तब यही सोचा कि इस कार्य को किसी दूसरे महानुभाव के हाथों में सौंप दूं। श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार में गुरु का जीवन-लिखने के योग्य भक्ति और शक्ति दोनों ही वस्तुयें दिखाई दीं। मैंने सब सामग्री उन को सौंप दी। विद्यालङ्कार जी ने जिस परिश्रम और तत्परता से उस कार्य को किया है, पुस्तक के पृष्ठ उस की गवाही दे रहे हैं। पुस्तक प्रेम और निर्भयता से लिखी गई है। आशा है, प्रेमी पाठक उसे पढ़ कर सन्तुष्ट होंगे।

—इन्द्र।
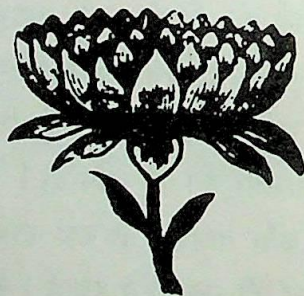
* भूमिका *

श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण-अर्ध-शताब्दी के अवसर पर उस ऋषि के मिशन की पूर्ति के लिये ही उसके चरणों में सर्वस्व न्यौछावर करने वाले महापुरुष की जीवनी से अधिक सुन्दर भेंट और क्या हो सकती है ? जो अपने महान् बलिदान द्वारा सुदीर्घ जीवन की अपेक्षा भी कहीं अधिक काम कर गया, उसकी अमर-जीवन-कहानी से अधिक बढ़िया और क्या वस्तु, इस समय, जनता की सेवा में उपस्थित की जा सकती है ? लेखक अपने को धन्य मानता है कि उसको अपने आचार्य की यह जीवनी इस संस्मरणीय ऐतिहासिक अवसर पर उपस्थित करने का वह अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, जिसकी कि वह कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। गुरुकुल का कौन स्नातक इस जन्म में अपने दिवंगत आचार्य के उपकारों को भूल सकता है ? निरन्तर चौदह वर्ष तक एक प्रकार से उनकी गोद में ही खेलते हुए जिस मातृ-पितृ-ऋषि ऋण से हम स्नातक ऋणी हैं, उससे उऋण होना सम्भव नहीं है। इस लेखक पर वह ऋण एक दूसरे नाते से और भी अधिक है। लेखक के स्वर्गीय नाना जी कट्टर आर्यसमाजी थे। उस नाते से उसके माता-पिता का शुभ-विवाह उन विवाहों में से था, जो आर्यसमाज की वैदिक-पद्धति से, जालन्धर-आर्यसमाज के शुरू के दिनों में, महात्मा मुन्शीराम जी द्वारा ही सम्पन्न कराया गया

था। लेखक को इस शुभ-घटना का पता बहुत दिनों बाद—गुरुकुल से स्नातक होने के भी कुछ समय बाद—लगा था। पर, उस दिन से उसके हृदय में कुछ विचित्र-सी भावना काम कर रही थी। उसमें आचार्य के प्रति विशेष कृतज्ञता का भाव ही अधिक था। आचार्य की इस जीवनी के द्वारा अपनी कृतज्ञता को मूर्त्तरूप देने का यह दुष्प्राप्य सुयोग अनायास ही प्राप्त होने पर, उसको कुछ थोड़ा-सा सन्तोष अवश्य हुआ है।

आर्यसमाज के लिये गौरव-स्वरूप महापुरुष की प्रामाणिक, विस्तृत और शृङ्खलाबद्ध जीवनी के लिये आर्यसमाज में तो सम्भवतः कोई विशेष चर्चा नहीं थी; किन्तु गुरुकुल के स्नातकों में उसके लिये विशेष आन्दोलन अवश्य था। सूपा-गुरुकुल के अध्यापक श्री शंकरदेवजी विद्यालंकार ने 'आर्य' और 'ज्योति' में 'अमर शहीद की अमर कथा कौन लिखेगा ?' शीर्षक से लिखे गये लेखों द्वारा उसके लिये कुछ आन्दोलन सार्वजनिक तौर पर भी किया था। श्री० रामगोपालजी विद्यालंकार ने 'वीर सन्यासी श्रद्धानन्द' नाम से एक सुन्दर पर संक्षिप्त जीवनी लिखी भी थी। उसके प्रकाशक उसको जल्दी ही प्रकाशित करने पर तुले हुए थे, इस लिये सब सामग्री एकत्रित कर कुछ खोज करने का उनको अवसर नहीं मिला था। प्रो० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति भी उसके लिये लग कर उद्योग करना चाहते थे, पर उनको देश के राजनीतिक-आन्दोलन से फुर्सत कहां थी ? दूसरे कुछ स्नातकों को भी उन्होंने इसके लिये प्रेरित किया था। कुछ ने इस काम

को हाथ में लिया भी, पर कोई न कोई ऐसी अड़चनें आती रहीं कि उस काम का आरम्भ ही न हो सका। अन्य स्नातक-भाइयों की तरह अपने आचार्य की प्रामाणिक और विस्तृत जीवनी की आवश्यकता को अनुभव करते हुए भी लेखक यह कभी ख़याल में भी नहीं ला सकता था कि गुरुकुल से स्नातक होने के बाद असहयोग-आन्दोलन की घोषणा के पहिले दिन, १ अगस्त सन् १९२०, से ही कांग्रेस के जेल-आन्दोलन में निरन्तर लगे रहने पर भी, उसको इस महान् कार्य के सम्पादन करने का सुयोग प्राप्त होगा। कलकत्ता से जेल से छूटकर देहली आने पर प्रो० इन्द्रजी विद्यावाचस्पति ने इसके लिये प्रेरित किया। यह जीवनी उनकी ही शुभ प्रेरणा का परिणाम है। विचार तो इसको गुरुकुल के गत वार्षिकोत्सव पर ही प्रकाशित करने का था, किन्तु उस समय यत्न करने पर भी वैसा न हो सका। देवी सुभद्रा के १५ मास बाद जेल से छूटने पर लेखक उनको लाने के लिये कलकत्ता गया। पहिले तो स्वयं ही कुछ दिन और जेल में काटने पड़े। फिर देवी सुभद्रा के स्वास्थ्य के जेल में एक दम गिर जाने पर दो-तीन महीने कलकत्ता में ही उनके औषधोपचार के लिये रुक जाना पड़ा। जुलाई में कलकत्ता से लौट कर फिर काम को हाथ में लिया तो देखा कि पीछे व्यवस्थित किये हुए कागज़-पत्र पुलिस की कृपा से तलाशी में सब ढेर कर दिये गये थे। फिर उनको नये सिरे से सम्हाला गया और अर्द्ध-शताब्दी पर जीवनी प्रकाशित करने के लिये रात-दिन एक किये गये।

इतिहास के समान ही जीवनी के लिये की जाने वाली खोज का भी कोई अन्त नहीं है और इस जीवनी के लिये भी आवश्यक-सामग्री अभी बहुत अधिक इकट्ठी की जा सकती है, किन्तु लेखक को इतना सन्तोष है कि प्राप्त-सामग्री का उसने पूरा सदुपयोग किया है और कोई चालीस हज़ार पन्नों की उसने इसके लिये छान-बीन की है। विचार यह था कि जीवनी को पांच-सौ पृष्ठों से अधिक बढ़ने न दिया जाय। पर, साढे छः सौ पृष्ठ हो जाने पर भी उसमें अभी बहुत कमी अनुभव हो रही है। उस कमी को पुस्तक का आकार बढ़ाये बिना पूरा करना सम्भव नहीं था। यदि इस संस्करण का योग्य स्वागत हुआ, तो सम्भव है वह कमी दूसरे संस्करण में पूरी की जा सके। वैसे यह काम एक या दो व्यक्तियों के करने का नहीं था। जालन्धर-आर्य-समाज, पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा, गुरुकुल-कांगड़ी और आर्य-सार्वदेशिक-सभा पर स्वामी जी का जो उपकार और ऋण है, उसको देखते हुए उनमें से ही किसी संस्था को यह काम करना चाहिये था। अच्छा तो यह होता कि गुरुकुल की ओर से दो-एक योग्य स्नातकों पर गुरुकुल में ही बैठ कर उसके लिखने का काम डाला जाता और पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा अथवा आर्य-सार्वदेशिक-सभा मिल कर अथवा दोनों में से कोई एक आर्थिक-भार की सब जिम्मेवारी अपने ऊपर लेती। इस यत्न में कमी या त्रुटि अनुभव करने वालों के लिये अब भी समय है कि आगे बढ़ें और उसको पूरा करने का यत्न करें।

जीवनी के कुछ हिस्से, सम्भव है, कुछ सज्जनों के लिये कटु और कठोर हो गये हों; सचाई को छिपाये बिना उनको सरल तथा प्रिय बनाना सम्भव नहीं था। इतिहास और जीवनी लिखने का काम इसी से अप्रिय और अरुचिकर भी है।

इस जीवनी के पहिले कुछ भाग तो एक प्रकार से चरित्र-नायक की लेखनी से "कल्याण मार्ग का पथिक" नाम से लिखे गये आत्म-चरित की ही छाया हैं। आत्म-चरित को जीवनी का रूप देने के लिये ही उनमें आवश्यक परिवर्तन किया गया है। जीवनी के लिखने की सम्पूर्ण जिम्मेवारी लेखक पर है। उसके लिये किसी दूसरे को जिम्मेवार ठहराना अनुचित और अन्याय होगा। भाई श्री मुकुटबिहारी जी ने हस्तलिखित कापी को पढ़ने और पंडित अयोध्याप्रसाद जी ने उर्दू-लेखों से सामग्री इकट्ठा करने में जो सहायता की है, उसके लिये लेखक आप दोनों का अनुगृहीत है।

मराठी में श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर द्वारा लिखित भगवान् तिलक के चरित्र के दो विशाल-खण्ड तथा अन्य लेखकों द्वारा उनके लेखों तथा संस्मरणों का किया हुआ दिव्य-संग्रह पढ़ कर, श्री पृथ्वीश्चन्द्र राय महोदय की देशबन्धु दास के सम्बन्ध में 'सी० आर० दास एण्ड हिज टाइम्स' नाम का

अद्भुत ग्रन्थ देख कर और स्वामी रामतीर्थ, परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द, राममोहन राय, टैगोर, गोखले आदि के लेखों तथा जीवनियों पर होते हुए सराहनीय कार्य का परिचय प्राप्त कर— और आर्यसमाज में आर्यसमाज के विधाताओं—प० गुरुदत्त, प० लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि—के सम्बन्ध में पूर्ण शान्तिपाठ होता हुआ देख कर यही कहना पड़ता है कि आर्य-समाज में ऐसा ठोस साहित्य उत्पन्न करने की अभी प्रवृत्ति ही पैदा नहीं हुई है। आगे आने वाली सन्तति में ज्ञान, उत्साह, स्फूर्ति एवं प्रेरणा पैदा करने के लिये ऐसे ठोस साहित्य की सब से अधिक आवश्यकता है। ऐसा साहित्य ही वीरपूजा का द्योतक है। जिस समाज अथवा जाति में अपने वीरों की पूजा, उनकी स्मृति की रक्षा और भावी सन्तति के सामने उनके आदर्श को उपस्थित करने का यत्न ही नहीं होता, वह किस बूते पर जीवित रहने की आशा रखता है? जीवन के लिये आवश्यक शक्ति के स्रोत को बन्द करके जीवित रहने की आशा रखना अथवा जीवन के लिये आवश्यक साधनों की खोज करना मृग-तृष्णा के समान है! आर्यसमाज की इस समय कुछ ऐसी ही अवस्था है। चिरस्थायी वीरपूजा की जो भावना बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात तथा मद्रास आदि प्रान्तों में है, आर्यसमाज में उसका अत्यन्ताभाव है। अपने विधाताओं की अर्चना के लिये आवश्यक चिरस्थायी वीरपूजा की ऐसी सामग्री के बिना आर्यसमाज के महोत्सवों की धूम-धाम धूप-दीप-नैवेद्य से खाली थाली हाथ में

ले मन्दिर में आरती उतारने के समान है । सिद्धांतों और वैदिक ऋचाओं के अनुसार जीवन ढालने वालों की जीवनियों के साहित्य के बिना केवल उन सिद्धान्तों और ऋचाओं को लेकर लिखा गया महान से महान् साहित्य भी प्राणशून्य देह और प्रकाशशून्य दीपक के समान है । टैगोर-स्मृति-ग्रन्थ, द्विवेदी-स्मृति-ग्रन्थ, ओझा-स्मृति-ग्रन्थ सरीखा कौन-सा उद्योग आर्यसमाज में हो रहा है ? अजमेर-शताब्द पर 'दयानन्द-स्मृति-ग्रन्थ' के लिये किया गया यत्न सराहनीय है, पर जो काम शताब्दी-कमेटी को सबसे पहिले हाथ में लेना चाहिये था, उसको सब के बाद हाथ में लेने से ऐसे साहित्य के सम्बन्ध में आर्यसमाज की मनोवृत्ति का पता लग जाता है । लेखक अपने कुछ स्नातक भाइयों के सहयोग से आचार्य श्रद्धानन्द जी का पत्र-व्यवहार, उनके चुने हुए लेख तथा उनके संस्मरण बड़े-बड़े तीन हिस्सों में प्रकाशित करने के लिये एक आयोजना तय्यार करना चाहता है, जिसमें वह वैश्यवृत्ति से नहीं, किन्तु ब्राह्मणवृत्ति से कुछ समय लगाने का भी विचार रखता हैं । इन पंक्तियों को पढ़ने और इस जीवनी को देखने के बाद यदि किसी सहृदय सज्जन के हृदय में उस आयोजना में कुछ सहयोग देने की भावना पैदा हो, तो वह लेखक के साथ नीचे के पते पर पत्र-व्यवहार करने की कृपा अवश्य करे । आर्यसमाज में वीरपूजा की चिरस्थायी साहित्य-सामग्री पैदा करने में सहयोग देना आपका कर्तव्य है । आशा है आप उसका पालन करेंगे । आपके उस कर्तव्य-पालन द्वारा ही

लेखक इस जीवनी के लिये किये गये अपने यत्न की सार्थकता का अनुमान लगायगा।

"अलंकार-वन्धु"
कटरा बड़ियां, देहली
गान्धी-जयन्ती,
२ अक्तूबर १९३३

—सत्यदेव विद्यालङ्कार

* विषय-सूची *

पहिला-भाग

दूसरा-भाग

तीसरा-भाग

वानप्रस्थ

चौथा-भाग

——:——

पहिला भाग

—:—

ब्रह्मचर्य

१. बृहस्पति, २. बाल्यावस्था, ३. शिक्षा का प्रारम्भ, ४. नियमित शिक्षा और स्वतन्त्र जीवन का आरम्भ, ५. स्वतन्त्र जीवन के दुष्परिणाम, ६. पतन का श्रीगणेश, ७. मथुरा में दस दिन

१. बृहस्पति

आर्यसमाज फलित ज्योतिष और उस के आधार पर बनाई जाने वाली जन्मपत्रियों को नहीं मानता, तो भी घुणाक्षर न्याय से जन्मपत्री तय्यार करने वाले पाधों (पण्डितों) की अटकल कभी-कभी बिलकुल ठीक बैठ जाती है। आर्य्यसमाज ही में नहीं, समस्त हिन्दूसमाज में नाम का बहुत महत्व है। इसीलिये माता पिता यदि पुराण मतावलम्बी हुए तो पाधों की जन्मपत्रियों के और आर्यसमाजी हुए तो 'संस्कार विधि' के अनुसार सन्तान का नाम रखना बहुत आवश्यक समझते हैं। 'यथा नाम तथा

गुण' की कहावत पर हिन्दू समाज का दृढ़ विश्वास है। हमारे चरित्रनायक मृत्युंजय स्वामी श्रद्धानन्द के माता-पिता कट्टर पुराण-मतावलम्बी थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने अपनी सन्तान का जन्म-नाम पाधे की जन्मपत्री के अनुसार 'बृहस्पति' रखा। 'बृहस्पति' नाम व्यवहार में कभी नहीं आया, किन्तु यह नाम चरित्रनायक की जीवनी के बिलकुल अनुरूप था, मानो पाधाजी ने मुन्शीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुए ही यह नाम रखा था। यह ठीक है कि आरम्भिक (१८८५ तक के) स्वच्छन्द जीवन को देखते हुए यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि आचार-विचार तथा आहार-व्यवहार में भी बे-लगाम दौड़ने वाले मुन्शीराम जी 'महात्मा' पद प्राप्त करेंगे, 'गुरुकुल विश्वविद्यालय' सरीखी संस्था की स्थापना कर के अठारह वर्ष तक उस के 'आचार्य' पद को सुशोभित करेंगे, जीवन के अन्तिम हिस्से में संन्यासाश्रम में प्रवेश करके न केवल हिन्दूसमाज प्रत्युत मनुष्यमात्र की दृष्टि में 'गुरुपद' पर प्रतिष्ठित होंगे और इस प्रकार जन्म-नाम 'बृहस्पति' को सार्थक करेंगे। परन्तु अपने चरित्र से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि अपने यौवन में भोग विलास का सुखी तथा सम्पन्न जीवन बिताने वाला व्यक्ति भी ब्रह्मचर्य का उद्धारक, महात्मा और संन्यासी बन सकता है, सरकारी नौकरी में पूर्ण ईमानदारी का जीवन

बिताने वाले पिता के घर में भी राजद्रोही पुत्र पैदा हो सकता है, संसार में नायब तहसीलदारी के लिबास में प्रवेश करने वाला भी सत्याग्रही बन कर न केवल जेल जा सकता है किन्तु नेताओं में भी अग्रणी हो सकता है, नास्तिकता की लहर में पूरी आजादी का निरंकुश जीवन बिताने वाला भी धर्म पर अपना तन-मन-धन सर्वस्व न्यौछावर कर सैकड़ों-हज़ारों के लिये धर्म की दृष्टि से भी मार्गदर्शक बन सकता है और यत्किंचित् प्रलोभन में फंस कर युवावस्था की एक लहर में बरसों की कमाई को एक घण्टे में डुबा देने वाला भी इन्द्र की माया तक को परास्त करने वाला संयमी, तपस्वी और दृढ़ व्रती हो सकता है। यही इस चरित्रनायक के जीवन का सार है। गहरे पतन के बाद इतना महान् उत्कर्ष जिस जीवन में है, वह वस्तुतः आशा का जीवन है और आदर्श जीवन है। ऐसा आदर्श जीवन ही राष्ट्र की भावी सन्तान में बलवती आशा का संचार कर उस को कर्त्तव्य-पथ की ओर अग्रसर कर सकता है। सार्वजनिक जीवन की कौन सी ऐसी दिशा है जिस में यह जीवन प्रकाश-स्तम्भ का काम नहीं दे सकता ? एक देशभक्त के लिये देहली के घण्टाघर के नीचे गुरखों की किरचों के सामने छाती ताने हुए स्वामी श्रद्धानन्द से बढ़ कर और कौन सा चित्र स्फूर्तिदायक होगा ? देहली की शाही मसजिद के मिम्बर से भाषण देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द से बढ़ कर और किसने हिन्दू मुसलमान दोनों

से एक-सा सम्मान प्राप्त किया है? सर्वत्र निराशा तथा आतङ्क छा जाने के बाद भी अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन को सम्भव बना देने वाले स्वामी श्रद्धानन्द किस निराश हृदय में आत्मविश्वास की स्फूर्ति पैदा नहीं कर सकते? जहां भी गये वहां ही सदा आगे रहने वाले और जिस काम को भी हाथ में लिया उस को ही पार लगाने वाले स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन तो क्या, उन के जीवन की कहानी भी, नवजीवन का जीवित सन्देश है। समाजों और राष्ट्रों का इतिहास ऐसी जीवन-कहानियों के संग्रह से ही बनता है। देश के हजारों युवक अपने आत्मत्याग तथा सर्वस्व बलिदान द्वारा भारतवर्ष के जिस नवीन इतिहास का निर्माण कर रहे हैं, यह जीवनी उस के कुछ पृष्ठ हैं। यह जीवनी ऐसे ही आत्मोत्सर्ग किंवा सर्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान की गौरवपूर्ण आख्यायिका है।

(उस अनुष्ठान द्वारा अमृत-पद को प्राप्त करने वाले मृत्युंजयी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का जन्म फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी सं० १९१३ वि० को जिला जालन्धर के ग्राम तलवन में एक ऐसे कुल में हुआ था जो अपने ही उद्योग से साधारण से असाधारण अवस्था को प्राप्त हुआ था।)

सतलुज और व्यासा की गोद में खेलने के कारण पंजाब-प्रान्त के दुआबा-प्रदेश को प्रकृति की कुछ विशेष कृपा प्राप्त है।

अन्न की पैदावार इस प्रदेश में इसीलिये कुछ अधिक होती है। इस प्रदेश के सर्वसाधारण भी अन्य प्रदेशवासियों की अपेक्षा कुछ अधिक सम्पन्न, सुखी और स्वस्थ हैं। इस दुआबा प्रदेश का मुख्य ज़िला जालन्धर है, जिसके मुख्य शहर का नाम भी जालन्धर ही है। यदि पौराणिक जनश्रुति को ठीक माना जाय तो यह शहर बहुत प्राचीन है। पुराणों में प्रसिद्ध "दैत्य-जलन्धर" की यही राजधानी थी, जहां कि वह मुरारि के हाथों मारा गया था। ज़िला जालन्धर की पूर्वी हद पर सतलुज के किनारे 'तलवन' एक कस्बा है। कभी यह बड़ा शहर था और जिले के प्रमुख शहरों में इस की गिनती होती थी। इसी उपनगर में वह कुल पिछली तीन चार पीढ़ी से आकर बसा था जिस में कि हमारे चरित्र-नायक का जन्म हुआ। पूर्व-जन्म के संस्कारों के साथ साथ वंश-परम्परागत-संस्कारों का सन्तान के सुधारने या बिगाड़ने में बड़ा स्थान है। इसलिये उस कुल की कुछ विशेषताओं का थोड़े में उल्लेख करना आवश्यक है।

भगवद्-भक्ति उस कुल की परम्परागत विभूति थी। उस विभूति से पैदा होने वाले सद्गुणों से भी यह कुल खाली नहीं था। वीरता, सज्जनता, निर्भयता और स्पष्टवादिता आदि सब गुण स्वामी जी को विरासत में मिले थे। उनके परदादा श्री सुखानन्द जी आनन्द की मूर्ति थे। उनके मुख पर सदा ही शान्ति बनी रहती थी और चित्त हर समय प्रसन्न रहता था। क्रोध

करना और गाली देना वे जानते ही नहीं थे। "सयाना" उनके मुंह से निकलने वाली सब से बड़ी गाली थी। इनके पाँच पुत्र थे, जिनके नाम थे:—कन्हैयालाल, हीरानन्द, माणिकचन्द्र, गुलाबराय और महताबराय। श्री कन्हैयालालजी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में कपूर्थला राज के प्रतिनिधि थे। दरबार में उनकी बात बहुत चलती थी। अपने ग्राम तलवन में उन्होंने एक शिवालय बनवा दिया था। उसमें श्री सुखानन्द जी दोनों समय बराबर पूजा किया करते थे। चरित्र-नायक के दादा श्री गुलाबराय जी को भी हरि-भक्ति की बड़ी लगन थी। बड़े सवेरे, ब्राह्म मुहूर्त्त में, उठ कर स्नान करके गीता आदि का पाठ करते और कबीर आदि भक्तों के शब्द गाया करते थे। कपूर्थला में वे रानी हीरादेवी के मुख़तार थे। महाराज नौनिहाल के गद्दी पर बैठने पर रानी हीरादेवी अपने पुत्रों, सरदार विक्रमसिंह और कुंवर सुचेतसिंह, के साथ जालन्धर आकर बस गईं। जालन्धर शहर में 'हीरामाई का बुआ' उनके ही नाम पर प्रसिद्ध है। श्री गुलाबराय जी महाराज के दबाव और प्रलोभन में नहीं फँसे। वे भी रानी हीरादेवी के साथ जालन्धर चले आये। सवेरे की प्रार्थना के बाद वह जब ऊँचे स्वर में भजन गाते तब महल में प्रायः सभी की नींद खुल जाती। एक दिन सरदार विक्रमसिंह ने कहा, "लाला जी! आप क्या परमेश्वर का नाम दिल में नहीं ले सकते?" लाला जी ने निर्भीक और स्पष्ट शब्दों में

उत्तर दिया, "मेरे मन में तो सदा ही परमात्मा बसते हैं, परन्तु जो मूर्ख भजन के अमृतवेला में भी बेहोश हुए सोये रहते हैं, उनको सचेत करने के लिये उच्च स्वर में भजन बोलता हूं।"

श्री गुलाबराय जी के छः सन्तान थीं। चरित्र-नायक के पिता का नाम नानकचन्द था। श्री नानकचन्द जी अपने पिता के सब से बड़े पुत्र थे। छुटपन से ही अपने पिता जी से शिव-पूजा की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके उसको १४ वर्ष की आयु में जो शुरू किया तो मृत्युपर्यन्त ५६ वर्ष की आयु तक बराबर निभाया। स्पष्टवादिता (मुंहफट) का गुण आप में अपने पिता जी की अपेक्षा भी कुछ अधिक ही था। इसी से आपको नौकरी के लिये बड़ी ठोकरें खानी पड़ीं। कपूर्थला में थानेदारी की, पर वजीर दानिश्मन्द से कुछ कड़ी बातचीत होने पर त्यागपत्र दे दिया। सियालकोट में फौजदारी में खजांची का काम किया। वहां भी अंग्रेज हाकिम से नहीं बनी। उसके बाद अमृतसर की तहसील में मुहाफ़िज़-दफ़्तर हुए। तहसीलदारी के पद पर शोभाराम लंगड़ा काम करता था। उस पर घूस का मामला चला। तहसील के सब आदमी नौकरी से हटा दिये गये। पर आपके विरुद्ध कोई भी शिकायत सुनने में नहीं आई। फिर भी आप खिन्न हो नौकरी छोड़ कर घर चले आये और पूजा-पाठ में ही अपना सब समय बिताने लगे। घर आकर आपने अलग रहना पसन्द किया। घर से नकद कुछ न लेकर केवल एक दालान और एक

कोठरी ले ली। उसी में सपरिवार रहने लगे। कुछ दिन बाद लाहौर जाकर चौकीदारों के बख्शी नियत हो कर फिर नौकरी शुरू की। पर, वहां वेतन बहुत कम था और इधर बड़ी लड़की प्रेमदेवी के विवाह का अवसर भी सिर पर आ गया। परिवार का गुज़ारा चलाते हुए अपनी आमदनी से विवाह का भारी खर्च सम्हालना कठिन था। घटनाचक्र का कुछ ऐसा परिणाम हुआ कि श्री नानकचन्द जी को भी सम्वत् १९१४ (सन १८५७) के विप्लव में अन्य अनेक देशवासियों की तरह देश को पराधीन करने वाले अंग्रेजों की सेवा या सहायता का ऐसा अवसर हाथ लग गया कि उनकी सोयी हुई क़िस्मत जाग उठी। घर-गृहस्थी के झंझट से तंग आकर आपने देहली जाने का निश्चय किया और एक काने टट्टू पर सवार हो लिये। हिसार में ठीक उस दिन पहुंचे, जिस दिन विप्लवियों ने शहर पर चढ़ाई करने की ठानी हुई थी। एक सिख-सरदार की बहादुरी से हिसार की मुठभेड़ में गोरों की जीत हुई। श्री नानकचन्द जी ने एक चौधरी के घर में ब्रह्मभोज के लिये बना-बनाया सामान गोरी फौज के लिये लेकर उसके भोजन का आशातीत प्रबन्ध अनायास ही कर दिया। इसी शुभ कार्य के पुरस्कार-स्वरूप आपको हिसार का कोतवाल नियुक्त किया गया और विद्रोहियों को फांसी पर लटकाने का काम भी आपको ही सौंपा गया। यहां आपने 'ऊपर की कमाई' से बहुत-सा धन जमा किया। पुत्री के विवाह के लिये

पर्याप्त धन जोड़ने के अलावा एक छोटी-सी घुड़सवार फौज भी खड़ी कर ली। अपने परिवार के २५ व्यक्तियों को अफसर नियत कर जाटों को फौज में भरती किया। इस फौज के साथ मेरठ आकर रिसालदार नियत हो गये। रिसालदार हो कर आपने पहला 'शुभ काम' यह किया कि तीन महीने लगा कर सहारनपुर जिले को हथियारों से खाली कर दिया। उसके बाद ही नैपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई हुई। वहाँ आप रिसाले के साथ गये और विजयी हो कर बांस-बरेली लौटे। सम्वत् १९१४ के विप्लव में अंगरेजों की पूरी जीत हो चुकी थी। विजय के बाद शासन को सुव्यस्थित रूप में चलाने का काम शुरू हुआ। इस लिये फौज को तोड़ कर पुलिस की भरती होने लगी। श्री नानकचन्द जी की सेवा अथवा सहायता को असाधारण समझा गया, जिसके पुरस्कार में आपको १२०० बीघा जमीन, नहीं तो पुलिस इन्स्पेक्टर की नौकरी, लेने के लिये कहा गया। हिसार की कोतवाली की आमदनी आपके सामने थी। इस लिये खेती के उत्तम और चाकरी के निकृष्ट होते हुए भी आपने चाकरी को ही पसन्द किया। इन्स्पेक्टर होकर बरेली की पुलिस-लाइन्स का चार्ज सँभाल लिया। फौज के साथी और दूसरे सम्बन्धी भी पुलिस की ही नौकरी में लग गये।

नैपाल की तराई में मेलाघाट की लड़ाई के पड़ाव पर ही छठी सन्तान होने का समाचार आपको मिला। यही छठी

सन्तान पहिले तो स्वनामधन्य महात्मा मुंशीराम और बाद में अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुई। आपके तीन भाई और दो बहिनें और थीं। आयु के क्रम से सब भाई बहिनों के नाम ये थे—(१) सीताराम, (२) प्रेमदेवी, (३) मूलराज, (४) द्रौपदी, (५) आत्माराम और (६) मुंशीराम। मुंशीराम का जन्म का नाम पाधे का रखा हुआ 'बृहस्पति' था। पर, यह नाम व्यवहार में कभी नहीं आया।

२. बाल्यावस्था

बालक मुन्शीराम की बाल्यावस्था का अधिक हिस्सा पिता जी की नौकरी के कारण खेल-कूद में ही बीता। नौकरी में पिता जी का तबादला भी बराबर एक जगह से दूसरी जगह होता रहा। इस लिये आवारागर्दी भी बचपन से ही साथ लग गई। फिर नौकरी भी ऐसी थी कि शहर में सर्वसाधारण पर पिता जी की राजा की-सी धाक जमी रहती थी। ऐसी नौकरी में सब से छोटी सन्तान होने से घर वालों के अलावा शहर भर का लाड़ मिलना भी सहज ही था। इसी से बालक मुन्शीराम की बाल्यावस्था का अधिक हिस्सा लाड़ लड़वाने और आवारागर्दी में बीता। इस लाड़ और आवारागर्दी के दुष्परिणाम भी थोड़ी या अधिक मात्रा में उसको भोगने ही पड़े।

लड़ाइयों की मुठभेड़ से छुट्टी पाकर श्री नानकचन्द जी बरेली में पुलिस-लाइन्स की इन्स्पेक्टरी का निर्द्वन्द्व अथवा स्वच्छन्द जीवन बिताने लगे। अब आपने अपने परिवार को भी तलवन से बरेली बुला लिया। माता जी तीनों लड़कों को साथ लेकर जब बरेली आईं, तब बालक मुन्शीराम की आयु के तीन वर्ष पूरे हो चुके थे। बरेली आने के बाद बालक के अगले तीन वर्ष भी खेल कूद में ही व्यतीत हुए। सीताराम और आत्माराम की पढ़ाई के लिये मौलवी साहब नियत किये गये। उन दोनों की पढ़ाई नियमपूर्वक होने लगी और बालक मुन्शीराम पुलिस-लाइन्स में इधर से उधर लाड़ प्राप्त करते फिरने लगा। पर, फिर भी अपने भाइयों की अपेक्षा बालक मुन्शीराम प्रतिभा-सम्पन्न था। खेल-कूद में लगे हुए ही मौलवी के पढ़ाते समय बालक जो सुन लेता, उसको तुरन्त याद कर लेता। दूसरे दिन जब दूसरे भाई मौलवी को पाठ न सुना सकते, बालक मुन्शीराम तुरन्त सब सुना देता।

बरेली से कोर्ट इन्स्पेक्टर नियुक्त होकर श्री नानकचन्द जी की बदली बदायूं होगई। यहां भी तीन वर्ष और लाड़-प्यार तथा स्वच्छन्दता में ही बीते। बरेली की पुलिस-लाइन्स में खेलते-कूदते बालक ने फौजी सलाम करना सीख लिया था। बदायूं में फौजी सलाम की यह क्रिया काम आई। कचहरी के मुहर्रिर और दूसरे सब लोग भी बालक से फौजी-सलाम कराते और

उसको इनाम में कागज़-क़लम देते । बालक घर में आकर दावात लेकर उन क़लमों और कागज़ों का सदुपयोग यह करता कि फ़ारसी की किताबें लेकर मक्खी पर मक्खी मारता हुआ लिखने का अभ्यास करता । बरेली में मौलवी के सुने सुनाए पाठ को याद करने और बदायूं में इस प्रकार कागज़ों को काला करने से ही मुंशीराम की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ समझना चाहिये ।

बदायूं से श्री नानकचन्द जी का तबादला एक दर्जा और उन्नति पाकर बनारस को हुआ । यहां आप विज़िटिंग कोर्ट-इन्स्पैक्टर नियुक्त किये गये । यह समय सम्भवतः सम्वत् १९२२ के अन्तिम मास का था । विज़िटिंग कोर्टइन्स्पैक्टर होने से प्रायः आपको जिले के थानों का निरीक्षण करने के लिये दौरे पर रहना पड़ता था । घर पर आप बहुत कम रहते थे । मकान बहुत बड़ा था और शहर से बाहर एकान्त में था । कोई पास-पड़ोस न होने से माता जी ने एक और पंजाबी परिवार को बिना किराया लिये ही उस घर में बसा लिया था । उस परिवार की गृहदेवी श्रीमती निहालदेवी पंजाबिन होने पर भी छूत-छात में बनारस वालों के भी नाक-कान काटती थीं और घर में सब का नाकों दम कर रखती थीं । ठिठुरते जाड़ों में भी बालकों को सब कपड़े उतार कर टट्टी जाने और स्नान करके कपड़े पहिरने का हुक्म था । कहीं किसी ऐसी-वैसी चीज़ को पैर तक छू गया

या मोरी में ही कहीं पैर पड़ गया तो कपड़े धोये और स्नान किये बिना छुट्टी नहीं मिलती थी। माता जी इससे तंग आगईं। निहालदेवी जी से अपना घर खाली करवा लिया और बाद में स्वयं भी उस मकान को छोड़कर लाहौरी टोले में चारों ओर से खुला एक हवादार मकान ले लिया। बरेली और बदायूं के लाड़ले जीवन का सिलसिला बनारस में भी जारी रहा। एक दिन पिता जी किसी मामले की रिपोर्ट लिखने में तल्लीन थे। लाड़ले बेटे ने शोर मचाया। पिता जी ने झिड़क दिया। जिस बेटे की स्वच्छन्ता पर किसी ने अंगुली तक नहीं उठाई थी, वह इस झिड़की को कैसे सहन करता? लाड़ले बेटे ने सीढ़ी में जाकर वहां लगी हुई रस्सी में लटक कर फांसी लगाने की धमकी दी। पिता जी आये और बालक को एक चपत लगाकर रस्सी से छुड़ा लाये। आठ-नौ वर्ष के लाड़ले जीवन की स्वच्छन्दता में यह पहला ही आघात था। बालक ने रो-रो कर घर सिर पर उठा लिया। पिता की ताडना से रूठे हुए या रोते हुए बेटे को चुप कराने का काम माता का ही है। माता जी ने बालक को गोद में लिया और किसी तरह चुप कराया।

३. शिक्षा का प्रारम्भ

काशी आने के बाद भी बालक की नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू नहीं हुई, पर प्रतिभा-सम्पन्न कुशाग्रबुद्धि होने से वह सुना-सुनाया

बहुत-सा याद कर लिया करता था। पिता जी की पूजा के समय पाठ करते हुए सुने हुए बहुत से स्तोत्र और काशी-माहात्म्य आदि इसी प्रकार याद किये थे। सम्वत् १९२३ के आरम्भ में बालक को यज्ञोपवीत पहिनाने का विचार किया जाने लगा। यज्ञोपवीत-संस्कार का सम्बन्ध शिक्षा से है और शिक्षा का सम्बन्ध है गुरु से। इसलिये प्राचीन काल में गुरुकुल में प्रवेश करने के समय ही बालक को यज्ञोपवीत पहिनाया जाता था। आजकल ये सब संस्कार नाम-मात्र के रह गये हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार की विधि तो इतनी ही रह गई है कि यज्ञोपवीत धारण करने के बाद वेदारम्भ हो चुकने पर जब बालक काशी पढ़ने के लिये जाने को घर से बाहिर निकलता है, तब बहिन आकर रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती और भाई को घर में ही पढ़ाने का प्रबन्ध करने का वायदा करके लौटा लाती है। उसी दिन उसका समावर्तन-संस्कार भी हो जाता है। बालक मुंशीराम के इस संस्कार में दो दिक्कतें पेश हुई। एक तो यह कि उसकी अपनी कोई बहिन वहाँ थी नहीं, जो उससे घर में पढ़ने का वायदा करती और दूसरी यह कि काशी में ही होने से कहाँ पढ़ने जाने का नाटक रचा जाता? दोनों को सहज में हल कर लिया गया। एक धर्म की बहिन बनाई गई और काशी की जगह काश्मीर का नाम रख लिया गया। काश्मीर भी काशी के समान कभी तो विद्या का केन्द्र था ही। संस्कार का नाटक पूरा होगया और

बालक की पढ़ाई का भी कुछ सिलसिला शुरू हुआ । पढ़ाई की समाप्ति का (समावर्तन) संस्कार साथ ही में न करके पिता जी ने एक पण्डित रखकर हिंदी की पढ़ाई शुरू करा दी। पण्डित की पढ़ाई को सन्तोषजनक न देखकर मुंशीराम को अपने बड़े भाई के साथ पिता जी ने एक हिंदी-पाठशाला में भरती करा दिया। मुंशीराम पाठशाला का काम पाठशाला में ही समाप्त कर लेता और घर में आकर पिता जी की तुलसी-कृत रामायण लेकर नित्य प्रति पढ़ने लगता। पिताजी के दैनिक पूजा-पाठ का भी बालक-हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि भाई के साथ मिलकर एक मंदिर से शिवलिंग उठा लाया और पिता जी के समान ही उसकी धूप, दीप, नैवेद्य और फल-फूल आदि से विधिवत् पूजा करने लगा। सवा डेढ़ वर्ष से अधिक पढ़ाई का यह क्रम जारी नहीं रह सका, क्योंकि श्री नानकचन्द जी की बदली काशी से बांदा होगई। बांदा आकर पढ़ाई का क्रम कुछ बदला। वहां के स्कूलों में हिंदी की शिक्षा का प्रबन्ध बिलकुल नहीं था। उर्दू का कुछ भी ज्ञान न होने से पढ़ाई का क्रम फिर प्रारम्भ से शुरू हुआ। पर, बनारस में रामायण से जो अनुराग हुआ था, वह बांदा में आकर बहुत अधिक बढ़ गया। यहां महाभारत का हिन्दी अनुवाद भी पढ़ना शुरू किया। 'रामचरित-मानस' से प्रेम पैदा होने की घटना का संयोग कुछ अनहोना सा है। मुन्शीराम को विषम ज्वर ने आ दबाया। डाक्टरों

और हकीमों की दवा से कुछ लाभ न हुआ। लोगों के कहने पर बुद्धू भगत को बुलाया गया। उसकी दवा असर कर गई और भगत जी परिवार के डाक्टर बन गये। वल्मीक की तरह उनके जीवन में भी एकाएक ही परिवर्तन हुआ था और उस परिवर्तन का कारण था रामायण का उत्तरकांड। परिवर्तन से पहिले बुद्धू हर एक छल-फरेब और चालबाजी में प्रवीण थे। मुकद्दमे लड़ाना और झूठे गवाह खड़ा करना उनका पेशा था। पर, रामायण से ऐसी काया पलट हुई कि सब छोड़ छाड़ कर कौड़ियों की दुकान कर ली, बीमारों का मुफ्त औषधोपचार करने लगे और रात को नित्य प्रति जनता को रामभक्ति का मधुर-रस पान कराने लगे। श्री नानकचन्द जी पर भी इस रामभक्ति का ऐसा असर हुआ कि रात को थाने के सब लोगों के साथ उस कथा में शामिल होने लगे। न केवल सिपाही और अफसर ही, किन्तु गिरफ़तार किये हुये अपराधियों को भी उस कथा में लाया जाता। बालक मुन्शीराम पर उस कथा का अद्भुत प्रभाव पड़ा। वंशपरम्परागत भक्ति-भाव-पूर्ण संस्कारों पर उस सत्संग ने अपना पूरा रंग जमाया। शनिवार को स्कूल से लौटने के बाद रामायण का पाठ शुरू करके रविवार की रात तक उसको पूरा कर देते और रविवार के सवेरे एक टांग खड़े होकर 'हनुमान चालीसा' का सौ बार पाठ करने के बाद बिना नमक का भोजन करते। बांदा में श्री नानकचन्द जी लगभग तीन वर्ष

रहे और बालक के अभ्यास का यह क्रम भी प्रायः तीन वर्ष जारी रहा। पर, उसमें विघ्न भी कुछ कम नहीं पड़ा। बांदा का एक "सब-डिवीज़न" करवी है। श्री नानकचन्द जी को दो बार वहां का चार्ज लेकर जाना पड़ा। उससे बालक की पढ़ाई का क्रम तो दो बार टूटा, पर उसको चित्रकूट के प्राकृतिक और ऐतिहासिक सब दृश्य देखने का अवसर सहज में मिल गया। बालक के साधारण ज्ञान में जो उन्नति हुई, उसकी तुलना में पढ़ाई की हानि कुछ अधिक नहीं थी।

फाल्गुन सं० १६२८ वि० में श्री नानकचन्द जी की मिर्जापुर को बदली होगई। मिर्जापुर में चैत्र के नवरात्र में विन्ध्याचल पर विंध्यवासिनी देवी का सुप्रसिद्ध मेला लगता है। वहां पहुँचने के कुछ ही दिन बाद मेले का वह अवसर आगया। श्री नानकचन्द जी मेले के प्रबन्ध के लिये वहां गये। मुन्शीराम भी साथ में था। पूरा एक महीना इस मेले का आनन्द लूटने में निकल गया। पढ़ाई में उससे भी बहुत बाधा पहुँची, पर अनुभव का ज्ञान यहां भी कुछ कम नहीं प्राप्त हुआ। जो घटनाएं सर्व साधारण के लिये बिलकुल साधारण होती हैं, वे ही किसी विशेष हृदय पर जादू का-सा असर कर जाती हैं। महापुरुषों के जीवन-निर्माण का काम करने वाली घटनाओं का पता लगाना बहुत कठिन काम है। यहां की ऐसी दो घटनाओं का वर्णन चरित्रनायक के शब्दों में ही करना ठीक होगा। उन्होंने लिखा है—"उसी

स्थान में पिता जी के अर्दली सार्जेंयट जोखू मिसर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते, उन में से सात की सिरियें मिसिर जी की पेट पूजा के लिये भेंट आतीं। सात बकरों के सिर मुफ़्त, कण्डों (उपलों) की आग मुफ़्त, मिट्टी की हंडिया मुफ़्त, नमक व हल्दी भी मुफ़्त—हां, पाव भर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे, सातों सिरियों का सफ़ाया करके शेष थाली पाव भर चून की लिट्टी (बाटी) से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूंबड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हंडिया पकते पकते पिता जी का नौकर चिमटे से चिलम में आग धर लाया। मिसिर जी आग-बबूले हो गये, और जब कारण पूछा गया तो बोले—'अरे सरकार! हम आपन धर्म कबहूं नाहीं छोड़ा। अरे! झूठ बुआला, जुआ खेला, गांजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिसवत लिहा, चोरी दगाबाज़ी किहा—कौन फन फरेब बाटें जोन हम नाहीं किहा। मुल सरकार! आपन धरम नहीं छोड़ा।' सरकार तो मुस्करा कर चल दिये और मेरे पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये। जोखू मिसर का मामला तो मनोरंजक था, परन्तु थाने की छत से जो एक राजा को स्त्री नग्न करके देवी की पूजा करते देखा उस दृश्य ने मुझे ऐसे धनाढ्य पुरुषों से बड़ी घृणा दिलाई।" जब कि मनुष्य स्वयं ही अपने जीवन के चढ़ाव उतराव की कारण-भूत घटनाओं का ठीक ठीक

विश्लेषण नहीं कर सकता, तब दूसरे इस सम्बन्ध में क्या कह सकते हैं? फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि बालक मुन्शीराम का गहरे अन्धकार में पतन होने के बाद जो चमत्कारपूर्ण उत्थान हुआ है, उसमें ऐसी सब घटनायें अपना पूरा स्थान रखती हैं और पिता जी द्वारा किये गये इस भ्रमण में प्राप्त अनुभव अगले जीवन में बहुत काम आते हैं। इसलिये इस समय में नियमित पढ़ाई न होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह समय बिलकुल निरर्थक गया।

मिर्ज़ापुर में देवी के मेले से लौट कर सरकारी स्कूल के तीसरे दर्जे में प्रवेश पाकर उर्दू फ़ारसी के अलावा अरबी का अभी अभ्यास ही शुरू किया था कि सं० १९२८ के श्रावण मास के आरम्भ में पिता जी की फिर काशी बदली हो गई। अब आप अव्वल दर्जे के इन्स्पेक्टर नियुक्त किये गये और निश्चित वेतन के अतिरिक्त सौ रुपया मासिक म्युनिसिपैलिटी से मिलना तय हुआ। काशी में दूसरी बार आकर पहले तो ब्रह्मनाल मुहल्ले के पास कपूर्थला की धर्मशाला में डेरा डाला गया। कुछ समय बाद उसी मुहल्ले में एक खुला चार-मंज़िला मकान किराये पर ले लिया गया। काशी की कोतवाली नवाबी के ही समान समझी जाती थी। इस लिये लाड-प्यार में पले हुए मुन्शीराम के लिये काशी का इस बार का जीवन युवराज के जीवन से कुछ कम न था। यहां पढ़ाई एक बार के लिये फिर रुक-सी गई।

वर्षा ऋतु का सुहावना मौसम था। गाने-बजाने और नाच-रंग का चारों ओर दौरदौरा था। कोतवाल के दरवाजे पर सदा ही रईसों की गाड़ियां खड़ी रहती थीं और जहाँ-तहाँ के नाच-रंग में शामिल होने के सिवा बालक को दूसरा कुछ काम नहीं था। बरसात के मौसम से ही काशी में मेलों की धूम मची रहती है। पितरपक्ष के श्राद्ध पूरे होते न होते रामलीला की तैयारियों के दिन आ जाते हैं। गंगा-पार में महाराज रामनगर और अस्सी-घाट में महाराज विजयानगरम् की ओर से होने वाली राम-लीलाओं की बहार का कहना ही क्या था? राजकुमारों के लिये सोने-चांदी के हौदे वाले हाथी आने लगे और आवारा-गर्दी भी सीमा पार करने लगी।

रामलीला के बाद श्री नानकचन्द जी ने बालकों की पढ़ाई के लिये 'लाला भइया' नाम के मुन्शी को नियत किया। मुन्शी जी पढ़ाई की अपेक्षा राजकुमारों की प्रसन्नता का ही अधिक ध्यान रखते थे। पुस्तकों की पढ़ाई कुछ हो या न हो, पर एक-दो कहानियां नित्य प्रति जरूर सुनाते थे। पढ़ाया हुआ सबक़ भी इसी लिये नहीं सुनते थे कि कहीं शिष्य नाराज़ न हो जायँ। ऐसी लापरवाही अधिक दिन तक नहीं चल सकी। पिताजी ने मुन्शीजी को विदा दी और बालकों को करण-घण्टा स्कूल के मुख्याध्यापक श्री देवकीनन्दन के सिपुर्द किया। कुछ दिन घर पर पढ़ाने के बाद मास्टर साहब ने बालकों को

अपने स्कूल में भरती कर लिया। बालक मुन्शीराम का नाम चौथी श्रेणी में लिखा गया। काशी आने के पांच-छः मास बाद सम्वत् १९२९ के शुरू में विद्यालय में नाम लिखा गया और भाद्रपद के अन्त में पिता जी को बलिया की बदली हो गई। स्कूल में भरती होने के बाद भी होली और बुढ़वामंगल के मेलों पर फिर आवारागर्दी जारी हो गई। इस आवारागर्दी की कल्पना इसी से की जा सकती है कि स्कूल के नौ मास में मुश्किल से १२५ दिन की हाज़री लगी होगी। सम्वत १९३० के दशहरे पर भी इसी प्रकार मौजें लूटीं और हाथियों की सवारी की। सारांश यह है कि काशी का इस बार का जीवन हकूमत का मज़ा चखने और रंगरेलियों के मनाने में ही गया। इसके अलावा सवेरे गंगास्नान और विश्वनाथ आदि मन्दिरों के दर्शनों के साथ-साथ व्यायाम का भी मुन्शीराम को एक व्यसन-सा हो गया। प्रति दिन सवेरे बायें हाथ में डलिया, दायें में झारी और बग़ल में धोती-अँगोछा दबा कर वह घर से निकल पड़ता। अखाड़े में जाकर लँगोट कस लेता। कुछ डंड-बैठक कर के कुश्ती लड़ता और उसके बाद पसीना सुखा कर गंगा में स्नान करता। लौटते हुए रास्ते के सब शिवालयों पर झारी से पानी चढ़ाता आता और विश्वनाथ, सनीचर, महावीर, अन्नपूर्णा और गणेश आदि की विधिपूर्वक बड़ी श्रद्धा से चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा करता। यह नियम बिना किसी

विशेष बाधा के इस काशी-वास में प्रायः बराबर ही निबाहा गया।

बलिया के लिये बदली होने का समाचार पाकर माताजी बड़े भाई सीताराम को साथ लेकर घर तलवन चली गईं। पिताजी मुंशीराम और आत्माराम के साथ जल-मार्ग से बलिया को रवाना हुए। बलिया इस समय तो स्वतन्त्र ज़िला है, पर उस समय ज़िला गाज़ीपुर का एक हिस्सा था। इस लिये वहाँ के स्कूल में केवल चार दर्जे तक की पढ़ाई होती थी। पर स्कूल के मुख्याध्यापक श्री मुखर्जी-बाबू बड़े विद्या-व्यसनी थे। वे स्वयं ही श्री नानकचन्द जी के पास आये और मुन्शीराम की परीक्षा लेकर उसको अपने स्कूल ले गये। बालक के अंग्रेज़ी के अभ्यास से सन्तुष्ट हो कर एक बार एक अंग्रेज-कमिश्नर ने उसको पारितोषिक दिया, दूसरी बार राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूल्स ने उसको एक दर्जे की विशेष तरक्क़ी दी। बलिया में पढ़ाई के अलावा कुश्ती लड़ने, गतका खेलने और लाठी चलाने की भी शिक्षा प्राप्त की। सैर का भी विशेष शौक़ पैदा हो गया।

रामायण पर श्रद्धा बढ़ाने वाली वहाँ की एक घटना का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। नानकचन्द जी नित्य नियमानुसार बलिया में भी रात को रामायण की कथा किया करते थे। कथा में पुलिस वालों तथा मुहल्ले वालों के अलावा

मुक़द्दमों के सब आसामी भी उपस्थित हुआ करते थे। एक दिन वह प्रायश्चित्त की महिमा बखान रहे थे और कह रहे थे कि अपने दोष को स्वीकार करना ही सब से बड़ा प्रायश्चित्त है। आसामियों में से अकस्मात् एक विशाल-काय हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति खड़ा हुआ और यह कहता हुआ उनके चरणों में लेट गया कि—

"स्रवन सुजस सुन आयो, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरत हरन, सरन सुखद रघुवीर॥"

श्री नानकचन्द जी के आश्चर्य का पारावार न रहा। उन्होंने उसको उठा कर अपनी असमर्थता प्रकट की, तो उत्तर मिला कि "राम ते अधिक राम कर दासा।" नानकचन्द जी को हार मान कर सब कहानी सुननी पड़ी। आसामी ने चोरी तथा ख़ून का सब दोष यहां तक स्वीकार किया कि "इक़बाल" पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये। चरित्रनायक ने स्वयं लिखा है कि "मुझ पर उस दृश्य का बड़ा प्रभाव पड़ा और अपने जीवन में कई बार उसका स्मरण आया।"

बलिया में मुन्शीराम के चारों ओर का वातावरण कुछ अच्छा नहीं था। तहसीलदार, नायब-तहसीलदार, मुनसिफ़, सरिश्तेदार, दारोगा और हेड मुहर्रिर वग़ैरह प्रायः सभी वेश्या-गामी तथा पतित चरित्र के थे। पर, पिता जी सब विषय-वासनाओं से मुक्त थे। इस लिये मुन्शीराम पर उस वातावरण का

कुछ असर नहीं हुआ। रामायण पर जो श्रद्धा थी, उसने भी इस पतित वातावरण से मुन्शीराम को बचाये रखा।

४. नियमित शिक्षा और स्वतन्त्र-जीवन का प्रारम्भ

किसी विद्यालय विशेष में निममित शिक्षा न होने पर भी पिताजी के साथ इधर-उधर घूमने में मुन्शीराम ने बहुत कुछ सीख लिया था। हिंदी, उर्दू और अंगरेज़ी का भी विशेष अभ्यास कर लिया था। अब श्री नानकचन्द जी को बच्चों की पढ़ाई की विशेष चिन्ता हुई। अब वे इतने सयाने भी होगये थे कि उनको विद्याध्ययन के लिये कहीं अकेला छोड़ा जा सकता था। कुछ विचार के बाद बनारस में ही छोड़ना तय किया। तीसरी बार बनारस आने पर वास्तविक विद्यार्थी-जीवन का श्रीगणेश हुआ। अब तक मुन्शीराम का जीवन पिताजी की नौकरी के आधीन रहा था। इस विद्यार्थी-जीवन से स्वतन्त्र-जीवन का भी श्रीगणेश हुआ। बनारस का क्वीन्स कालेज उस समय संयुक्त प्रान्त में सर्वश्रेष्ठ विद्यालय समझा जाता था। उसकी आधारशिला सम्वत् १९१४ के विप्लव से पहले ही रखी जा चुकी थी। इमारत, अध्यापक और शिक्षा-पद्धति की दृष्टि से प्रान्त का दूसरा कोई भी विद्यालय उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था। इसीलिये

विद्यार्थियों की योग्यता के लिये भी यह विद्यालय प्रान्त में एक ही था। पौष सम्वत् १९३० में कालेज की दूसरी कक्षा में विद्यार्थी मुन्शीराम को सहज में प्रवेश मिल गया। सम्वत् १९३४ के ज्येष्ठ-मास के अन्त तक कोई ४॥ वर्ष मुन्शीराम ने बनारस में ही विद्यार्थी-अवस्था में पूरे किये। बीच में १९३१ में एक वर्ष रेवड़ी तालाब के 'जयनारायण कालेज' में शिक्षा प्राप्त की, बाक़ी विद्यार्थी-जीवन उक्त कालेज में ही बिताया। वर्ष के बीच की छुट्टियां बलिया आकर पिताजी के पास बिताईं। छुट्टियों के बाद काशी आकर परीक्षा की तय्यारी शुरू की। इंट्रेन्स की परीक्षा थी, जो कि शिक्षा-विभाग द्वारा ही होती थी। परीक्षा के लिये पूरी तय्यारी करने के बाद भी एक आकस्मिक घटना के कारण परीक्षा में सफलता नहीं मिली। पिताजी का पत्र आ चुका था कि परीक्षा होते ही तलवन माताजी के पास चले जाना, वहां विवाह का शगुन अर्थात् सगाई की रस्म अदा की जायगी। परीक्षा बृहस्पतिवार को समाप्त होनी थी और शुक्रवार को ही तलवन के लिये विदा होने का कार्यक्रम बनाया जा चुका था। बृहस्पतिवार की शाम को, जब कि परीक्षा-भवन में बैठे हुए फ़ारसी का दूसरा पर्चा लिखने की तय्यारी हो रही थी, सुपरिंटेण्डेण्ट ने हुक्म सुनाया कि अंगरेज़ी के पर्चे पहले ही निकल चुके थे, इसलिये सोमवार को अंगरेज़ी की परीक्षा फिर से होगी। चाहिये तो यह था कि सोमवार तक के लिये

तलवन जाना स्थगित कर दिया जाता, पर तलवन में तारघर नहीं था और माता जी के प्रेम के सामने परीक्षा का महत्व ही क्या था? शुक्रवार की शाम को ही काशी से तलवन के लिये प्रस्थान कर दिया और रविवार के सवेरे फिल्लौर उतर कर दुपहर को तलवन पहुँच माताजी का प्रेमपूर्ण आशीर्वाद प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया।

अंगरेज़ी में अनुत्तीर्ण होना निश्चित था। घर से लौट कर काशी आने के बाद कालेज में जाने पर पुराने सब साथियों को ऊंची श्रेणी में पढ़ते हुए देखा तो हृदय बहुत खिन्न होगया। इण्ट्रेंस की पढ़ाई की सब पुस्तकें पहिले ही रटी हुई थीं। उनको दोबारा पढ़ने में मन नहीं लगा। नई पुस्तकों की खोज में कबाड़ियों की दुकानें टटोलनी शुरू कीं। वहां से अंगरेज़ी के पुराने उपन्यास बटोर कर पढ़ने शुरू किये। खिन्न हृदय और उदास मन पर उनका बहुत बुरा असर हुआ। स्कूल जाने में भी ढील होने लगी। अन्त में स्कूल से नाम ही कट गया। पिताजी को इसका कुछ भी पता नहीं चला और इधर विद्यार्थी मुन्शीराम बे-लगाम हो अवारागर्दी में दिन बिताने लगा। छुट्टी के दिन आये तो कबाड़ियों के यहां से उपन्यास, नाटक, जीवनी तथा मनोरंजक यात्रा की बहुत-सी किताबें बटोर कर विद्यार्थी मुन्शीराम पिताजी के पास फिर बलिया चला आया। अंगरेज़ी उपन्यासों का कुछ ऐसा चस्का लगा कि गरमी और पतंगों से बचने के लिये

मुन्शीराम ने चन्द्रमा के प्रकाश में ही उनको पढ़ना शुरू किया। पिताजी समझते थे कि बालक पढ़ाई की तय्यारी में लगा रहता है। उनको क्या मालूम था कि बालक नैतिक-पतन की गहरी खाई के किनारे खड़ा हुआ दुर्व्यसनों का शिकार होने जा रहा है! छुट्टियां समाप्त करके काशी आकर किसी स्कूल में भर्ती होने का विचार किया। पर, स्कूल का निर्णय करने में ही अक्तूबर पूरा होगया। इतने ही में दशहरा और दिवाली के त्यौहार आगये। इन त्यौहारों की मौज लूटने का पुराना चस्का फिर जाग उठा। इसलिये स्कूल में भर्ती होने का विचार कार्य-रूप में परिणत नहीं हुआ। इन्हीं दिनों में पिताजी किसी सर-कारी काम पर बनारस आये और वह मुन्शीराम के पास ही ठहरे। बेटे से पूछा कि स्कूल कब जाओगे? बालक ने असत्या-चरण करते हुए भी पिताजी के प्रति असत्य भाषण कभी नहीं किया था। आज असत्य भाषण का भी पहिला परीक्षण सफल होगया। कह दिया कि 'स्कूल में छुट्टी है।' शाम को सरकारी काम से लौटते हुए स्कूल से आते हुए लड़कों से मालूम हुआ कि मुन्शीराम का नाम स्कूल से कट चुका है। श्री नानकचन्द जी को सबसे अधिक लाड़ले, विश्वासपात्र और होनहार पुत्र के असत्य भाषण पर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने इतना ही कहा, "मैं तुम पर इतना विश्वास करूं और तुम ऐसा अविश्वास करो! यदि दिल नहीं लगता था तो मुझको क्यों न लिख दिया?"

पिता जी इस पर भी दूसरे दिन स्कूल के हेडमास्टर से मिले और मुन्शीराम का नाम विद्यालय में लिखा दिया। परीक्षा में केवल एक महीने का समय था। गणित, इतिहास, भूगोल सब सफ़ाचट हो चुके थे। परीक्षा में बैठकर अनुत्तीर्ण होने की अपेक्षा स्कूल से अलग होना ही अच्छा समझा और स्कूल से फिर नाम कटवा लिया। इस प्रकार दूसरा वर्ष भी यों ही बीत गया।

सम्वत् १९३३ में काशी आकर किसी विद्यालय में भरती होने की धुन सवार हुई। क्वीन्स कालेज में जाते हुए लज्जा प्रतीत होती थी। लण्डन मिशन स्कूल भी पसन्द नहीं आया। जय-नारायण कालेज, जो कि समीपस्थ तालाब के कारण रेवड़ी तालाब के स्कूल के नाम से मशहूर था, पसन्द किया गया। पौष मास में इसी विद्यालय में नाम लिखवाया गया। लगभग ३० विद्यार्थी इण्ट्रेंस की श्रेणी में थे। कहना न होगा कि अंग्रेज़ी की योग्यता में मुन्शीराम की बराबरी कोई नहीं कर सकता था। इस कक्षा के दो भाग किये गये। 'क' विभाग के लिये मुन्शीराम के अलावा आठ विद्यार्थी और योग्य समझे गये। इस विद्यालय में भी अध्यापकों का सत्संग बहुत अच्छा मिला। फ़ारसी की कठिनाई को दूसरी भाषा उर्दू लेकर हल कर लिया गया। अंग्रेज़ी में विशेष मेहनत करने की ज़रूरत ही न थी। बाक़ी पढ़ाई भी प्रायः एक बार तो की ही हुई थी। इस लिये विद्यालय की पढ़ाई का बहुत-सा समय आवारागर्दी में वीतने लगा।

लाला नानकचन्द
(पिता)

बैठे हुए पिता
लाला नानकचन्द;
खड़े हुए बाईं से दाईं
ओर को बड़े भाई
लाला आत्माराम, स्वयं
लाला मुंशीराम (मुख्तार)
तथा भतीजा रामनाथ
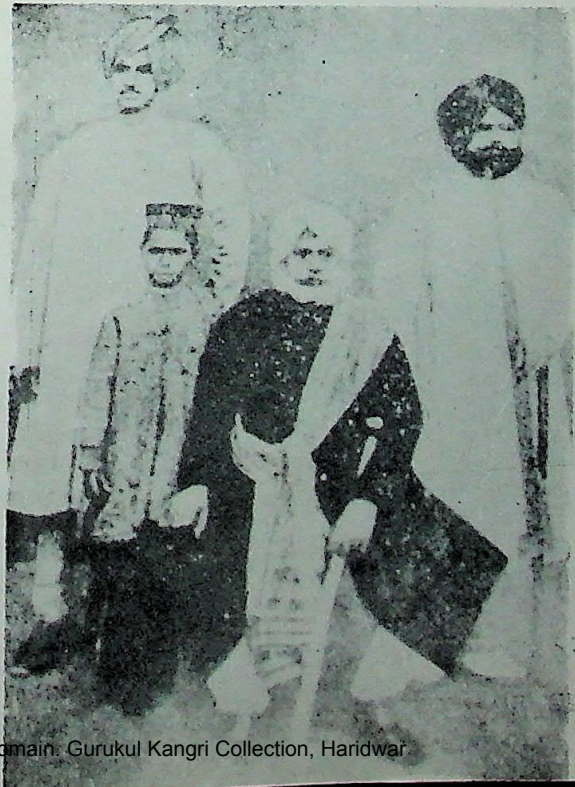
बैठे हुए—लाला मुंशीराम तथा कनिष्ठ पुत्र इन्द्र
खड़े हुए—पुत्री वेदकुमारी तथा ज्येष्ठ पुत्र हरिश्चन्द्र

बैठे हुए—श्री मुंशीराम जी की भाभी, पुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र
खड़े हुए—पुत्री अमृतकला, वेदकुमारी और पोषिता कन्या सुमित्रा

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
(ज्येष्ठ पुत्र)
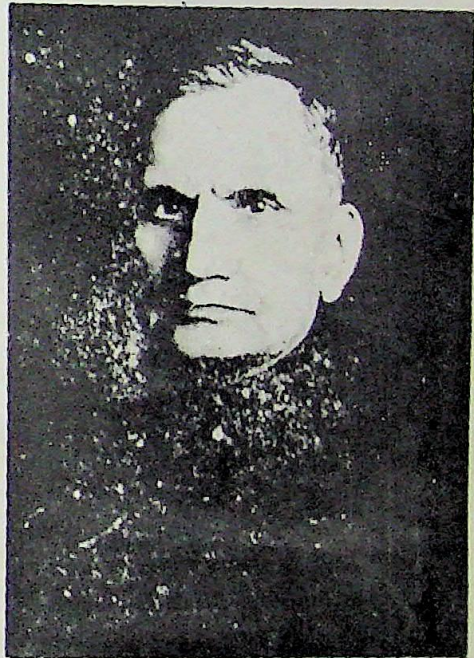
इन्द्र विद्यावाचस्पति
(कनिष्ठ पुत्र)

श्रीमती वेदकुमारी
(ज्येष्ठ पुत्री)

श्रीमती चन्द्रावती
(पुत्र वधू पत्नी श्री इन्द्र)

डॉ० सुखदेव
(दामाद)

जयन्त वाचस्पति
(पौत्र)

५. बुरी संगति के लिये आवश्यक सामग्री भी जुटनी शुरू हो गई। आस्तिकता को गहरी ठेस लगाने वाली एक साधारण-सी घटना इन्हीं दिनों में हो गई। सवेरे और शाम प्रति दिन विश्वनाथ का दर्शन नियम से होता था। पौष सम्वत् १९३२ के अन्त में एक दिन शाम को ८ बजे विश्वनाथ के दर्शन के लिये जो गली के मोड़ पर पहुंचे, तो पहरे पर बैठे हुए पुलिस के सिपाही ने रोक दिया। कारण यह था कि रीवां की रानी दर्शन कर रहीं थीं। उस समय दूसरा कोई जा नहीं सकता था। सब जगत् के स्वामी के दरबार में राव-रंक का यह भेद देख कर मुन्शीराम के कोमल हृदय पर ऐसी ठेस लगी कि विश्वनाथ पर से ही उसका विश्वास उठ गया। मन में तरह-तरह के संकल्प-विकल्प उठने लगे। मन को समझाने की सब कोशिशें व्यर्थ साबित हुईं। मूर्ति-पूजा पर से एकाएक श्रद्धा जाती रही। काशी के दूसरे निवास-काल में लगभग एक वर्ष और अब लगभग डेढ़ वर्ष नियमपूर्वक जिस पूजा को निबाहा था, वह छूट गई। ईसाई-धर्म की ओर प्रवृत्ति हुई, पर तार्किक विद्यार्थी के संशय को कालेज के प्रिंसिपल ल्यूपोल्ट (जो पादरी भी थे) भी दूर न कर सके। प्रोटस्टेण्ट ईसाइयों से निराश हो कर किसी गुरु की खोज में थे कि एक दिन रोमन कैथोलिक पादरी फादर लीफ्रू से मुलाकात हो गई। उनके विनयशील, शान्त, सहिष्णु और श्रद्धालु स्वभाव ने मुन्शीराम को सहज में अपनी ओर खींच

लिया। रोमन कथोलिक गिर्जाघर में बप्तिस्मा लेने का भी निश्चय हो गया। पादरी साहब के यहां उसके लिये दिन नियत करने के लिये जाने पर एक और घटना ऐसी घटी कि वहां से भी मुंह फिर गया। पादरी साहब घर पर थे नहीं, परदा उठाते ही भीतर जो देखा तो एक दूसरे पादरी एक 'नन' के साथ बड़ी घृणित अवस्था में पड़े हुए थे। इस प्रकार ईसाइयों से भी निराश हो मुन्शीराम का धर्म की दृष्टि से नास्तिकपन की ओर झुकाव हुआ। धर्म या मज़हब एक ढकोसला जान पड़ा और यह प्रतीत हुआ कि उसकी सृष्टि कुछ चालाक लोगों ने आंख के अन्धे और गांठ के पूरों को फँसाने के लिये की हुई है। पर इस नास्तिकपन में भी प्रातःकाल का उठना, व्यायाम-कुश्ती, गंगास्नान और भ्रमण का नियम जारी रहा।

कालेज में प्रवेश पाने के समय विद्यार्थियों के जीवन में कुछ विशेषता आ ही जाती है। मुन्शीराम ने कालेज प्रवेश करने के ठीक पहिले ही हुका गुड़गुड़ाना सीखा था और पन्द्रह ही दिन में इसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली थी। मुन्शीराम का निवास-स्थान हुकेबाजों का अड्डा था। सब मित्रमण्डली के अलग-अलग नाम लिखे हुए हुके बैठक में पड़े रहते थे और शाम को जब दरबार लगता था, तब प्रायः सभी हुके गुड़गुड़ाये जाते थे। मित्रमण्डली भी अपने ढंग की एक ही थी। प्रिंस एडवर्ड के काशी आने पर इसी मण्डली के साथ छुट्टियाँ बिताने

के लिये उन दिनों में घर जाने का विचार भी छोड़ दिया था। उस वर्ष की होली और बुढ़वामंगल के त्यौहार भी इस मण्डली के साथ ही मनाये थे। होली गुण्डों के वेष में और बुढ़वामंगल ख़ूब मेहनत से सजाई हुई शानदार किश्तियों पर गश्त करने में बीती। इसी मित्रमंडली की संगति में भांग भी छनने लगी और उसका सेवन भी कुछ समय के लिये नियम-सा हो गया। रविवार को इसी मित्रमण्डली की बैठक में शतरञ्ज का खेल, मुशायरा और उपन्यासों का पाठ होता था।

६. पतन का श्रीगणेश

बुराई से अच्छाई प्रगट होने की घटनायें साधारणतया बहुत सुनने में आती हैं। पर, अच्छाई से बुराई का पैदा होना असाधारण घटना है। ऐसी असाधारण घटना से ही हमारे चरित्रनायक के नैतिक-पतन का श्रीगणेश होता है। कालेज में पहिले वर्ष की छमाही के बाद की दो मास की छुट्टियां बलिया में बिता कर मुन्शीराम ने काशी आने पर देखा, तो उसकी मित्रमण्डली का कोई भी साथी अभी नहीं लौटा था। कुछ खिन्न हृदय और आकस्मिक ज्वर से निर्बल हो विद्यार्थी मुन्शीराम दशहरे की छुट्टियों से एक सप्ताह पहिले ही फिर बलिया चला गया और कुछ दिन वहां बिता कर फिर काशी वापिस आगया। मित्र-मण्डली के साथी तब भी घरों से नहीं लौटे

थे। घर से लौटने के बाद तीसरे ही दिन की घटना है कि नित्य की भांति सवेरे गंगा-तट पर अखाड़े में गये तो वहां सुनसान मिला। पूछा तो पता चला कि गुरुवार की छुट्टी थी। कुश्ती का समय टहलने में बिताने के विचार से राजघाट की ओर का मार्ग पकड़ा। मणिकर्णिका से होकर सेंधिया घाट पहुँचने पर एक चीख़ सुनाई दी। चीख़ घाट के नीचे बनी हुई गुफा की ओर से आई थी और थी किसी आपद्ग्रस्त महिला की। मुन्शीराम ने तुरन्त वहां पहुँच कर देखा तो एक स्त्री पूरा ज़ोर लगा कर गुफा से निकलने की कोशिश कर रही थी। उसका सिर बाहिर था, भुजाएं गुफ़ा के दरवाज़े पर और बाक़ी सब हिस्सा गुफा के भीतर। धड़ से पकड़े हुए कोई उसे भीतर घसीट रहा था। भीतर के कामान्ध पिशाच व्यक्ति की शक्ति का वह अबला क्या मुक़ाबला कर सकती थी ? मुन्शीराम ने उस परवश देवी को खींच कर बाहिर किया। उसकी उम्र सोलह वर्ष से अधिक नहीं थी। इतने ही में एक अधेड़ स्त्री वहां और आगई। वह मुन्शीराम के परिचित परिवार की ही थी। पीछे मालूम हुआ कि पति महाशय तो वकालत की परीक्षा में व्यग्र थे और उनकी भौजाई उनके दूसरे विवाह की स्त्री अपनी देवरानी को सन्तान दिलाने की आशा से सवेरे तीन बजे ही मिठाई और पूरी का थाल लेकर वहाँ आ पहुँची थी। देवरानी को गुफा का द्वार दिखा आप दूर जा खडी हुई थी। अबला के कपड़े सब चीर-चीर

होगये थे, सब देह रगड़ से लहू-लुहान होगया था, भय के मारे वह बाहिर आने पर भी कांप रही थी। मुन्शीराम ने गले में डाली हुई अपनी बनात की चादर से उसका सब शरीर ढक दिया और दोनों देवियों को घर पहुँचा कर पति-देव को भविष्य के लिये चौकन्ना भी किया। यह परिवार सदा के लिये मुन्शीराम का आभारी बन गया और वह देवी भाई-दूज पर मुन्शीराम को टीका लगाने क्या आई, उसके प्रति भ्रातृभाव की पवित्रतम भावना को व्यक्त कर अपनी कृतज्ञता भी प्रगट कर गई। हिन्दू समाज को रसातल में पहुँचाने वाली इस अन्ध-श्रद्धा के सम्बन्ध में चरित्र नायक के ही कुछ शब्दों को यहां उद्धृत करना आवश्यक है। उन्होंने लिखा है कि "घाट पर लौटा तो उस नंगे पिशाच को जूतों की मार पड़ रही थी और पुलिस के जमादार भी आगये थे। एक भली देवी की इज़्ज़त का सवाल था। मेरे कहने पर उस पिशाच से नाक रगड़वा और यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह फिर कभी काशी नहीं लौटेगा, पुलिस वाले इसे राज-घाट से पार पहुँचा आये। परन्तु हिन्दू समाज की विचित्र अन्धी श्रद्धा का मुझे उस समय पता लगा, जब सन् १८८१ ई० के अगस्त मास में ग़ाज़ीपुर जाते हुए मैंने बनारस ठहर उसी दुष्ट पिशाच को घाट के मार्ग में नंगे बैठे और स्त्री-पुरुषों को उसकी उपस्थेन्द्रिय पर जल-पुष्पादि चढ़ाते देखा। प्रयागदत्त जमादार से जब पूछा तो उत्तर मिला, 'अरे बाबू! धरम का

मामिला ठहरा। अंग्रेज हाकिमों कतरा जात बाटै।' खेद है कि हिन्दू-समाज में से अब तक भी इस पाप का मुँह काला नहीं हुआ है!"

पाठक, बिलकुल भी विश्वास नहीं करेंगे कि यह ही साहस-पूर्ण, पवित्र और सात्विक घटना मुन्शीराम के पथ-भ्रष्ट होने का कारण बनती है। अंगरेजी उपन्यासों के प्रभाव से दूषित और नास्तिकपन की लहर में बे-लगाम छूटे हुए मन पर आत्मा को ऊँचा उठाने वाली इस पवित्रतम घटना ने उलटा ही असर किया। मन की सरल भावनाओं और पवित्र कामनाओं ने कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लिया। एक देवी के जीवन की रक्षा करने के बाद मुन्शीराम ने अपने को 'हीरो' (बहादुर) तथा 'नाइट' (वीर-रक्षक) और मन ही मन उस देवी को अपनी 'प्रिया' समझना शुरू कर दिया। इधर मामा की संगति से मद्यपान का भी व्यसन लग गया था और तिस पर वीर बनने की आकांक्षा समाई हुई थी। इसी बीच में एक घटना और हुई। दशहरे पर दशमी के स्नान की भीड़ थी। भोर समय था। भीड़ में घबराई हुई युवा स्त्री मुन्शीराम के सामने से निकली। कोई दुष्ट उसके पीछे था। दुष्ट को मुन्शीराम ने ऐसा चपत रसीद किया कि वह दीवार के सहारे से गिरता-गिरता बचा। मुन्शीराम उस स्त्री को लाकर अपने मकान पर छोड़ गये और बाद में उसके पति को भी भीड़ में से ढूंढ़ लाये। पति-पत्नी फिर

आकर मुन्शीराम के मकान में ही टिक गये। मकान बहुत बड़ा था। चरित्र नायक के ही शब्दों में इस घटना का लिखना अच्छा होगा। वे लिखते हैं कि "मैं अपनी बैठक में चला गया और उन्होंने ऊपर आराम किया। दोपहर पीछे मैं बाहर चला गया।..................६ बजे के लगभग घर लौट आया। उस समय प्रलोभन में फँस गया। हा! बरसों की कमाई एक घण्टे में डूब गई। उस रात मैंने भोजन नहीं किया। रात को व्याकुल रहा। दूसरे दिन प्रातः रामायण का फिर स्मरण आया।" "यदि अपने प्राचीन इतिहास पर श्रद्धा होती तो पीड़ित स्त्री-जाति का रक्षाबन्ध भाई बनकर उसकी रक्षा का व्रत लेता। परन्तु मैंने अपनी सभ्यता को जंगलीपन और अपने साहित्य को मूर्खता का भण्डार समझ रखा था, फिर उससे मुझे सहायता कब मिल सकती थी?"

रेवड़ी तालाब के जयनारायण कालेज के स्कूली जीवन और फिर क्वीन्स कालेज के कालेजी-जीवन के साथी पशुपतिशरणसिंह, जो बाद में 'रायबहादुर' और 'सी० आई० ई०' तथा अलवर में 'एसिस्टेन्ट पोलिटिकल अफ़सर' हुए, मुन्शीराम के बड़े गाढ़े दोस्त थे। इनका दोस्ताना नाम था 'सिंहजी।' आपत्ति के समय मनुष्य पास के ही किसी सहारे को ढूंढता है। मुन्शीराम के लिये वह पतन एक भयानक आपत्ति था। इस आपत्ति में 'सिंह जी' याद आगये। उनका गांव चार कोस था। सवेरे

पैदल ही उनके गांव को बिना अन्न-जल ग्रहण किये चल दिये। दोपहर को बारह बजे वहाँ पहुँच कर मित्र को सब घटना ज्यों की त्यों कह सुनाई। अपने दोष को सचाई के साथ स्वीकार करके भविष्य में उससे बचने का संकल्प करना ही सच्चा प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त की यह भावना अपराधी मुन्शीराम के दोषी हृदय में पैदा हो चुकी थी। मित्र ने सान्त्वना दी और व्याकुल हृदय को पूरी तरह शांत किया।

पतन की कोई सीमा नहीं। उत्थान का मार्ग एक ही है, और पतन के हज़ारों। ऐसे नैतिक-पतन की घटना चरित्र-नायक के जीवन में फिर नहीं घटी, किन्तु मद्य-मांस के सेवन का व्यसन अगले कुछ वर्षों में बढ़ता चला गया। इस वर्ष की दिवाली पर मद्य-मांस के साथी जुए ने भी अपना रंग आ जमाया। पर, जुए के पतित साथियों की गन्दी बोल चाल से इतनी घृणा पैदा हुई कि श्रीगणेश के साथ ही उसकी इतिश्री भी होगई।

७. मथुरा में दस दिन

काशी से विवाह के लिये तलवन जाते हुए मुन्शीराम ने मथुरा में दस दिन पिता जी के पास बिताये। पिताजी मथुरा में स्थायी तौर पर आये थे और मथुरा से उनको बरेली की कोतवाली का चार्ज लेने का हुक्म भी आ चुका था। इसी से उनको पुत्र की शादी के लिये केवल दस दिन की छुट्टी मिली।

मथुरा के दस दिन के जीवन में कोई विशेष घटना नहीं हुई। वहां की दो घटनाओं का वर्णन चरित्रनायक ने किया है। पहिली घटना मथुरा के चौबों की अपने जजमानों के यहां माल उड़ाने की है। उसका चरित्र-नायक के चरित्र के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। दूसरी घटना गुसाईं जी की लीला की है। दक्षिण के एक डिपुटी कलेक्टर अपनी धर्मपत्नी, लड़के और लड़की के साथ काशी की तीर्थ-यात्रा के बाद व्रजयात्रा के लिये मुन्शीराम के साथ ही आये थे। लड़की १४-१५ वर्ष की आयु की थी और अंग्रेज़ी अच्छी पढ़ी हुई थी। एक दिन गोपाल-मन्दिर की झांकी थी। पांच बजे शाम का समय था। मुन्शीराम पुलिस के सफ़ेदपोश जमादार के साथ झांकी देखने लिये गया हुआ था। वह भीतर के महल की सैर कराने के लिये भी मुन्शीराम को अन्दर ले गया। अभी पांच ही मिनट हुए होंगे कि एक कमरे के भीतर से चीख सुनाई दी। कमरे का दरवाजा धक्का देकर खोला गया। भीतर पहुँच कर देखा तो एक अबला कुमारी को गुसाईं अपनी ओर खींच रहा था और वह उसके पापी पंजे से छुटकारा पाकर भागने की चेष्टा कर रही थी। पास ही एक अधेड़ स्त्री खड़ी थी। पापी ने अपना पाप छिपाते हुए कहा—"भगवान् के दर्शन से यह घबरा गई, मैं चुप कराता था।" कुमारी ने कहा—"इसका विश्वास मत कीजिये। मैं इस के चरणस्पर्श कर रही थी। तब इसने मुझे पकड़ लिया और मैं

चिल्लाई। मुझे मेरे पिता के पास ले चलो।" मुन्शीराम ने कन्या को पिता के पास पहुँचाया। पिता उसको नीचे कहीं न देख कर ऊपर ढूंढ़ रहे थे। डिपुटी कलेक्टर को इस घटना पर इतना खेद हुआ कि गुसाईं का मकान छोड़ कर दूसरी जगह चले गये। मूर्ति पूजा और तीर्थ यात्रा से भी उनका दिल ऐसा हट गया कि अन्य सब तीर्थों पर जाने का विचार त्याग कर वे मथुरा से सीधे अपने घर ही लौट गये।

——:o:——

दूसरा भाग

क.

—:—

गृहस्थ

१. द्वितीय आश्राम में प्रवेश, २. बरेली में अन्धकारमय जीवन, ३. इस बीच में कालेज की पढ़ाई, ४. दिव्य प्रकाश का दर्शन, ५. पतिव्रता पत्नी, ६. दो दिन की चाकरी, ६. फिर से विद्यार्थी जीवन, ८. स्वतन्त्र आजीविका, ६. वकालत की परीक्षा।

१. द्वितीय-आश्रम में प्रवेश

दूसरे भाइयों का विवाह जितनी छोटी अवस्था में हो गया था, उतनी छोटी अवस्था में मुन्शीराम का नहीं हुआ। इसका कारण यही था कि पहिले जिस कन्या से विवाह करने का निश्चय हुआ था उसका दैवयोग से देहान्त हो गया। उसके बाद जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार राय शालिग्राम ने अपनी लड़की के साथ मुन्शीराम का सम्बन्ध करने का निश्चय किया और माता-पिता से यह वचन ले लिया कि 'मुन्शीराम का कहीं और नाता नहीं किया जायगा।' उनका यह विचार था कि वर-वधू की आयु में पांच वर्ष का अन्तर होना चाहिये।

सगाई सम्वत् १९३२ में हो गई, विवाह सम्वत् १९३४ में हुआ। माताजी को लाड़ले बेटे की शादी का बड़ा शौक़ था। पर, उसको अपने हाथों सम्पन्न करना उनके भाग्य में नहीं बदा था। बलिया में प्राणोत्सर्ग होने से दो घण्टे पहले माताजी ने, पिताजी का हाथ अपने हाथ में लेकर, अपनी अन्तिम इच्छा इन शब्दों में प्रगट की थी—"एक ही इच्छा मन में रह गई। अपने मुन्शी का विवाह अपने हाथों से करती। आप भूलना मत। मेरे प्यारे बच्चे का विवाह उसी हौसले से करना, जैसा मैं करना चाहती थी। मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी, जब मेरा बच्चा वकील बनेगा और मैं अपनी पुत्र-वधू सहित उसका ऐश्वर्य देखूंगी। अच्छा, भगवान् की यही इच्छा है तो यही सही।" माता जी की इस इच्छा के अनुसार विवाह पूरी तय्यारी और धूमधाम के साथ किया गया। पिताजी को अधिक छुट्टी नहीं मिल सकी। वे विवाह से तीन ही दिन पहिले घर पहुंचे थे और विवाह के बाद तुरन्त ही वापिस लौट गये।

विवाह पौराणिक पद्धति से हुआ। नास्तिक होते हुए भी मुन्शीराम ने चुपके-से सब रस्में अदा कीं। बुढ़िया पुराण के आगे माथा टेका। वधू के साथ गाँठ जोड़े आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये पीर की कबर और देवमन्दिरों का भी चक्कर काटा। लोकाचार और शास्त्राचार के नाम से, जिसने जो कुछ भी करने को कहा, सब किया गया।

इतनी धूमधाम से विवाह होने पर भी मुन्शीराम को कुछ सन्तोष नहीं हुआ, अपितु निराशा ही हुई। मुन्शीराम का दिल और दिमाग़ अंग्रेज़ी उपन्यासों के रंग में रंगा हुआ था। अपनी भावी पत्नी के सम्बन्ध में जिस कल्पना के घोड़े दौड़ाते हुए वह घर पहुंचा था, विवाह के बाद वह मृगतृष्णा ही साबित हुई। उपन्यासों की नायिकाओं के सब गुणों से सम्पन्न स्त्री के साथ आनन्दमय भावी जीवन बिताने के सुनहले विचार इन्द्र-धनुष की तरह आंखों के सामने चमक रहे थे, पर विवाह के बाद पता चला कि वह सब स्वप्नावस्था की सृष्टि थी।

चरित्रनायक ने इस सम्बन्ध में लिखा है—"मैं विवाह के धूमधड़के से निवृत्त हो कर बहुत निराश हुआ। मैंने समझा था कि वधू युवा मिलेगी! परन्तु वह अभी बाल्यावस्था में ही थी। फिर यह निश्चय किया कि मैं उसे स्वयं पढ़ाऊँगा और इस विचार ने मुझे बहुत सन्तोष दिया। मैंने उसी समय बालविवाह की कुप्रथा के भयङ्कर परिणाम अनुभव किये थे और इसी लिये आर्यसमाज में प्रवेश करते ही मैंने इसके संशोधन में बड़ा भाग लिया। मेरा निश्चय है कि यदि उस समय विवाह का ख़्याल ही मेरे अन्दर न डाला जाता, तो काशी से ग्रेज्युएट बन कर मैं किसी अन्य ऊँची दशा में चला जाता। कम से कम यदि धर्मपत्नी की आयु सोलह वर्ष की होती और परस्पर की प्रसन्नता

से आंखें खोल कर विवाह होता तो मैं उस अन्धकूप में गिरने से बच जाता, जिसमें आगामी दो-ढाई वर्ष गिरा रहा।"

२. बरेली में अन्धकारमय जीवन

विवाह और विवाह के बाद डेढ़ वर्ष तलवन में बिता कर मुन्शीराम की इच्छा शिक्षाध्ययन के लिये बनारस जाने की थी। पर, पिताजी का आदेश मिला कि बनारस न जाकर बरेली पहुंचा जाय। सम्वत् १९३४ के आश्विन मास में बरेली जाना हुआ। बरेली का सामाजिक जीवन उस समय नैतिक दृष्टि से बहुत पतित था। रईसी का लक्षण कुछ विचित्र-सा ही था। 'दो घोड़ों वाली चौपहिया गाड़ी, घर में डाली हुई वेश्या और सिर पर किये हुए क़र्ज़ के बिना सेठ, साहूकार और ज़मींदार को भी 'रईस' का पद नहीं मिलता था। ऐसे वातावरण के प्रभाव से मुन्शीराम का बचना कठिन क्या असम्भव ही था। मुन्शीराम के चरित्र में उस समय सब से बड़ी कमज़ोरी यही थी कि आस-पासके वातावरण से ऊपर उठना उसके लिये असम्भव था। "गङ्गा गये गङ्गादास और जमुना गये जमुनादास" की लोकोक्ति उस पर ठीक बैठती थी। जब कि बनारस में रह कर गुण्डों का-सा वेष धारण करने में संकोच नहीं किया था, बलिया में लाठी-गतका के हाथ तुरन्त सीख लिये थे, मामा की सङ्गति से शराब के व्यसन की शिक्षा ग्रहण की थी, जुआ भी

एक ऐसे ही साथी की सङ्गति का फल था और हुक्का गुड़गुड़ाना भी ऐसे ही सीखा था, तब भला बरेली के सभ्य-समाज की रईसी का रंग मुन्शीराम पर क्यों न चढ़ता ? पिताजी बरेली शहर के कोतवाल क्या थे, राजा थे; और मुन्शीराम युवराज । ऐसी स्थिति में रईसों के साथ मेल-मिलाप होने का रास्ता बिलकुल खुला था । इसी मे सबसे पहिली दोस्ती राय छदम्मीलाल साहब (कायस्थ) से हुई, जो रईसी की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार डबल रईस कहे जा सकते थे और उनके यहाँ एक की जगह चार-पाँच फ़िटन गाड़ियाँ थीं, दो हाथी बँधे रहते थे और एक के बजाय दो वेश्यायें उन्होंने अपने घर में डाली हुई थीं । अन्य भी कई-एक साधारण रईसों से दोस्ताना होगया था, पर राय छदम्मीलाल के बाद उल्लेखनीय नाम हकीम लल्ला का है। उनका मकान मुन्शीराम के मकान के साथ ही लगा हुआ था । कमाल के हकीम थे । एक बार मुन्शीराम को भी सख़्त बीमारी से उन्होंने बचाया था । हकीमी की बदौलत ही लल्लाजी के यहां बिना पैसा खर्च किये ही नाच-मुजरा हो जाता था और दक्षिणा में मिठाई के थालों की भेंट भी पहुंच जाती थी ।

रायसाहब छदम्मीलाल की फ़िटन गाड़ी प्रतिदिन सवेरे हवाखोरी के लिये आ जाती । कोई सप्ताह नाच-रँग से खाली न जाता । उस पर हुकूमत का नशा । बस, फिर कहना ही क्या था ? इलाहाबाद के कालेज के एक वर्ष के जीवन को छोड़

कर बरेली का बाक़ी सब जीवन इसी अन्धकारमय अवस्था में बीता। इलाहाबाद में परीक्षा में असफल हो जाने का परिणाम और भी बुरा हुआ। परीक्षा की असफलता के दुःख को "ऐक्शा नम्बर वन" की बोतल के प्यालों से धोने की कोशिश की जाने लगी। रात को बोतल और गिलास मेज़ पर रख, वैसी ही पुस्तकें हाथ में लेकर, समय बिताना शुरू किया। एक बजे तक पूरी बोतल समाप्त हो जाती। पिता जी नित्य-कर्म से निवृत्त हो सवेरे पांच बजे कोतवाली चले जाते। दिन का भोजन वहां ही करते। रात को आठ बजे घर आते और भोजन कर के नौ बजे सो जाते। फिर सारी रात पर मुन्शीराम का ही अधिकार रहता। पिता जी अब भी यही समझते रहे कि पुत्र कालेज की पढ़ाई में लगा रहता है। इधर रात को प्याले के अलावा रईसों की महफ़िलों में भी आना-जाना शुरू हुआ। सात मास तक यह क्रम बराबर जारी रहा। एक बार लाला भाइयों (कायस्थों) के यहां की शादी की महफ़िल में पियक्कड़ों की दुर्गति देख कर वैसी महफ़िलों से कुछ घृणा हुई। पर, शराब का नशा उस घृणा से भी नहीं टूटा। घर लौट कर उसी दिन ख़रीद कर लाई हुई शराब का जाम पिया। उसने अन्धा कर दिया। चरित्रनायक ने लिखा है—"मैं अपने जीवन में दूसरी बार ऐसा पतित हुआ कि पुरानी गिरावट का संस्कार फिर जाग खड़ा हुआ। घण्टों बेहोश सा पड़ा रहा, परन्तु

आत्मा में कोलाहल मचा हुआ था। प्रातःकाल भ्रमणार्थ दूर निकल गया और एकान्त में बैठ कर अनुताप करता रहा। उस दिन शाम को ही लौट कर भोजन किया। दूसरे दिन से ही काया फिर पलट गई। नाच, तमाशे, दावतों में जाना बन्द हुआ और फ़िलासफ़ी का स्वाध्याय शुरू हो गया। बोतल और गिलास भी कुछ काल के लिये विदा हो गये।"

३. इस बीच में कालेज की पढ़ाई

नहीं मालूम क्यों मुन्शीराम को कालेज की शिक्षा में यत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। बनारस की आकस्मिक असफलता की घटना पाठक पीछे पढ़ चुके हैं। इस बीच में बरेली रहते हुए इलाहाबाद जाकर एफ़० ए० पास करने का जो यत्न किया, उस में भी वैसा ही विघ्न आ उपस्थित हुआ। सफलता की चोटी पर से मुन्शीराम का पैर फिसल गया। पहले तो पिता जी ने मोहवश लाड़ले बेटे को पढ़ने के लिये कहीं जाने न दिया, फिर बरेली की संगति में पड़ कर लाड़ले बेटे का अपना ही दिल मचल गया। जब पढ़ाई का समय आया तब बनारस जाकर निचली श्रेणी में भरती होने में लज्जा मालूम होने लगी। स्वयं इलाहाबाद जाने का निश्चय किया। इलाहाबाद जाकर सम्वत् १९३५ के पौष मास में म्योर सेन्ट्रल कालेज में नाम लिखवाया। यहां भी अध्यापकों की संगति अच्छी

थी। मुन्शीराम को अध्यापकों का प्रेम और कृपा प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगा। मद्यपान का व्यसन एक दम छूट गया। विद्यार्थियों की सभाओं में होने वाले वादविवादों में विशेष भाग लेना शुरू किया। कालेज का जीवन सम-अवस्था में चलने लगा और सारा समय विद्या की चर्चा में ही व्यतीत होने लगा। कालेज के इस जीवन का प्रभाव छुट्टियों में बरेली आने पर भी क़ायम रहा। डेढ़ मास बरेली में बिताने पर भी मद्यप और नाच-रंग के प्रमी मित्रों की संगति से बचा रहना एक असाधारण घटना थी। परीक्षा पास आने पर उस के लिये सिरतोड़ कोशिश की जाने लगी। रात को तीन घन्टे से अधिक सोना नहीं होता था। स्वास्थ्य गिरने लगा। परीक्षा के तीन दिन तो निकल गये, पर रात को ज्वर ने आ दबाया। उसकी कुछ भी परवा न कर चौथे दिन भी परीक्षा-भवन को चल दिये। पर, परीक्षा-भवन में बीमारी ने ऐसा ज़ोर पकड़ा कि आंखें बन्द हो गईं। डाक्टर को बुलाया गया। ज्वर कम नहीं हुआ। ज्वर सरसाम के रूप में परिणत हो गया। परिणाम यह हुआ कि अन्तिम प्रश्नपत्र रसायन का बिना किये ही रह गया। परीक्षा-फल में प्रथम तीन विषयों में ७० प्रति शतक अङ्क प्राप्त किये, न्याय में ५० में से २५ और रसायन में शून्य। रसायन और न्याय को मिला कर पास होने के लिये आठ अँकों की कमी रह गई। यूनीवर्सिटी से लिखा पढ़ी करने

का भी कुछ फल न हुआ। केवल आठ अंकों के लिए ऐफ़० ए० की परीक्षा में सफलता नहीं मिली।

फिर सात मास बरेली के अन्धकार में बिता कर ऐफ़० ए० की परीक्षा देने की सूझी। पर, वह किसी कालेज के द्वारा ही दी जा सकती थी। मुन्शीराम के बनारस के सहपाठी और अन्यतम मित्र श्री रमाशङ्कर मिश्र एम० ए० सर सय्यद अहमद के अलीगढ़ के मुहम्मडन कालेज में गणिताध्यापक थे। उनको लिखने पर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मुन्शीराम को अपने पास बुला लिया। पर, वे भी नम्बर एक के पियक्कड़ और रंगीले युवक थे। संगति ने अपना रँग जमाया। शराब तो चलती ही थी, एक दिन मुजरा भी हो गया। अलीगढ़ ने प्रयाग के प्रभाव को बिलकुल मिटा दिया। यहां भी कालेज की पढ़ाई मुन्शीराम की क़िस्मत में लिखी न थी। कालेज खुला और एक मास के लिए फिर बन्द हो गया, क्योंकि अलीगढ़ में हैज़ा फैल चला था। निराश मुन्शीराम को बरेली लौटना पड़ा। बरेली का घोर अन्धकारमय जीवन इसी निराशा का दुष्परिणाम था।

४. दिव्य प्रकाश का दर्शन

ऐसी घोर अन्धकारमय पतित अवस्था से ऊपर उठ कर मुन्शीराम को महात्मा मुन्शीराम और बाद में मृत्युञ्जय स्वामी

श्रद्धानन्द बनना था, यह कौन जानता था ? नास्तिक और इस प्रकार पतित होने पर भी मुन्शीराम का जीवन बिलकुल ही ऊसर नहीं था। उस पर संगति का सहज में कैसा असर पड़ता था, पाठकों ने पीछे भली प्रकार देख लिया है। वर्तमान युग के निर्माता, विनष्टप्राय भारत की पुरातन आर्य संस्कृति के पुनरुद्धारक, अगाध पांडित्य एवं अलौकिक तार्किक शक्ति से सामाजिक एवं धार्मिक अन्धकार को विलुप्त करने की चेष्टा में सदा रत रहने वाले और अपने व्यक्तिगत प्रभाव से सैकड़ों-हजारों की कायापलट करने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती की सत्संगति का ही यह परिणाम था कि उनके पदचिन्हों पर चलते हुए अपने जीवन को सफल बना कर उसको उनके मिशन की ही पूर्ति में लगा देने वालों में महात्मा मुन्शीराम किंवा स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी का नाम अनन्त ताराओं में चन्द्रमा के समान चमक रहा है। इसके सम्बन्ध में चरित्रनायक ने स्वयं ही लिखा है—

"ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे इकतालीस वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पट पर अब तक, ज्यों की त्यों, अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरणमात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है ? परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम

विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है ? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठा कर सच्चा जीवन लाभ करने के योग्य बनाया ?" पहिले ही दर्शन के बारे में चरित्र-नायक ने लिखा है—"उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई; परन्तु जब पादरी टी० जे० स्काट और दो तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा, तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट भी वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान दंग हो जायँ। व्याख्यान परमात्मा के निज नाम 'ओ३म्' पर था। वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था।"

यह सत्संग भी मुन्शीराम को अनायास ही प्राप्त हो गया था। १४ श्रावण सम्वत् १९३६ के दिन महर्षि दयानन्द बरेली पधारे थे। उनके पहुंचते ही पिता जी को हुक्म मिला कि सभा में किसी प्रकार की गड़बड़ न होने देने का सब प्रबन्ध करें। प्रबन्ध के लिये वे स्वयं ही गये। उन पर पहले दिन के व्याख्यान का इतना प्रभाव पड़ा कि रात को घर आते ही अपने नास्तिक

पुत्र से उसके सुधरने की कुछ आशा रखते हुए कहा—"बेटा मुन्शीराम! एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगीराज हैं। उनकी वक्तृता सुन कर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।" केवल संस्कृत जानने वाले साधु के मुख से बुद्धि की कोई बात सुनने की आशा न रखते हुए भी वहां पहुंचने के बाद दस ही मिनट के व्याख्यान का नास्तिक हृदय पर असाधारण प्रभाव पड़ा। व्याख्यानों का सिलसिला जारी रहा और मुन्शीराम का हृदय महर्षि की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता चला गया जैसे कि भटके हुए जहाज़ का कप्तान प्रकाशस्तम्भ का प्रकाश पाकर बड़ी तेज़ी से अपने जहाज़ को उस ओर ले जा रहा हो। नमस्ते, पोप, पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी के बाद मूर्ति-पूजा और अवतारवाद के खण्डनात्मक व्याख्यान शुरू हुए। आस्तिक पिता तो इतने घबरा गये कि व्याख्यानों में जाना ही बन्द कर दिया और नास्तिक पुत्र की श्रद्धा सूर्योदय के साथ खिलते हुए सूर्यमुखी की तरह खिल उठी। मुन्शीराम दिन का भोजन करके दोपहर को ही महर्षि के निवास-स्थान, बेगम-बाग़ की कोठी, पर पहुंच कर भीतर जाने की प्रतीक्षा में ड्योढ़ी पर बैठ रहता। २॥ से ४ बजे तक शंका-समाधान होता था। लोग अपने सन्देह प्रगट करते और महर्षि उनका निराकरण करते थे। भीतर जाने की आज्ञा मिलने पर जो पहिला व्यक्ति महर्षि को प्रणाम करता, वह उनका वह

शिष्य होता, जिसने निकट-भविष्य में ही उनके मिशन के लिये सर्वस्व न्यौछावर कर अपने को अमर बना लिया। वह चुपके-से बैठा हुआ सब प्रश्नोत्तर सुनता रहता। वहाँ से व्याख्यान सुनने के लिये सीधा टाउन-हाल पहुंच जाता। व्याख्यान के बाद भी तब तक वहां खड़ा रहता, जब तक कि महर्षि वहां से चल न देते। २५-२६ और २७ अगस्त को पुनर्जन्म, ईश्वरावतार और मनुष्य के पाप बिना फल भोगे क्षमा किये जाते हैं कि नहीं, इन विषयों पर पादरी स्काट के साथ शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थ में लेखक का काम करने वालों में उनका यह भावी शिष्य भी था। पर, दूसरी रात के शास्त्रार्थ के बाद सन्निपात-आक्रान्त हो जाने से वह तीसरे दिन के शास्त्रार्थ में शामिल न हो सका और न फिर महर्षि के दर्शन का लाभ ही प्राप्त कर सका। मुन्शीराम की काया पलटने में महर्षि के इस सत्संग ने जादू का काम किया और यदि कहीं मुंशीराम को यह सत्संग प्राप्त न हुआ होता तो बरेली के अन्धकारमय जीवन से उसका उद्धार होना भी सम्भव न था। चरित्रनायक ने स्वयं लिखा है—"इन दिनों में ऋषि-जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनायें मैंने देखीं, जिनमें से कुछेक का प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आंखों के सामने घूम रही हैं।"

यह सत्संग अधिक दिन नहीं निभा। मुन्शीराम को बीच में ही ज्वर ने आ दबाया और महर्षि बरेली से शाहजहांपुर चले

गये। पर श्रद्धा का भाव मुन्शीराम के हृदय में घर कर गया। नाच-तमाशों से भी कुछ विरक्ति हो गई और मद्यपान का व्यसन भी कुछ दब गया। पिताजी इसको संन्यासी के सत्संग का ही परिणाम समझते थे और मूर्ति-पूजा तथा अवतारवाद आदि के खण्डन से असन्तुष्ट होते हुए भी उस संन्यासी को अपने पुत्र के इस सुधार के लिये धन्यवाद दिया करते थे। उपजाऊ भूमि में वे बीज इसी समय बखेरे गये थे, जो कि आगे चल कर उस उद्यान के रूप में प्रगट हुए जिसकी शीतल छाया में बैठ कर आत्म-सुधार करने का अनुपम लाभ हजारों व्यक्तियों को ही नहीं, सैकड़ों परिवारों को भी मिला।

५. पतिव्रता पत्नी

गहरे अन्धकार से ऊपर उठते हुए मुन्शीराम को विशेष सहारा देने वाली दो पारिवारिक घटनायें थीं। बीमारी से उठने के बाद पिताजी ने मुन्शीराम को अपनी धर्मपत्नी को बरेली ले आने के लिये घर भेजा। मुन्शीराम घर से ससुराल (जालन्धर) जाकर अपनी धर्मपत्नी शिवदेवी को तलवन होते हुए बरेली लिवा लाये। शिवदेवी की आयु कुछ अधिक नहीं थी और शिक्षा का तो सर्वथा अभाव ही था। फिर भी हिन्दू नारी की पति-भक्ति की पवित्र भावना उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थी।

एक दिन मुन्शीराम साथी-संगियों की कुसंगति में पड़कर ख़ूब पी गये। शराब ने अपना पूरा रंग जमाया। उसी नशे में दो मित्रों के भुलावे में पड़कर एक वेश्या के घर भी जा पहुँचे। उस समय तक केवल महफ़िलों में नाच-तमाशा देखा था, पर वेश्या के घर पर जाने का यह पहिला ही अवसर था। न मालूम भीतर क्या भाव पैदा हुए कि वहाँ अधिक देर नहीं ठहरे। 'नापाक' 'नापाक' कहते हुए नीचे उतर आये। घर पहुँचे, तब भी नशा नहीं उतरा था। बैठक में जाकर तकिये पर सिर देकर पड़ गये। नौकर ने जूते उतारे। नौकर के सहारे ही सीढ़ियों से ऊपर गये। बरामदे में पहुँचते ही उलटी होने लगीं। पत्नी ने आकर सम्हाला, मुँह धुलाया और मैले कपड़े उतारे। बिस्तर पर लिटा कर माथा और सिर दबाना शुरू किया। घृणा, उपेक्षा या तिरस्कार की वहां गन्ध भी नहीं थी। स्नेहमयी माता की ममता, सहोदरा बहिन का प्रेम, आदर्श पत्नी की भक्ति, स्वामि-भक्त सेवक की सेवा और परोपकारी पुरुष की उदारता के सब भावों का उस व्यवहार में कुछ अभूत-पूर्व मिश्रण था। न सोने वाले को भी ऐसे समय नींद आ जाय। मुन्शीराम की पथराई आंखें गहरी नींद में बन्द होगईं। रात के एक बजे नींद खुली तो शिवदेवी बैठी हुई पैर दबा रही थी। पानी मांगने पर देवी ने गरम दूध का भरा हुआ गिलास मुंह को लगा दिया। नशा दूर हुआ। उस समय तक बराबर जागने और भोजन न करने का

कारण पूछने पर देवी ने कहा—'आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती ? अब इतनी देर में भोजन करने में कुछ रुचि नहीं।' मुन्शीराम ने अपने पतन की सब कहानी सुना कर क्षमा मांगी, तो देवी ने तुरन्त कहा—'आप मेरे स्वामी हो। यह सब सुनाकर मेरे सिर पाप क्यों चढ़ाते हो ? मुझे तो माता का उपदेश यही है कि आप की नित्य सेवा करूँ।' चरित्र-नायक ने लिखा है—"उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन मेरे लिये जीवन ही बदल गया।"

दूसरी घटना शिवदेवी के उदार चरित्र पर और अधिक प्रकाश डालती है। शराब के पारसी व्यापारी का बिल इतना बढ़ गया कि तीन सौ रुपये मुन्शीराम को देने होगये। उसको तो किसी तरह कुछ दिन के लिये टाल दिया। पर, सिर पर एक चिन्ता सवार होगई। शिवदेवी ने उसको भांप लिया और भोजन के समय कारण जानने के लिये आग्रह किया। चिन्ता का सब कारण मालूम कर भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करने से पहिले ही देवी ने हाथ के कड़े उतार कर सेवा में उपस्थित कर दिये। मुन्शीराम ने संकोच-भाव से कहा—"यह कैसे हो सकता है ? तुमको आभूषित करने के स्थान में तुमको आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूं ?" देवी ने तुरन्त दूसरी जोड़ी दिखा कर कहा—"एक जोड़ी पिताजी ने और दूसरी श्वसुर जी ने दी थी। इनमें से एक व्यर्थ पड़ी है। यह

मेरा माल है। जब तन तक आप का है, तब इसके लेने में संकोच क्यों है ? आपकी चिन्ता दूर करने को यह कोई महँगा सौदा नहीं।" कड़े बेच कर बिल अदा किया गया। बाक़ी रुपये शिवदेवी की सन्दूक़ची में ही रख दिये और यह संकल्प किया कि कमाने के बाद इस रक़म को पूरा करके पहिले ये जोड़ी बनवाई जायगी। घटना साधारण है, किन्तु मुन्शीराम के जीवन को बदलने में इस घटना का असाधारण हाथ है। स्त्री-जाति के प्रति मुन्शीराम का दृष्टिकोण उपर्युक्त दोनों घटनाओं से बदल गया। अंग्रेज़ी उपन्यासों की नायिकाओं के चंचल-चरित्र का जो चित्र आंखों के सामने सदा घूमा करता था और उसी से अपनी स्त्री के सम्बन्ध में भी निराशा की जो हलकी-सी रेखा कभी कभी सामने खिंच जाया करती थी, वह सदा के लिये दूर होगई। गृहस्थ की समस्त कल्पना-सृष्टि का अन्त होकर वास्तविकता का कुछ ज्ञान हुआ। हवाई क़िले बांधने छोड़ दिये। शिवदेवी को शिक्षिता एवं गुणवती बनाने का यत्न किया जाने जाने लगा।

६. दो दिन की चाकरी

कालेज की ऊँची पढ़ाई मुन्शीराम के भाग्य में नहीं लिखी थी। पिता जी ने समझ लिया कि पुत्र कालेज की पढ़ाई के अयोग्य है। बड़े भाई तलवन में ज़मींदारी और साहूकारी का

सब काम सम्हालते थे। दूसरे और तीसरे भाई मिर्ज़ापुर और हमीरपुर में थानेदार थे। चौथे पुत्र को भी पुलिस के महकमे में भर्ती कराने के लिये उस समय के कमिश्नर एडवर्ड्स के पास ले जाया गया। पिताजी उसके कृपापात्र थे और मुन्शीराम की अंग्रेज़ी बात-चीत से भी वह बहुत प्रसन्न हुआ। नायब तहसील-दार छुट्टी पर जा रहा था। इसलिये मुन्शीराम को तीन मास के लिये नायब तहसीलदार नियुक्त कर उसका नाम तहसीलदारी की उम्मीदवारी के लिये भेज दिया। तहसीलदार मुनीरुद्दीन के पिता श्री नानकचन्द जी के पुराने स्नेही थे। इसलिये मुन्शीराम को तहसीलदारी का काम वह बड़े प्रेम और तत्परता से सिखाने लगा। एक मास बाद तहसीलदार के छुट्टी जाने पर उसका स्थानापन्न भी मुन्शीराम को ही बनाया गया। पुत्र को इस प्रकार उन्नति करते देख पिता का प्रसन्न होना स्वा-भाविक था। पर, पुत्र के अन्तःकरण के बदलते हुए भावों को समझना उनके लिये कठिन था। तहसीलदारी के पन्द्रह दिनों में कलक्टर और ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट से सीधा व्यवहार होने पर मुन्शीराम को अनुभव हुआ कि लोग जिस नौकरी में इतना मान-सन्मान समझे हुए हैं, वह अपमान के ज़हर से भरा हुआ कांच का प्याला है। तहसीलदार के छुट्टी से लौटने पर उससे अपने मन का सब भाव कह दिया। उसके समझाने बुझाने पर किसी तरह एक मास और पूरा किया, पर उसके

बाद एक ऐसी घटना हुई कि कि उससे मुन्शीराम का दिल नौकरी से बिलकुल ही हट गया। बरेली से आठ या दस मील पर सेना पड़ाव डालने वाली थी। रसद वग़ैरह का सब प्रबन्ध नायब तहसीलदार के नाते मुन्शीराम पर आ पड़ा। फ़ौज के गोरों ने अण्डे वाले के अण्डे बिना क़ीमत चुकाये लूट लिये। कर्नल के पास शिकायत ले जाकर मुन्शीराम ने साफ़ ही कह दिया कि यदि अण्डे वाले ग़रीब के दाम न चुकाये गये तो मैं सब दूकानदारों को लौटा दूंगा। कर्नल को ऐसे स्पष्टवादी काले आदमी से पहिली ही बार पाला पड़ा होगा। उसने आग-बबूला होकर कहा—"तुम ऐसा करोगे तो हानि उठाओगे। तुम्हारी इस ग़ुस्ताख़ी का मतलब क्या है ?" इस पर मुन्शीराम भी अपने को सम्हाल न सके और बोले—"मैं अपने आदमियों को ले जा रहा हूं ! मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हैं, करें।" कर्नल आगे बढ़ा। पर, वह था निहत्था और मुन्शीराम के हाथ में था हण्टर। हण्टर सम्हाला और रकाब पर पैर रखते हुए अपने सब आदमियों को लौटने का हुक्म देकर घोड़े को एड़ दी। इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वजों की निर्भयता, वीरता और स्पष्टवादिता सबकी सब विरासत में केवल मुन्शीराम को ही मिली थीं। जहां दो बड़े भाई पुलिस की नौकरी में सांसारिक दृष्टि से भी सफल हुए, वहां मुन्शीराम उनसे ऊँचे ओहदे पर नियुक्त होने पर भी तीन

माह से अधिक पुलिस की चाकरी नहीं निभा सके। लौटने पर तहसीलदार को जब घटना सुनाई, तो उसके चेहरे का रंग एक दम बदल गया। रात को उक्त घटना की सब रिपोर्ट लिखी। उर्दू की प्रति तहसीलदार को देकर अंग्रेज़ी की प्रति लेकर कलक्टर के बंगले पर पहुँचे। वहां कर्नल पहिले ही से उपस्थित था। कलक्टर ने देखते ही कर्नल-साहब को अपमानित करने का कारण पूछा और कर्त्तव्य-पालन से विमुख होने के लिये सज़ा देने की धमकी दी। मुन्शीराम ने रिपोर्ट पेश करते हुए कहा कि इसको पढ़ने के बाद न्याय कीजियेगा। रिपोर्ट पढ़ने और कर्नल के साथ एकान्त में परामर्श करने के बाद कलक्टर ने मुन्शीराम को कर्नल से माफ़ी मांगने के लिये कहा। मुन्शीराम को बैठने तक के लिये नहीं कहा गया। इस व्यवहार ने अपमान के गहरे घाव पर नमक छिड़कने का काम किया। मानसिक अवस्था के उत्तेजित होने पर भी कुछ सम्हल कर मुन्शीराम ने साहब को सलाम किया और तुरन्त कमरे से बाहर आकर तहसील का रास्ता पकड़ा। इधर कमिश्नर का सवार बुलाने आया हुआ था। कमिश्नर मुन्शीराम को स्थिर नौकरी दिलाने की फ़िक्र में था और फ़िलहाल बाहिर की तहसील में ख़ाली जगह पर भेजना चाहता थां। कर्नल के साथ की सब घटना और कलक्टर का सब व्यवहार बता कर मुन्शीराम ने नौकरी से सदा के लिये छुट्टी लेनी चाही। पर, कमिश्नर ने छुट्टी देने से इन्कार किया और उक्त घटना में

मुन्शीराम को बेदाग़ बचा दिया। नायब तहसीलदार के छुट्टी से लौटते ही उसको चार्ज सम्हलवा कर मुन्शीराम ने चाकरी से अपना पिण्ड छुड़ाया। पर, पुत्र को किसी न किसी काम में लगाने की चिन्ता पिताजी को बराबर बनी रही। पुलिस की नौकरी के सिवा उनकी दृष्टि और किस काम पर जा सकती थी?

सम्वत् १९३७ के प्रारम्भ में ही नानकचन्द जी की बदली ख़ुर्जा को होगई, जहां कि उन्होंनें सबडिवीज़नल पुलिस अफ़सर का काम सम्हाला। मुन्शीराम भी धर्मपत्नी-सहित पिता जी के साथ ख़ुर्जा गये। पहिले के पुलिस इन्स्पैक्टर जनरल और तत्कालीन बोर्ड आफ़ रेवेन्यू के उच्च अफ़सर मि० सी० पी० कारमाइकेल नानकचन्द जी के पुराने सुपरिचित व्यक्ति थे। वह जब दौरे पर बुलन्दशहर आये तो नानकचन्द जी मुन्शीराम को साथ लेकर उनके पास गये। उन्होंने मुन्शीराम को १५० से ३५० रुपये के ग्रेड में ले लेने का आश्वासन दिया और यह भी कहा कि चार बरस में मुन्शीराम डिपुटी कलक्टर बन जायगा। मुन्शीराम ने दो मास में इलाहाबाद पहुँचने की प्रतिज्ञा करके उस समय तो छुट्टी ली। पर, मुन्शीराम का भाग्य-चक्र दूसरी ओर घूमने वाला था। पुलिस के महकमे की गन्दी और बदनाम नौकरी में अपना जीवन बरबाद करना उसके प्रारब्ध में नहीं लिखा था। सेशन-सिपुर्द किये गये ख़ून के एक मामले की पैरवी के लिये नानकचन्द जी को मेरठ जाना पड़ा और वहां

अकस्मात् जालन्धर के वकील श्री डूंगरमल से मुलाक़ात होगई। उनसे बातचीत करने पर नानकचन्द जी ने निश्चय कर लिया कि मुन्शीराम से वकालत की परीक्षा पास कराई जाय। मेरठ से लौटते ही उन्होंने मुन्शीराम के सामने अपना विचार प्रगट किया। अन्धे को क्या चाहिये ? दो आंखें। मुन्शीराम की प्रसन्नता का पारावार न रहा। चाकरी तथा कारमाइकेल-साहब के साथ की हुई प्रतिज्ञा से भी मुक्ति मिली और उसका दोष भी अपने सिर नहीं पड़ा। बड़े भाई घर से अलग होकर अपना स्वतन्त्र कारबार करने लग गये थे। इसलिये फ़िलहाल घर और जायदाद का प्रबन्ध करने के लिये मुन्शीराम को पिताजी ने घर भेज दिया। साथ में यह भी ताकीद कर दी कि पौष सम्वत् १९३७ में लाहौर में क़ानून का अध्ययन अवश्य शुरू कर दिया जाय। पांच-छः महीने साहूकारी और ज़मींदारी में निकल गये। पढ़ने-लिखने का काम कुछ था नहीं। सारा दिन शतरंज के खेल में बीतने लगा। अन्य व्यसन छूट जाने पर भी मद्य मांस का सेवन नहीं छूटा।

७. फिर से विद्यार्थी-जीवन

पिता जी के आदेशानुसार पौष सम्वत् १९३७ के दूसरे सप्ताह में क़ानून की परीक्षा की तय्यारी करने के लिये मुन्शीराम लाहौर चले गये। कानून की श्रेणी में भरती तो हो गये; पर

परीक्षा के लिये आवश्यक तीन-चौथाई व्याख्यानों की संख्या पूरी नहीं हुई। उसमें पांच की कमी रह गई। इसके लिये मुन्शीराम इतने दोषी नहीं थे, जितना कि घर वाले थे। पहिले के दस पन्द्रह दिन मकान ढूंढने में लग गये। कुछ ही दिन पढ़ाई करने के बाद अंग्रेज़ी उपन्यासों तथा कथा-कहानियों के पढ़ने का शौक़ फिर जाग उठा और थोड़ी आवारागर्दी ने भी आ घेरा। विद्यार्थी-जीवन शुरू करने के बाद भी घर के काम की सब ज़िम्मेवारी मुन्शीराम पर थी। होली पर घर के काम का निरीक्षण करने आये तो चार-पांच दिन अधिक लग जाना साधारण बात थी। आषाढ़ में बड़े भाई मूलराज की लड़की का विवाह आ गया। पिताजी की आज्ञा पर उसके प्रबन्ध के लिये छुट्टी लेकर तलवन जाना पड़ा। पढ़ाई के कुछ दिन ख़राब होने ही थे। मुन्शीराम को पिताजी ने भाई आत्माराम की पत्नी को उनके पास पहुंचाने का आदेश दिया। भाई ग़ाज़ीपुर ज़िले में किसी थाने में थानेदार थे। बनारस, बरेली और ख़ुर्जा आदि में पुराने मित्रों से मिले बिना कैसे रहा जा सकता था? लम्बी यात्रा में इसी से दुगना समय लग गया। पिताजी पेंशन के लिये दरख़्वास्त दे चुके थे। इस लिये ख़ुर्जा से लौटते हुए पिताजी ने बहुत-सा सामान घर पहुंचाने के लिये साथ में कर दिया। इस यात्रा से व्याख्यानों की संख्या और भी कम हो गई। इस बार घर से लाहौर जाते हुए मुन्शीराम शिवदेवी को भी साथ

ले गये। पढ़ाई का काम नियमपूर्वक चलने लगा। परीक्षा में महीना भर रहा होगा कि प्रोफ़ेसर छुट्टी पर चले गये। उनके स्थान पर कोई दूसरा प्रोफ़ेसर नहीं आया। व्याख्यानों की कमी का पूरा होना असम्भव हो गया। परीक्षा की सब तय्यारी करी-कराई रह गई। आंखों के सामने नाचती हुई सफलता निराशा में परिणत हो गई। वकील बनने की अभिलाषा मन की मन में रह गई। पर, इस पर भी हिम्मत नहीं हारी। पौष १९३८ में फिर क़ानून की श्रेणी में प्रविष्ट हो कर नियमपूर्वक व्याख्यानों में शामिल होना शुरू किया। उपस्थिति ८९ प्रति सैंकड़ा कर लेने के बाद घर में ही तय्यारी करने के विचार से मुन्शीराम घर चले आये। तलवन में शिक्षित मण्डली का अभाव था। इस लिये जालन्धर अधिक पसन्द आया। पर, जालन्धर की संगति सत्संगति साबित न हो कर कुसंगति ही साबित हुई। ससुराल में मांस-भक्षण का बहुत अधिक प्रचार था और मद्य-पान सभ्यता का पहिला लक्षण माना जाता था। मुन्शीराम सरीखे व्यक्ति का इस प्रलोभन से बचना सम्भव नहीं था। जालन्धर का सब समय प्रायः खाने-पीने और मौज उड़ाने में ही बीता। यह अनुभव होने पर कि जालन्धर में परीक्षा की तय्यारी होना सम्भव नहीं; मुन्शीराम फिर लाहौर चले गये। यहां जीवन कुछ सुधरा, मद्यपान का व्यसन भी कुछ दबा और आर्यसमाज एवं ब्राह्मसमाज के सत्संगों में भी आना-जाना शुरू

किया। पर, परीक्षा की तय्यारी में मन नहीं लगा। परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सम्भावना न होते हुए भी परीक्षा में बैठ गये। अनुत्तीर्ण होना निश्चित था। पिताजी को इस समाचार का तब पता लगा, जब वे छमाही की पेंशन लेने जालन्धर आये। पुत्र को उदास देख अपने साथ ही तलवन ले गये। इसी समय मुन्शीराम के प्रथम सन्तान हुई, जिसका नाम वेदकुमारी रखा गया। तलवन में तीन मास गृहस्थ के आनन्द में बीते। प्रथम सन्तान के लाड़-प्यार ने सांसारिक चिन्ता और परीक्षा की असफलता से पैदा हुई सब निराशा को एक बार तो भुला ही दिया। पर, इस प्रकार सांसारिक चिन्ताओं से सदा के लिये किसको छुट्टी मिली है? संसार के द्वन्द्वों से संसार में रहते हुए किसने छुटकारा पाया है? मुन्शीराम का यह चिन्ता-रहित आनन्दमय गृहस्थ-जीवन अधिक दिन नहीं निभ सका।

भाई आत्माराम भी नौकरी छोड़ कर घर चले आये। पिताजी के साथ दो परिवार रहने लगे। शिवदेवी जी की आज़ादी में विघ्न पड़ने लगा। इससे वे तो न घबराईं, पर मुन्शीराम घबरा उठे और स्वतन्त्र-जीवन बिताने के लिये स्वतन्त्र आजीविका का उपाय खोज निकालने में चिन्तित रहने लगे। इस चिन्ता को दबाने के लिये दूसरा कोई उपाय न सूझा, तो लगी शराब उड़ने। पर, उसको दबाने या दूर करने की औषधि शराब नहीं थी। फिर मुन्शीराम थे भी ऐसे पिय्यकड़ कि तेज़

से तेज़ और अधिक से अधिक पी जाने पर भी दूसरों की अपेक्षा उनको बहुत कम नशा होता था। इससे एक लाभ भी था। वह यह कि अधिक पी जाने पर भी मुन्शीराम आपे से बाहर न होते थे, दिमाग़ को काबू में रख कर नशे के बाद की बुराई से बचे रह सकते थे। पर इस अति के दुष्परिणाम से मन और आत्मा का बेदाग़ बना रहना सम्भव नहीं था। शराब की सहायता से यदि स्वतन्त्र आजीविका की खोज का सवाल हल हो सकता तो दुनिया में बेकारी की समस्या इतना जटिल रूप धारण न कर पाती। अस्तु, तीन मास इसी उधेड़-बुन में शराब के साथ निकल गये। नौकरी और परीक्षा को मन की तुला पर तोलते तो कभी नौकरी का पलड़ा झुकता दीख पड़ता और कभी परीक्षा का। कभी कारमाइकेल-साहब की दिलाई हुई आशा सामने झूमने लगती, तो कभी वकीलों के स्वतन्त्र जीवन का सुनहरा चित्र सामने आ खड़ा होता। परीक्षा देने के विचार ने विजय प्राप्त की और रात-दिन एक करके परीक्षा की तय्यारी की गई। पर, नौकरी का प्रलोभन सामने बना ही रहा। शिवदेवी से अनुमति लेकर एक बार नौकरी करने का विचार भी दृढ़ कर लिया। घर वालों को परीक्षा देने की बात कह कर और मन में नौकरी करने की ठान कर मुन्शीराम ने लाहौर जाने का निश्चय किया। लाहौर जाते हुए मन फिर बदला। बरेली की अपमानास्पद नौकरी के स्वतन्त्र (!) जीवन

की याद आते ही नौकरी से मुँह फिर गया। परीक्षा देने का निश्चय किया। लाहौर पहुंचने पर मुख़्तारी की परीक्षा में बैठने वाले एक और मित्र मिल गये। उनके साथ मिल कर परीक्षा की तय्यारी शुरू कर दी और भोजन आदि भी उनके साथ ही होने लगा। राग-रंग और गुलछर्रे सब भूल गये। दिन-रात सब का सब समय परीक्षा की तय्यारी की भेंट होने लगा। इस परीक्षा का वही परिणाम हुआ, जो होना चाहिये था। परीक्षा में सफलता प्राप्त हुई। पुत्र की इस सफलता पर पिताजी के आनन्द की सीमा न रही। तलवन में आनन्दोत्सव मनाया गया। ठाकुरों का शृंगार किया गया, ब्रह्मभोज हुआ और सम्बन्धियों के आग्रह पर वेश्या का नाच भी।

मुन्शीराम की कायापलट करने वाले महर्षि दयानन्द का देहान्त उसी वर्ष (१३ कार्तिक सम्वत् १९४० को) हुआ, जिसमें मुन्शीराम ने क़ानून (मुख़्तारी) की परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के बाद जालन्धर में क़ानूनी पेशे में पैर रखा था। जालन्धर में श्री शिवनारायण जी वकील के यहां महर्षि के देहावसान के अवसर पर जो शोक सभा हुई, वह मुन्शीराम की ही प्रेरणा का परिणाम था। मुन्शीराम के अन्तःकरण में पैदा हुई इस प्रेरणा को बरेली में महर्षि के साथ हुए सत्संग का ही सुफल समझना चाहिये।

८. स्वतन्त्र आजीविका

स्वतन्त्र आजीविका की चिन्ता मुन्शीराम को देर से सता रही थी ; मुख़्तारी की परीक्षा में पास होने से स्वतन्त्र आजीविका का प्रश्न हल हो गया। जालन्धर के वकीलों में नाम दर्ज हो गया। श्री बालकराम जी (मुंशीरामजी के बड़े साले) ने मौलाबख़्श नाम के चलते-पुरजे बीस बरस के एक युवक को मुन्शी रख दिया। उसके साथ यह शर्त हो गई कि अच्छा काम दिलाने पर महीने के बाद उस को स्थिर किया जायगा। वह एक फ़ौजदारी मुक़द्दमा ले आया, जिसकी पेशी फ़िल्लौर में तहसीलदार के यहाँ होनी थी। इस मुक़द्दमे के लिए मुन्शीराम जी को फ़िल्लौर जाना पड़ा। वहां जाकर पता चला कि तहसीलदार की कचहरी शाम को लगती है। तहसीलदार सय्यद आबिदहुसैन मुन्शीरामजी के पिता जी को अपना बुज़ुर्ग मानते थे, क्योंकि उन के पिता सय्यद हादीहसन इन के पिता के साथ बरेली में डिप्टी कलक्टर रह चुके थे। मुन्शीराम जी उन के ही यहां ठहरे थे। दिन के समय का भी सदुपयोग हो गया। मुंसफ़ी के दो मुक़द्दमे हाथ आ गये, जिन में २४ रुपये की आमदनी हो गई। कुछ इस सफलता से और कुछ तहसीलदार साहब की सलाह से फ़िल्लौर में ही वकालत करने का निश्चय किया गया। घोड़ा-गाड़ी, बरतन, नौकर और सब ज़रूरी सामान भी तलवन से

आ गया। फ़िल्लौर में यदि कोई अच्छी, उन्नत एवं शिक्षित संगति नहीं थी, तो कोई कुसंगति भी नहीं थी। इसलिये आदतें बहुत सुधर गईं। बहुत कम ख़र्च में काम चलने लगा। पहले ही महीने में ख़र्च काट कर बचत के ७५ रुपये पिता जी के चरणों में भेंट किये और दूसरे में १२५। पिता जी को इस से बहुत सन्तोष हुआ। उन्होंने पुत्र को सपरिवार फ़िल्लौर में स्वतन्त्र रूप में रहने की आज्ञा दे दी। परिवार सहित फ़िल्लौर आने की तय्यारी में थे कि भाई मूलराज पर मेरठ में मुक़दमा चलने और नौकरी से हटा कर पुलिस लाइन्स में लाए जाने का समाचार आया। साथ में ही पिता जी को किसी पुराने मुक़दमे में साक्षी देने जाने का सम्मन भागलपुर (बिहार) से मिला। पिता जी का आदेश हुआ कि उन के साथ मेरठ जाना होगा। मुन्शीराम अकेले ही फ़िल्लौर गये। हाथ में लिए हुए मुक़दमे निबटाए और सामान सब तलवन भेज दिया। पिता जी एक दिन मेरठ ठहर भागलपुर चले गये और वहां से बीस दिन में लौटे। मुन्शीराम मेरठ में मुक़दमे की तय्यारी में लग गए। दो-ढाई मास इस मुक़दमे में बीत गये। मूलराज मुक़दमे से बेदाग़ बरी हो गये और अपनी नौकरी में लग गये। पर, पिता जी की सम्मति यही हुई कि उन को नौकरी छोड़ कर घर चले आना चाहिए। एक मास बाद मूलराज नौकरी छोड़ कर घर आ गये। घर आकर मकानों में अपना

हिस्सा अलग ले कर उन्होंने अपने लिये नया मकान बनवाना शुरू कर दिया।

मेरठ से लौटकर श्रावण (जुलाई) में जालन्धर आकर वहीं वकालत करने का निश्चय किया। दूकान ठीक करते न-करते छुट्टियां आ गईं। छुट्टियों के बाद कार्तिक से जालन्धर में ही मुख़्तारी शुरू की। काम अच्छा चल निकला। आमदनी भी अधिक होने लगी। सिर पर किसी का नियन्त्रण नहीं था। फ़िल्लौर में दिये जाने वाले आमदनी के हिसाब का बन्धन भी टूट चुका था। शिवदेवी जी पुत्री सहित मायके रहती थीं, इसलिए भी पूरी स्वच्छन्दता थी। स्वच्छन्दता के इन दिनों में फिर शराब का दौरा शुरू हुआ और लगी पूरी की पूरी बोतल चढ़ने। दिमाग़ पर इस का बुरा असर हुआ। आध घण्टा से अधिक पढ़ना लिखना और पांच मिनिट से अधिक किसी एक विषय पर मन स्थिर नहीं होता था। इस पर भी मांस-मदिरा का व्यसन कुछ कम नहीं हुआ। वह बढ़ता ही गया। मित्रों की दावतें भी इस का प्रधान कारण थीं। मुन्शीराम जी को पौष सम्वत् १६४१ (दिसम्बर सन् १८८४) में जब यह पता चला कि एक वर्ष बाद से वकालत पास करने के लिये बी० ए० पास करने का प्रतिबन्ध लगने वाला है, तब उन्होंने लाहौर जाकर वकालत पास करने का निश्चय किया। वकालत पास करने की आवश्यकता इसलिये भी प्रतीत हुई

कि मुख्तार हर एक मुक़दमे में पैरवी नहीं कर सकता था। अदालत उस को जिस मामले में चाहे पैरवी करने से रोक सकती थी। बड़े दिनों से पहले ही मुख्तारी की दुकान उठा कर लाहौर जाने का विचार ठीक कर लिया गया। पर, मित्रों की दावतें बुरी तरह पीछे लग गईं। प्रत्येक शाम को किसी न किसी मित्र के यहां मुर्गों के गले काटे जाते, अण्डे भूने जाते और प्याले के दौर लगते। नित्य दिन को लाहौर चलने की तय्यारी करते और नित्य ही सायंकाल वह की-कराई तय्यारी प्याले की लहर में बह जाती। यह अति भी मुन्शीराम जी के लिए लाभदायक ही साबित हुई और उस ने मदिरा से सदा के लिये छुट्टी दिला दी।

एक दिन शाम को एक बड़े वकील के यहां निमन्त्रण था। यहां शराब का ख़ूब खुला दौर चला। भोजन के बाद और सब ने अपने अपने घर की राह पकड़ी। पर, एक मुख्तार साथी पीछे मुन्शीराम जी के साथ रह गए। ये नशे में चूर थे। बाहिर पैर रखते ही लगे लड़खड़ाने और अनाप-शनाप बकने। मुन्शीराम जी उस को सहारा देते हुए उस के घर ले चले। वह सहारा छुड़ा कर गली में एक घर में घुस गया। मुन्शीराम भी पीछे पहुंचे तो देखा वह वेश्या का घर था। किसी प्रकार उस को वहां से धकेल लाये और लाकर घर पहुँचा दिया। जब अपने यहां पहुँचे तो आप के मेहमानदार मित्र,

जिन के यहां आप ठहरे हुए थे, बोतल खोले बैठे थे। रात के आठ ही बजे थे। फिर रंग जम गया। पहली बोतल समाप्त हुई कि दूसरी खुल गई। दूसरी बोतल का एक ही एक 'पैग' चढ़ा था कि मित्र आपे से बाहर हो गए। उन को सोने के लिए तय्यार कर कमरे में भेजा और इधर एक प्याला चढ़ा कर दूसरा भरा ही था कि भीतर से एक दर्द-भरी चीख़ सुन पड़ी। मुन्शीराम किसी आकस्मिक दुर्घटना की कल्पना कर भीतर घुसे तो देखा, उन के वह मित्र राक्षस का रूप धारण कर एक युवती स्त्री को अपने हाथों में दबोचे हुए उस पर पाशविक आक्रमण करने की तय्यारी में थे। स्त्री बुरी तरह छटपटा रही थी। मतवाले मित्र के इस घृणित व्यवहार के बीभत्स दृश्य ने मुन्शीराम के अन्तःचक्षु खोल दिये। उस नर-पशु से उस देवी की रक्षा क्या की, मदिरा के व्यसन से सदा के लिए अपने को ही बचा लिया। उस दिन प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि मदिरा-पान मनुष्य को किस गढ़े में ले जा गिराता है। मन ही मन अनेकों संकल्प विकल्प पैदा हुए। बनारस का राजरानी की रक्षा का पवित्र दृश्य और सच्ची हिन्दू पत्नी शिवदेवी की अलौकिक सेवा का बरेली का भव्य चित्र एक-एक करके आंखों के सामने आ गए। पिछला सारा ही जीवन एक बार सिनेमा के चित्रों की तरह सामने नाचने लगा। उत्थान और पतन की, दृढ़ता और निर्बलता की, सब घटनायें स्मरण हो आईं। मदिरा

से जी फिर गया। पर, सामने पड़ी हुई शराब की बोतल को फेंकने की हिम्मत न हुई। ग़रीब भिक्षुक मैले कुचैले कपड़े फट जाने पर भी बदन से नहीं उतार सकता। वही अवस्था मुन्शीराम की भी हुई। सोचा कि इस बोतल को तो पूरा कर दिया जाय। उस के बाद सदा के लिए उस से मुक्ति प्राप्त कर ली जायगी। यह सोचकर बड़ा गिलास भरा ही था कि आत्मा में फिर असाधारण क्रान्ति पैदा हुई। इस बार उस को दबाना कठिन हो गया। सड़क की ओर दूसरे मकान की दीवार पर गिलास दे मारा और साथ में बोतल भी। मन की दुर्बलता पर आत्मा की दृढ़ता ने विजय प्राप्त की। वर्षों का व्यसन जो छूट-छूट कर फिर फिर आ लगा था, एक ही क्षण में दूर हो गया। मानसिक अवस्था इतनी बदल गई कि दूसरे दिन सवेरे निवृत्त हो सीधे स्टेशन चल दिए। लाहौर के लिए गाड़ी दस बजे छूटती थी। पर, आप लगभग सात बजे ही स्टेशन जा पहुँचे। मित्र मनाने आए, पर उनको आन्तरिक परिवर्त्तन का क्या पता था? शाम को लाहौर पहुँचे और सीधे रहमतख़ां के अहाते में चले गए, जहां कि स्वर्गीय रायज़ादा भक्तराम ने आपके लिए एक कमरा ठीक कर रखा था। कमरे में सब सामान ठीक करने के बाद भोजन किया और कोई आधा घण्टा पुस्तकावलोकन कर सो गये। दूसरे दिन सवेरे से ही लाहौर में नये जन्म का सूत्रपात हुआ।

६. वकालत की परीक्षा

नये जन्म की कथा शुरू करने से पहले वकालत की परीक्षा की कहानी पूरी कर देनी चाहिए। लाहौर में पहले ही दिन से 'लॉ क्लास' में जाना शुरू कर दिया और रात को भी क़ानूनी पुस्तकों का अभ्यास नियमपूर्वक किया जाने लगा। लॉ-कालेज उस समय अलग नहीं था। सरकारी कालेज के ही एक कमरे में डिस्ट्रिक्ट जज मि० ई० डब्ल्यू० पारकर वकालत-परीक्षा के उम्मीदवारों को क़ानून-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करते थे। मुन्शीरामजी को मि० पारकर का कृपापात्र बनने में अधिक समय नहीं लगा। अंग्रेज़ी धर्मशास्त्र का ग्रन्थ हालैण्ड्स जूरिस्प्रूडेंस बड़ा कठिन था। उसके सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रश्नों पर मि० पारकर भी चकरा जाते थे। एक दिन उनकी अनुमति से उसके सम्बन्ध में की गई एक विद्यार्थी की शङ्का का मुन्शीराम जी ने समाधान कर दिया। बात यह थी कि मुन्शीराम जी विद्या-व्यसनी तो थे ही। किसी भी विषय में बीच में लटके रहना उनको पसन्द नहीं था। कानून का उन्होंने और भी गहरा अध्ययन इस लिये किया था कि उनके मन में लाहौर के चीफ़ कोर्ट का जज बनने की महत्वाकांक्षा समा गई थी। इस लिये परीक्षा के लिये नियत पाठविधि से कहीं अधिक कानून की पुस्तकें पढ़ ली थीं। मि० पारकर उनकी योग्यता पर इतने मुग्ध

हुए कि विद्यार्थियों की वाग्वर्द्धिनी-सभा स्थापित करके उनको उसका प्रधान बना दिया। सहपाठियों पर भी उनकी योग्यता की इतनी धाक जम गई कि वे शाम को घूमने जाने के समय उनको घेरे रहते और वे गोलबाग़ में बैठ कर उनको क़ानून पर व्याख्यान दिया करते। स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि पुस्तकों की सहायता के बिना ही यह सब अभ्यास मौखिक ही होता था।

सम्वत् १९४२ की छुट्टियां जालन्धर और तलवन बिताने के बाद लाहौर लौटने पर परीक्षा की तय्यारी बड़े जोर-शोर से आरम्भ कर दी गई। मार्गशीर्ष के अन्त, दिसम्बर के मध्य, में परीक्षा होने को थी। परीक्षा से महीनाभर पहिले मलेरिया ज्वर का भयंकर आक्रमण हुआ और मार्गशीर्ष के मध्य, नवम्बर के अन्तिम दिनों, में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव का भी पूरा आनन्द लूटा। सब साथी तो परीक्षा-भवन में पहुंचने तक तोता-रटन्त लगाते रहे, किन्तु मुन्शीराम ने अपने पुराने अभ्यास के अनुसार परीक्षा से दो दिन पहले सब पुस्तकों को छुट्टी दे दी। परीक्षा इस आसानी से दी कि तीन-तीन घण्टों के प्रायः सभी पर्चे डेढ़-डेढ़ घण्टे में कर आये। केवल राज-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्न-पत्र में ढाई घण्टे लगे, क्योंकि वह कुछ लम्बा था। सब पर्चों में पास होकर और दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक अंक लेकर भी फ़ौजदारी क़ानून की मौखिक

परीक्षा में केवल दो अंकों के लिये अनुत्तीर्ण होना पड़ा। वह भी इस लिये कि क़ानून की अधिक योग्यता के ज़ोर पर आप परीक्षक-महाशय श्री योगेन्द्रनाथ वसु से ही उलझ पड़े। पहिले ही प्रश्न पर उनके साथ कुछ बहस हो गई। वे कुछ खिसियाँ-से गये और ५० में से २३ अंक देकर केवल दो अंकों के लिये सारी योग्यता पर पानी फेर दिया। इधर तो फ़ौज़दारी-क़ानून की परीक्षा में पास होने में दो अंकों की कमी रही, उधर दीवानी-क़ानून की मौखिक परीक्षा में ५० में से ४५ अंक प्राप्त हुए और उस वर्ष कानून की परीक्षा में सर्व-प्रथम ठहरने वाले महाशय से भी आपके पूर्णांक लगभग ५० अधिक थे। इतनी योग्यता पर भी केवल दो अंकों के लिये अनुत्तीर्ण होना पड़ा।

मुन्शीराम जी की ही तरह अनुत्तीर्ण हुए परीक्षार्थी उनके मकान पर एकत्र हुए। सब मि० कार स्टीवन साहब के बँगले पर गये। आप मि० पारकर की जगह आये थे और पिछले दिनों में आप ही उनकी जगह क़ानून की क्लास लेते थे। साहब ने मुन्शीराम को अलग लेजाकर कहा कि सब के साथ कुछ न हो सकेगा। अकेले प्रार्थना-पत्र दोगे तो मैं सिफ़ारिश कर दूंगा। मुन्शीराम जी को अकेले प्रार्थना-पत्र देना उचित प्रतीत नहीं हुआ। इधर कई-एक अनुत्तीर्ण साथियों की मुरझाई हुई आशा फिर लहलहा उठी और वे उत्तीर्ण हो कर वकील-साहब भी बन गये। बात यह थी कि पंजाब यूनिवर्सिटी के उस समय

के रजिस्ट्रार मि० लारपेयट ने रिश्वत लेकर अनुत्तीर्ण लोगों को भी उत्तीर्ण करना शुरू कर दिया था। मुन्शीराम जी के पास भी इस प्रकार उत्तीर्ण होने का प्रस्ताव आया। उनसे कहा गया कि दूसरों ने पांच-पांच सौ दिया है, आप दो-ढाई सौ ही दे दें तो काम बन जाय। ऐसा करने से स्पष्ट इनकार करते हुए आपने रजिस्ट्रार साहब को पत्र लिखा कि यदि वे अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों को इस प्रकार उत्तीर्ण करेंगे तो समाचार-पत्रों में उनकी खबर ली जायगी। परिणाम यह हुआ कि उलटे मुन्शीराम जी को ही घूस दी गई। घूस देने वालों के साथ मुन्शीराम जी को बिना कुछ लिये-दिये ही उत्तीर्ण कर दिया गया। यह है अनुत्तीर्ण हो कर भी उत्तीर्ण होने की घटना, जिससे मुन्शीराम जी के सत्य-प्रेम, स्पष्टवादिता और दृढ़ता का ही परिचय मिलता है।
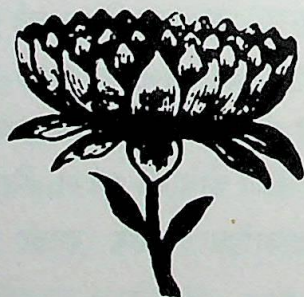
दूसरा भाग

ख.

—:—

नये जीवन का सूत्रपात

१. आर्यसमाज में प्रवेश, २. दृढ़ आर्य बनने की तय्यारी, ३. मांस-भक्षण का त्याग, ४. जालन्धर आर्यसमाज में पहिला भाषण, ५. धर्म-सङ्कट, ६. पिता जी के विचारों में परिवर्तन, ७. मुख्तारी की दुकान-दारी, ८. पिता जी की बीमारी और देहावसान, ९. वकालत की अन्तिम परीक्षा और उस का अनुभव !
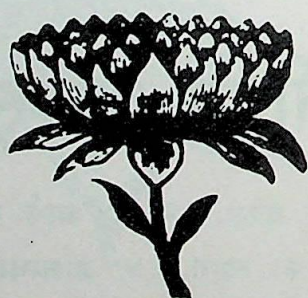
१. आर्यसमाज में प्रवेश

वकालत की परीक्षा देने के लिए जालन्धर से लाहौर के लिये विदा होने की अन्तिम रात की घटना ने मुन्शीराम जी के जीवन में जिस परिवर्तन का सूत्रपात किया था, उस ने लाहौर पहुँचते ही ख़ूब गहरा रंग पकड़ा। मुन्शीराम जी का उस समय का जीवन उस स्वच्छ जल के समान था, जिस का अपना कोई रंग नहीं, किन्तु दूसरे रंग उस के रंग को तुरन्त बदल देते हैं। अच्छी या बुरी संगति का प्रभाव मुन्शीराम जी के जीवन पर भी कुछ ऐसा ही पड़ता था कि वे उस से तुरन्त प्रभावित हो जाते थे। बाल्यकाल की सोई हुई आस्तिकता

फिर जाग उठी। गरमी में मुरझाए हुये पौधे वर्षा-ऋतु का जल पाकर लहलहाने लगे। कुल-परम्परागत श्रद्धा ने युवावस्था की नास्तिकता पर विजय प्राप्त करने की तय्यारी की। लाहौर पहुँचने के तीसरे ही दिन रविवार था। प्रातः आर्यसमाज और सायंकाल ब्राह्मसमाज के अधिवेशनों में सम्मिलित होने के लिये गए। ब्राह्म-मन्दिर में शिवनाथ जी शास्त्री का व्याख्यान था। उन की शान्त मूर्ति और प्रेम रस में सने हुये, हृदय की गहराई तक पहुँचने वाले, श्रद्धापूर्ण शब्दों ने मुन्शीराम जी को अपनी ओर खींच लिया। ब्राह्मसमाज के सम्बन्ध में जितनी भी पुस्तकें उस समय वहां मिलीं, सब उन्होंने ख़रीद लीं। रात को घर पहुंच कर एक छोटी सी पुस्तक सोने से पहले ही समाप्त कर ली। पांच छः दिन ख़ूब मन लगा कर सब पुस्तकें पढ़ीं। नव-विधान-समाज के उस समय के प्रधान लाला काशीराम ने पुनर्जन्म के विरुद्ध अपनी लिखी हुई पुस्तक दी, उस को पढ़ने से मन में कुछ सन्देह पैदा हो गये। शङ्का-समाधान के लिए आप उन के घर गये। वे मिले नहीं। दूसरे दिन सवेरे ही उन को घर पर जा घेरा। उन्होंने बाबू केशवचन्द्र सेन और बाबू प्रताप-चन्द्र मजुमदार की पुस्तकों को पढ़ने का परामर्श दिया। पर, उन को क्या मालूम था कि जिज्ञासु उन को पहले ही पढ़ चुका है। इस पर वे कुछ बातचीत करने को विवश हुए। बातचीत से जिज्ञासु को कुछ सन्तोष न होकर पुनर्जन्म और कर्मफल के

सम्बन्ध में मन का सन्देह और अधिक दृढ़ हो गया। इस सन्देह से बरेली में पादरी स्काट के साथ महर्षि दयानन्द के इस सम्बन्ध में हुए शास्त्रार्थ का स्मरण हो आया और सहसा यह विचार पैदा हुआ कि 'सत्यार्थप्रकाश' में सम्भवतः इस का समाधान मिल जाय। वहां से सीधे बच्छोवाली आर्यसमाज-मन्दिर में 'सत्यार्थप्रकाश' ख़रीदने गए। पुस्तक-भण्डार उस समय बन्द था। चपरासी से मालूम हुआ कि पुस्तकाध्यक्ष लाला केशवराम के आने पर पुस्तक मिलेगी। उन के घर का पता ले कर दो घण्टे भटकने के बाद उन के घर पहुँचे तो वे नौकरी पर बड़े तार-घर चले गये थे। बड़े तार-घर गये तो दोपहर की छुट्टी में जलपान के लिए वे घर आ गये थे। फिर घर आये तो पता चला कि वे तार-घर लौट गए हैं और डेढ़ घण्टा बाद वापिस आयेंगे। डेढ़ घण्टा वहां ही विताने के बाद जैसे ही बाबू केशवराम घर जाते हुए दिखाई दिये कि उन के पीछे हो लिए और उन को घर पर जा घेरा। उन से कहा कि—"महाशय जी! मुझ को सत्यर्थप्रकाश ख़रीदना है।" उन्होंने उत्तर दिया—"निवृत्त होकर कुछ खा लूं तो आप के साथ चलता हूं।" मुन्शीराम जी ने अपना सारे दिन का हाल सुनाते हुये कहा कि "अच्छा, मैं बाहर ठहरता हूं।" केशव जी समझ गये कि जिज्ञासु के हृदय में श्रद्धा का कोई अद्भुत भाव अन्तर्हित है। वे बोले—'चलिये, महाशय! पहिले आप को

पुस्तक दे दूं। आप को पुस्तक दिये बिना मुझ को सन्तोष न होगा।' समाज-मन्दिर जाकर केशव जी को कीमत दे कर 'सत्यार्थप्रकाश' लिया। हृदय में इतनी प्रसन्नता थी जैसे कि कुवेर का अक्षय कोष ही हाथ लग गया हो। अन्धे को दो आँखें मिल गई हों। सवेरे के भोजन में मुन्शीराम जी को अनुपस्थित देख कर साथियों को थोड़ा आश्चर्य हुआ। शाम को भी वे तब घर पहुंचे, जब कि भोजन परोसा जा रहा था। सवेरे के भूखे मुन्शीराम जी ने बड़े सन्तोष के साथ भोजन किया। भोजन के बाद घूमने न जाकर बत्ती जलाकर 'सत्यार्थप्रकाश' के साथ तन्मय हो गए। सोने से पहले भूमिका और पहला समुल्लास पूरा कर लिया। 'सत्यार्थप्रकाश' का स्वाध्याय धर्म-विषयक गहरे अनुशीलन के बाद शुरू किया गया था और नास्तिकपन को विदा देकर आस्तिक बुद्धि से ही उस को हाथ में लिया था।

आर्यसमाज के शुक्ल पक्ष के ये आरम्भिक दिन थे। आर्य भाई अपनी मण्डली में नये लोगों को शामिल करने के लिये विशेष यत्नशील रहते थे। मुन्शीराम के मित्रों को उनको आर्यसमाजी बनाने की विशेष चिन्ता थी। भाई सुन्दरदास जी ऐसे मित्रों में अन्यतम थे। वह एक रविवार को बड़े सवेरे ही उनके डेरे पर आ पहुँचे। सम्वत् १९४१ माघ मास का वह शुभ रविवार था। मुन्शीराम जी सामने 'सत्यार्थप्रकाश' का आठवां समुल्लास खोले हुए किसी विचार-विशेष में मग्न थे। उन्होंने आते ही पूछा—

"कहिये किस चिन्ता में हैं ? कुछ निश्चय किया या नहीं ?" मुन्शीराम ने उत्तर दिया—"हां, पुनर्जन्म के सिद्धांत ने फ़ैसला कर दिया। आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद् बन सकता हूं।" भाई सुन्दरदास जी का चेहरा खिल उठा। किसान ने बड़े सवेरे ही खेत में जाकर देखा कि उसकी बड़ी मेहनत फल ला रही है। ख़ून-पसीना एक करके तय्यार किये हुए खेत में बखेरे गये बीजों के अंकुर फूट आये हैं। उस किसान की प्रसन्नता भाई सुन्दरदास जी के चेहरे पर खिल रही थी। वे मुन्शीराम जी के डेरे पर ही जम गये। वहीं स्नान आदि नित्य-कर्मों से निवृत्त हो मुन्शीराम जी को साथ लेकर आर्यसमाज-बच्छोवाली पहुँचे। वही दोनों मुसलमान रबाबी सारंगी के आलाप और तबले की थाप के साथ बड़ी ही समयोचित तान तोड़ रहे थे, जो प्रायः प्रति सप्ताह आर्य-मन्दिर और ब्राह्म-मन्दिर में विहारीलाल की संगीतमाला और नानक तथा कबीर के भजन गाया करते थे। उस समय गाये जाने वाले समयोचित शब्द मुन्शीराम जी की मानसिक अवस्था के कितने अनुकूल थे ? वे गा रहे थे :—

"उतर गया मेरे मन दा संसा, जद तेरा दर्शन पायो।"

न केवल लाहौर आर्यसमाज के प्राणदाता, किन्तु समस्त प्रांत की समाजों में जीवन डालने वाली जिस जीवन-धारा का प्रवाह लाहौर से प्रवाहित होता था उसके भी कई अंशों में

उस समय के उद्गम स्थान, लाला साईंदास जी के कान में धीरे से भाई सुन्दरदास जी ने अपनी सफलता की बात कह सुनाई। लाला जी ने दो-तीन बार ज़ोर से इशारा करके मुन्शीराम जी को अपने पास बुला लिया और उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया। भाई दित्तसिंह उस समय लाहौर-समाज के सुप्रसिद्ध व्याख्याता थे और प्रति रविवार को प्रायः उनका ही भाषण हुआ करता था। भाई जवाहिरसिंह जी उस समय मन्त्री थे। दोनों के साथ मुन्शीराम जी का सम्वत् १९३८ का तब का परिचय था, जब कि वे लाहौर में मुख्तारी की परीक्षा देने आये थे। उस समय मुन्शीराम जी ने भाटी दरवाजे के भीतर एक मकान किराये पर लिया हुआ था। उसके पास ही चौबारे पर 'सर्वहितकारिणी-सभा' जमा करती थी। उसके अधिवेशनों में मुन्शीराम जी का भाई दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह से परिचय हुआ था। अपने पुराने साथी को अपनी बिरादरी में शामिल होते देख कर उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। भाई दित्तसिंह जी ने अपने भाषण की समाप्ति में मुन्शीराम जी के समाज में प्रविष्ट होने का समाचार कहते हुए उनके साथ अपने पुराने परिचय का भी उल्लेख किया। उन के वाद भाई जवाहिरसिंह जी उठे। उन्होंने मुन्शीराम जी के आर्यसमाज में प्रवेश करने पर हर्ष प्रगट करते हुए यह भी कहा कि वे भी अपने कुछ विचार प्रगट करेंगे।

मुन्शीराम के लिये ऐसी उपस्थिति में कुछ बोलने का यह पहिला ही अवसर था। हिचकते हुए-से खड़े हुए और जब बोलने लगे तब २०-२५ मिनट बोल गये। वह भाषण नहीं था, अन्तरात्मा में पैदा हुए सात्विक भावों का प्रकाश था। उन भावों का सारांश यह था कि "हम सब के कर्त्तव्य और मन्तव्य एक होने चाहियें। जो वैदिक-धर्म के एक-एक सिद्धांत के अनुकूल अपना जीवन नहीं ढाल लेगा, उसको उपदेशक बनने का साहस नहीं करना चाहिये। भाड़े के टट्टुओं से धर्म का प्रचार नहीं हो सकता। इस पवित्र कार्य के लिये स्वार्थत्यागी पुरुषों की आवश्यकता है।" लाला साईंदास जी ने घर पहुँच कर अपने अन्य आर्यसमाजी मित्रों से कहा—"आर्य समाज में यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है। देखें, यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" स्वर्गीय लाला साईंदास जी की यह सन्दिग्ध भविष्य-वाणी पूरी होती है या नहीं, इसका निर्णय पाठक अगले पृष्ठों को पढ़ने के बाद करेंगे तो अच्छा होगा।

२. दृढ़ आर्य बनने की तय्यारी

आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद से ही मुन्शीरामजी अपने जीवन को उसके एक-एक सिद्धान्त के अनुकूल ढालने में लग गये। इसके लिये कुछ सामयिक कारण भी थे। रहमतखां के अहाते में तीन-तीन कमरों वाले दो मकान किराये पर लिये हुए

थे, जिनमें मुन्शीराम जी के साथ जालन्धर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय रायज़ादा भगतराम, होशियारपुर आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रधान रामचन्द्र जी, पंजाब-प्रादेशिक-सभा के प्रधान श्री फ़क़ीरचन्द्र जी और भाई सुखदयालु जी रहा करते थे। ये सब गवर्नमेण्ट कालेज में पढ़ते थे और थे सब आर्यसमाजी। सब का भोजन इकट्ठा ही होता था। मुन्शीराम जी के आर्यसमाज में दीक्षा लेने के बाद समाज-मन्दिर से सब इकट्ठे ही डेरे पर आये। मुन्शीरामजी ने आर्यसमाज में जो भाव प्रगट किये थे, उनका सब साथियों पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा था। भोजन के समय सब ने यह निश्चय किया कि सप्ताह में कम से कम एक बार शहर के किसी एक भाग में बिना विज्ञापन दिये वैदिक-धर्म का प्रचार किया करेंगे। वर्षभर तक इस निश्चय को सचाई के साथ निबाहा भी गया। उधर जालन्धर में जैसे ही मुन्शीराम जी के आर्यसमाजी बनने का समाचार पहुंचा, आर्य भाइयों में नवजीवन का संचार हो गया। कन्या-महाविद्यालय जालन्धर के सम्बन्ध से सुप्रसिद्धि पाये हुए श्री देवराज जी ने मुन्शीराम जी को लिखा कि वे जालन्धर आर्यसमाज का प्रधान-पद उनको सौंप कर स्वयं मन्त्री हो गये हैं। प्रचार की इस धुन और प्रधान-पद की इस भारी जिम्मेवारी ने मुन्शीराम जी को दृढ़ आर्य बनने की तय्यारी में लगा दिया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' का नियमपूर्वक पठन तथा मनन होने लगा। नवें समु-

ल्लास के स्वाध्याय तक विचार बहुत स्पष्ट होते चले गये और बहुत से संशय भी मिट गये। पर, दसवें समुल्लास के भक्ष्याभक्ष्य के प्रकरण के स्वाध्याय से जीवन में एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जिसने मांस-भक्षण के व्यसन से भी मुक्ति दिला दी।

३. मांस-भक्षण का त्याग

मदिरा-त्याग के समान ही मांस-भक्षण के त्याग का सम्बन्ध भी एक घटना के साथ है। ऐसी घटनाएं पहिले भी कई बार उनके सामने से गुजरी होंगी। पर, इससे पहिले उसके अनुकूल भूमि तय्यार नहीं हुई थी। 'सत्यार्थप्रकाश' के दसवें समुल्लास के स्वाध्याय से चित्त में जो चंचलता पैदा हुई, उस पर इस घटना ने अपना वह असर पैदा किया कि मुन्शीराम जी के जीवन में अलौकिक परिवर्तन हो गया। उसने न केवल उनके जीवन को पवित्र बनाया किन्तु समस्त आर्यसमाज में पवित्रता की एक वेगवती लहर पैदा कर दी। होली के चार पांच दिन पहिले, सवेरे पांच बजे, घूमने से लौटते हुए ज्यों ही अनारकली पहुंचे कि सामने से एक मनुष्य सिर पर मांस का टोकरा उठाये हुए दौड़ा चला आ रहा था। भेड़-बकरियों की कटी हुई टांगें टोकरे के बाहर लटकी हुईं थीं। मांस-भक्षण के अभ्यासी मुन्शीरामजी का दिल उस भीषण दृश्य को देख कर दहल गया। चित्त में एक भारी चिन्ता पैदा हो गई। मध्यान्ह-समय 'सत्यार्थप्रकाश'

का भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण फिर पढ़ा तो मांस-भक्षण के सब दोष सहसा हृदय में बैठ गये। शाम को भोजन के लिये सब साथियों के साथ ही बैठे। सदा की भांति मांस का कटोरा भी सामने रखा गया। मानसिक क्रान्ति ने इतना उग्र रूप धारण किया कि कटोरा सामने आते ही उसको उठाया और सामने की दीवार में दे मारा। शराब के गिलास और बोतल के समान वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। साथी समझे कि रसोइये से कुछ भूल हो गई है। उनको क्या मालूम था कि आज तक की हुई भारी भूल का वह पश्चात्ताप और प्रक्षालन था? वे लगे रसोइये को भला-बुरा सुनाने। मुन्शीराम जी ने उनको रोक कर कहा—"रसोइये बेचारे को कुछ मत कहो। एक आर्य के मत में मांस-भक्षण भी महापाप है। मैं मांस का अपनी थाली में रखा जाना सह नहीं सकता।" साथी इतना कह कर चुप हो रहे कि कटोरा टुकड़े-टुकड़े करने से तो उसको उठवा देना अच्छा था। पर, वे यह नहीं जानते थे कि होनहार मनुष्य के जीवन में आकस्मिक परिवर्तन कुछ उग्रता से ही हुआ करता है। उसके सामने सांसारिक हानि-लाभ का हिसाब कुछ अर्थ नहीं रखता। प्राकृतिक झंझावात के समान ही क्रान्ति का खेल है, जो सामने दीखने वाली सृष्टि को पलभर में ही मिट्टी में मिला कर उसके ढेर पर नयी सृष्टि रच डालता है। कुछ ही समय बाद महात्मा के रूप में प्रगट होने वाली अन्तरात्मा में हुई

उस क्रान्ति के सन्मुख उस कटोरे की क़ीमत ही क्या थी? बचपन के पड़े हुए निन्दनीय अभ्यास तथा गर्हित संस्कारों की बेड़ियों को काटने और ऐसी बुराई को तिलांजलि देने में शान्ति के लिये गुंजाइश ही कहां थी? दूसरे साथियों पर भी मुन्शीराम जी के इस व्यवहार का अच्छा प्रभाव पड़ा। निरामिष-भोजियों की संख्या बढ़ती चली गई। इसके बाद मांस-भक्षण का व्यसन यहाँ तक छूट गया कि मांसाहारियों की पंक्ति और उनके चौके में खाने से भी चित्त खिन्न होने लगा। मुन्शीराम जी के जीवन में यह परिवर्तन अपने पुराने अभ्यास पर ऐसी विजय थी, जिसने आगे चल कर समस्त आर्य-जगत् पर ही अपनी छाप लगा दी।

४. जालन्धर आर्यसमाज में पहिला भाषण

आर्यसमाजी बनने के बाद से जालन्धर के आर्य भाई मुन्शीराम जी से मिलने के लिये बहुत उत्सुक थे। इसलिये देवराज जी ने होली पर आने का निमन्त्रण पहिले ही दे दिया था। होली से एक दिन पहिले आप वहां पहुँच गये। स्थानीय आर्यसमाजियों ने यह दिखाने के लिये कि पढ़े-लिखे और समझदार लोग भी किस प्रकार आर्यसमाज द्वारा प्रभावित होते हैं—आपका व्याख्यान कराया। एक वर्ष मुख्तारी करके आप जालन्धर में अच्छा नाम पैदा कर चुके थे। पढ़े-लिखों में आप का अच्छा

मान था। व्याख्यान में शहर के वकील तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग भी अच्छी संख्या में उपस्थित हुए। व्याख्यान का विषय था—"बाल विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य का महत्व।" व्याख्यान बड़ी सफलता के साथ समाप्त हुआ।

व्याख्यान के बाद मुन्शीराम जी फिर वकालत की परीक्षा की तय्यारी के लिये लाहौर लौट गये। सवा या डेढ़ मास लाहौर में बिता कर आप ज्येष्ठ मास में जालन्धर होते हुए तलवन आगये। इस मास-डेढ़ मास में लाहौर में भाई सुन्दरदास, महाशय रामचन्द्र और लाला मुकुन्दलाल जी के साथ मिल कर ख़ूब धर्म-प्रचार किया। प्रति दिन किसी-न-किसी चौरस्ते पर जा पहुँचते और वहां खड़े होकर व्याख्यान देने लग जाते। इन्हीं दिनों में साधु आत्माराम और चौधरी नवलसिंह भी अपने ढंग से शहर में आर्यसमाज का प्रचार करते थे। इस प्रचार का अंगरेज़ी-शिक्षा-शून्य साधारण जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। धर्म-प्रचार के इसी विचार, लगन तथा उत्साह के साथ आप जालन्धर में छुट्टियां बिताने आये थे और अभी वहां आप के दो तीन ही व्याख्यान हुए थे कि पिताजी की बीमारी का समाचार पाकर आपको तलवन जाना पड़ा। पिताजी को अर्धांग की शिकायत थी। मुन्शीराम जी ने लग कर योग्य वैद्यों से पिताजी का औषधोपचार कराया। शारीरिक अवस्था कुछ अच्छी होजाने पर भी आंखों की दृष्टि बहुत क्षीण

होगई। सारी छुट्टियां पिता जी के औषधोपचार में तलवन में ही बितानी पड़ीं। स्वाध्याय के लिये भी इस समय का अच्छा उपयोग किया। सत्यार्थप्रकाश, आर्याभिविनय, पंचमहायज्ञविधि को एक एक बार फिर से पूरा पढ़ कर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी आधी समाप्त कर ली। गांव के देहाती मदरसे का अध्यापक काशीराम आप को स्वाध्याय के लिये साथी भी अच्छा मिल गया। वह संस्कृत जानता था और पिता जी को उनकी इच्छा के अनुकूल धर्मग्रन्थ सुनाया करता था। मुन्शीराम जी के साथ किये गये स्वाध्याय से उसने आर्यसमाज के मन्तव्यों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इसी काशीराम ने पीछे मुन्शीराम जी के पिताजी में भी आर्य मन्तव्यों के लिए प्रेम पैदा कर दिया और पिता-पुत्र में पैदा होने वाले धार्मिक संघर्ष को इस प्रकार टाल दिया।

५. धर्म-संकट

एक परिवार में भिन्न-भिन्न धार्मिक मन्तव्य मानने वाले पिता-पुत्र या भाई-भाई की आपस में सहज में नहीं पट सकती। आपस की विचार-भिन्नता से पैदा होने वाला धार्मिक संघर्ष टालना प्रायः असम्भव हो जाता है। मुन्शीराम जी के पिता पुराने ढंग के दृढ़ सनातनी विचारों के थे। पौराणिक कर्मकांड का वे यथासम्भव विधिपूर्वक अनुष्ठान करते थे। अपनी ही

लागत से बनवाया हुआ उनका ठाकुरजी का मन्दिर गांवभर में प्रसिद्ध था। उस में वे नियमपूर्वक प्रतिदिन ठाकुर जी की सेवा किया करते थे। मुन्शीराम जी दृढ़ आर्य ही नहीं, किन्तु एक प्रतिष्ठित समाज के प्रधान थे और आर्य-धर्म के प्रचार की लगन भी उन के दिल में समा चुकी थी। ऐसी अवस्था में पिता जी के साथ संघर्ष होना अवश्यम्भावी था। वे यत्नपूर्वक धर्म-सङ्कट के ऐसे अवसर को टालते रहे। पर, ज्येष्ठ की निर्जला के दिन उस को टालना असम्भव हो गया। पहली धार्मिक परीक्षा का अवसर सिर पर आ ही पहुँचा। पिता जी ने बैठक में आकर घर-भर के लिये अलग-अलग संकल्प पढ़ने की व्यवस्था की। सब के लिए अलग-अलग आसन बिछाये गये और उन के सामने पानी से भरे हुए झज्झर और उनके ढक्कन पर खरबूज़ा, मीठा तथा दक्षिणा वगैरः रखी गई। मुन्शीराम जी अपनी बैठक में पुस्तक लेकर स्वाध्याय में मग्न हो गए। समझा था कि आंख मूँद लेने से बला टल जायगी। पर, पिता जी का दूत आने पर जाना पड़ा। सब भाई-भतीजे संकल्प पढ़ चुके थे। केवल मुन्शीराम जी का आसन ख़ाली पड़ा था। सनातनी पिता और आर्यसमाजी पुत्र में निम्नलिखित बात-चीत हुई:—

पिता जी—"आओ मुन्शीराम! तुम कहां थे? हम ने तुम्हारी बहुत प्रतीक्षा कर के सब से संकल्प पढ़ा दिया है।

तुम भी संकल्प पढ़ लो तो मैं भी संकल्प पढ़ कर निवृत्त हो जाऊँ।"

मुन्शीराम जी पर पिता जी का सब पुत्रों से अधिक प्रेम था। उन पर वे दूसरों की अपेक्षा विश्वास भी अधिक करते थे। सम्भवतः इसी से मुन्शीराम जी को सहसा कुछ स्पष्ट कहने का साहस न हुआ। उन्होंने कुछ टालते हुए से कहा—"पिता जी! संकल्प का सम्बन्ध तो दिल के साथ है। जब आप ने संकल्प किया है तो आप का दान है। आप चाहे जिसे दे दें। इसी से मैंने आना आवश्यक नहीं समझा।"

पिता जी ने कहा—"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं? फिर उस में से दान देने का तुम को अधिकार क्यों नहीं? क्या दिल का संकल्प बाहिर निकालना पाप है? तुम अपने मन की बात ठीक-ठीक क्यों नहीं कहते?" थोड़ा रुक कर पिता जी ने साफ़ शब्दों में ही पूछा—"क्या तुम एकादशी और ब्राह्मणपूजा पर विश्वास नहीं रखते? स्पष्ट कहो, क्या बात है?"

पहले तो पिता जी इतना ही समझे हुए थे कि पुत्र नास्तिक न रहकर आस्तिक बन गया है। पर, पीछे जब जालन्धर के व्याख्यानों की बातें कानों पर आईं तो पता चला कि पुत्र के आस्तिक बनने का अर्थ क्या है? इसी से पिता जी ने राय शालिग्राम जी को जालन्धर लिखा था कि देवराज और मुन्शी-राम को अपने देवी-देवताओं की निन्दा करने से रोकना

चाहिये। बीमारी में पुत्र की अनवरत सेवा ने इन सब बातों को भुला-सा दिया था। पर, संकल्प पढ़ने के सम्बन्ध में की गई आनाकानी से वे सब बातें याद आ गईं। इसी से उन्होंने मुन्शीराम जी से साफ़ शब्दों में उनका अभिप्राय जानने के लिये कुछ साफ़ शब्दों का ही प्रयोग किया। स्पष्ट प्रश्न का उत्तर भी उनको कुछ स्पष्ट ही देना पड़ा। उन्होंने कहा—"ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूरा विश्वास है, किन्तु जिनको आप दान देना चाहते हैं, वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं हैं और एकादशी के दिन को भी मैं कुछ विशेष नहीं समझता।"

पुत्र के इन स्पष्ट शब्दों ने पिता जी को आश्चर्य में डाल दिया। उनको ऐसे सीधे जवाब की कुछ कल्पना भी न होगी। थोड़ी देर के बाद पिता जी लम्बा सांस लेते हुए बोले—"मैंने तो बड़ी-बड़ी आशायें बांध कर तुमको ऊँची सरकारी नौकरी से हटा कर वकालत की ओर डाला था। मुझको तुम से बड़ी सेवा की आशा थी। क्या उन सब का मुझ को यही फल मिलना था? अच्छा, जाओ।"

मुन्शीराम क्षणभर भी वहां खड़े नहीं रहे और चुपचाप नीचे उतर आये। निर्जला एकादशी का संकल्प पढ़ने का धार्मिक सङ्कट तो टल गया, किन्तु उससे भी अधिक विकट मानसिक सङ्कट दिनभर छाया रहा। दो-तीन दिन पिता जी के दर्शन भी नहीं किये। फिर उन्होंने ही अंग्रेज़ी में किसी मित्र को पत्र

लिखने के लिये बुलाया। धीरे-धीरे वह मानसिक संकट भी दूर हो गया। पर, शीघ्र ही एक दूसरा धर्म-संकट आ उपस्थित हुआ।

छुट्टियों के दो मास बिताने के बाद लाहौर जाने का दिन आया। मन्दिर के ऊपर की बड़ी ड्योढ़ी में पिता जी तकिया लगाये हुए बैठे थे। मुन्शीराम जी सब तय्यारी करने के बाद पिता जी से विदा मांगने गये। वहां पहुंच कर पैरों में सिर रख कर प्रणाम किया। पिता जी का आशीर्वाद लेकर ज्यों ही चलने को हुए कि पिता जी के आदेशानुसार नौकर एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रख कर ले आया। पिताजी ने कहा—"जाओ बेटा! ठाकुर जी को माथा टेक कर विदा होओ। मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान् के सेवक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें।" इतना सुनना था कि मुन्शीराम जी सुन्न रह गये। काटो तो ख़ून नहीं। बोलते भी तो क्या बोलते? ऐसा आदेश था, जिसका पालन करना मुन्शीराम जी के लिये स्पष्ट ही आत्महत्या थी। सरल-स्वभाव पिता जी पुत्र के अन्तःकरण की अवस्था का ठीक अनुमान नहीं लगा सके। उन्होंने समझा कि उदार पुत्र देवता के लिये आठ आने की भेंट कम समझता है। नौकर से अठन्नी की जगह थाली में एक रुपया रखवा कर पिता जी ने फिर पुत्र से कहा—"लो बेटा! अब ठीक हो गया। देर होती है। ठाकुर जी को माथा

टेक कर सवार हो जाओ।" इसपर मुन्शीराम के लिए चुप रहना कठिन हो गया। संकोच का बांध तोड़ कर अपने पर कुछ जब्र-सा करते हुए उन्होंने कहा—"पिता जी ! यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूं ? हां, सांसारिक व्यवहार में जो आज्ञा आप दें, उसके पालन के लिये मैं हाज़िर हूं।"

मुन्शीराम जी का इतना कहना था कि पिता जी के चेहरे का रंग एकदम बदल गया। उन्होंने कुछ क्रोध भरे शब्दों में कहा—"क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु-पत्थर समझते हो ?"

मुन्शीराम जी के हृदय की उस समय की आन्तरिक अवस्था का अनुमान लगाना कुछ कठिन नहीं है। उन के हृदय में घोर संग्राम मच गया। लोगों की दृष्टि में उस समय मुन्शी-राम जी ने बड़ी धृष्टता का परिचय दिया, किन्तु यही समय था, जब उनको अपने पूरे आत्मिक बल से काम लेना चाहिये था। अपने को सम्हालते हुए उन्होंने कहा—"परमात्मा के बाद अपने लिये मैं आपको ही समझता हूं। क्या पिता जी ! आप यह चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो ?" पिता जी का क्रोध शान्त हुआ। वे कुछ द्विविधा में पड़ गये और बोले—"कौन अपनी सन्तान को मक्कार देखना चाहता है ?" मुन्शीराम ने फिर बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"तब मेरे लिये तो ये मूर्तियां इससे बढ़ कर कुछ नहीं। यदि मैं उनके आगे भेंट धर कर

माथा नवाऊंगा, तो यह मक्कारी होगी।" ये शब्द क्या थे, पिता जी के हृदय को उन्होंने तीर से वेध दिया। वे कुछ उद्वेग के साथ बोले—"हा! मुझ को विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा। अच्छा भगवन्! जो तेरी इच्छा!" जिस पुत्र को पिता का सब से अधिक प्रेम प्राप्त करने का गौरव था और जिसके प्रति पिता ने अविश्वास को कभी सन्देह में भी प्रगट नहीं किया था, उसके लिये सिद्धान्त-भेद होते हुए भी पिता जी की उद्वेग, अविश्वास और सन्देह की यह बात सहन करना कठिन था। उसकी अवस्था ऐसी हो गई कि मानो धरती में गड़ गया हो। पैर वहां के वहां ही रह गये। मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। पिता जी भी कुछ नहीं बोले। दस मिनट तक खिंचे हुए चित्र का-सा दृश्य वहां बना रहा। फिर पिता जी धीरे से बोले—"अच्छा, अब जाओ; नहीं तो देर होगी।" मुन्शीराम जी चुपचाप प्रणाम कर नीचे उतर आये।

सवारी (मझोली) में सवार होने तक कई तरह के संकल्प-विकल्प मुन्शीराम जी के मन में उठते रहे। सब से मुख्य प्रश्न यह था कि—"जब मैं पिता जी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं, उनके लिये स्वर्ग या मोक्ष का साधन नहीं बन सकता, तब मुझ को उनके पैदा किये धन के उपभोग करने का क्या अधिकार है?" यह विचार मन में आते ही खर्च के लिये दिये हुए

पचास रुपये एक पत्र के साथ एक सम्बन्धी को पिता जी को दूसरे दिन सवेरे दे देने के लिये दे दिये। पत्र में लिखा था—"आपके मन्तव्यों के विरुद्ध मत रखने से मुझको कोई अधिकार नहीं कि सुपात्रों के भाग में से कुछ लूं। जीवन शेष है तो आपके चरणों में मैं अपनी भेंट रखूंगा ही।" उस सम्बन्धी ने वह पत्र और रुपये उसी समय पिता जी के पास पहुंचा दिये। पिता जी ने उसी को घोड़ी पर पीछे दौड़ाया और साथ में यह भी कहलाया कि—"तुम प्रतिज्ञा करके गये हो कि मेरी सांसारिक आज्ञाओं से मुख नहीं मोड़ोगे। यह मेरी सांसारिक आज्ञा है कि ये रुपये ले जाओ और व्यय के लिये बराबर मुझ से ही रुपये मँगाते रहो।" पिता के इस सन्देश से द्विविधा में पड़ी हुई आत्मा को बड़ी शान्ति मिली।

जालन्धर में आर्यसमाज के रविवार के साप्ताहिक अधिवेशन में सम्मिलित हो मुन्शीराम जी वकालत की परीक्षा की तय्यारी के लिये सम्वत् १९४२ के आश्विन के मध्य में लाहौर पहुंच गये। परीक्षा से मुक्त हो पौष मास के प्रथम सप्ताह में जालन्धर आ गये। पिता जी का पत्र आ गया था कि वे उनके जालन्धर आने पर पेंशन लेने वहाँ आयेंगे और वहां से साथ ही उनको तलवन ले जायेंगे।

६. पिता जी के विचारों में परिवर्तन

दृढ़ पुत्र का सत्याचरण वृद्ध पिता पर भी प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। इस सचाई की साक्षी मुन्शीराम जी और उनके पिता जी के जीवन से मिलती है। जिस दिन मुन्शीराम जी जालन्धर आये थे, उसी दिन पिता जी को भी वहां पहुंचना था। दिनभर पिता जी की प्रतीक्षा करने के बाद शाम को नौकर को उनको देखने के लिये रास्ते में बिठा कर मुन्शीराम जी स्वयं आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये चले गये। ईश्वर-प्रार्थना के बाद आपका ही प्रवचन (भाषण) हुआ। प्रवचन समाप्त करके आप वेदी के नीचे उतरे ही थे कि नौकर ने पिता जी के आने की सूचना दी। मुन्शीराम जी उसी समय उठ कर भागे, रेलवे फाटक के पास पिता जी के दर्शन किये और उनके चरणों का स्पर्श किया। सहसा पिता जी ने पूछा—"क्या समाज का अधिवेशन समाप्त हो गया ?" पिता जी की समाज की ओर इतनी अनुरक्ति देख कर मुन्शीराम जी को थोड़ा आश्चर्य हुआ और संकोच से उत्तर दिया—"केवल भजन और शान्तिपाठ बाक़ी था। आपका आना सुन कर मैं भाग आया।" पिता जी ने प्रेमभरे शब्दों में कहा—"जल्दी क्या थी ? समाज का अधिवेशन समाप्त करके ही आना चाहिये था।" ये शब्द और भी अधिक विस्मय पैदा

करने वाले थे। कहां तो तलवन में प्रगट किया गया रोष और कहां यह उदारतामय प्रेम !

दूसरे दिन तलवन जाने पर पिता जी के धार्मिक विचारों में पैदा हुए इस परिवर्तन का कारण समझ में आया। मुन्शीरामजी के स्वाध्याय के तलवन के साथी, वहां के देहाती मदरसे के अध्यापक और संस्कृत का कुछ अभ्यास होने से नित्य-प्रति पिता जी को धर्म-ग्रन्थ पढ़ कर सुनाने वाले श्री काशीराम जी के ही कारण पिता जी के धार्मिक विचारों में यह परिवर्तन हुआ था। तलवन से लाहौर जाते हुए मुन्शीराम जी अपना 'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'पंचमहायज्ञविधि' पिता जी के कमरे में भूल गये थे। पिता जी ने काशीराम जी से उन पुस्तकों को सुनने की इच्छा प्रकट की। ज्यों ही पण्डित जी पुस्तक पढ़ने को तय्यार हुए कि पिता जी ने कहा—"पण्डित जी ! पहले इनकी देख-भाल कर लो, तब सुनाना। हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ नहीं सुनना चाहते।" पण्डित जी ने बुद्धिमानी से काम लिया और सब से पहिले 'पंचमहायज्ञविधि' में से ब्रह्मयज्ञ का प्रकरण अर्थ सहित सुनाया। इस पर उन पुस्तकों के प्रति पिता जी की कुछ श्रद्धा पैदा हुई। फिर 'सत्यार्थप्रकाश' का पहिला समुल्लास का पाठ शुरू हुआ। इसका उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे पंडित जी से एक दिन बोले—"पंडित जी ! हम तो अविद्या में ही पड़े रहे। हमारी मुक्ति कैसे होगी ? हमने तो आज तक

निरर्थक ही क्रियाएं कीं। अब से वैदिक संध्या करेंगे।" पिता जी ने सन्ध्या के मन्त्र भी अर्थों के साथ याद किये और पंचायतन, पांचों देवताओं की मूर्तियों की पूजा के साथ-साथ वैदिक सन्ध्या भी नियमपूर्वक करने लग गये।

पिता जी के इन धार्मिक विचारों में हुए परिवर्तन का मुन्शी-राम जी को विशेष फल यह मिला कि उनके प्रति पिता जी का प्रेम पहिले से भी अधिक हो गया। तलवन में प्रगट की गई अप्रसन्नता का व्याज सहित बदला मिल गया।

७. मुख़्तारी की दुकानदारी

मि० लारपैएट को गीदड़भभकी दिखा कर क़ानून की पहली परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर उत्तीर्ण होने के बाद सम्वत् १६४२ के अन्त में जालन्धर आकर मुन्शीराम जी ने फिर मुख्तारी की दुकान खोली। आर्यसमाज के काम में भी इस समय बड़ा हिस्सा लेना शुरू कर दिया। वकील के पास जो सामान और उसकी दुकान में जो आकर्षण चाहिये, वह सब अनायास ही इकट्ठा होगया। पिताजी की कृपा से घोड़ा-गाड़ी, कुरसी-मेज़ आदि सब सामान मिल गया। क़ानूनी पुस्तकें तो अधिक नहीं थीं, किन्तु दूसरी पुस्तकों की कुछ भी कमी नहीं थी। ऋग्वेद और यजुर्वेद का ऋषि दयानन्द कृत भाष्य आने पर तो सोने पर सुहागा चढ़ गया। पुस्तकालय की शोभा सहज में ऐसी बन गई कि बड़े-बड़े

वकीलों के यहां भी पुस्तकालय की शोभा वैसी नहीं थी। बाक़ी सब सामान जुट जाने पर अमीरखां नाम का वह पुराना मुन्शी भी फिर आगया। विश्वासपात्र, मेहनती, भलामानस और बड़ा ही शरीफ़ आदमी था। मालिक की भलाई के लिये कभी कभी झूठ बोल देने पर भी उसने मालिक के प्रति कभी असत्याचरण नहीं किया था। इस प्रकार सब साज-सामान जुट जाने पर मुख्तारी की दूकानदारी अच्छी चल निकली।

इस समय की एक घटना का उल्लेख मुन्शीराम जी की सचाई दर्शाने के लिये करना आवश्यक है। मुन्शी अमीरखां दूकान के साइनबोर्ड पर 'मुख़्तार' की जगह 'लीगल प्रैक्टिशनर' शब्द लिखवा लाये। मुन्शीराम जी ने उसको सहन नहीं किया और बोर्ड में 'लीगल प्रैक्टिशनर' की जगह 'मुख्तार' लिखने को बोर्ड वापिस कर दिया। इसी प्रकार मुक़द्दमों में भी यथासम्भव अधिक से अधिक सचाई और सावधानी से काम लेना शुरू किया। व्यक्तिगत जीवन की इस सचाई से अधिक कठिन सचाई दूसरी थी। वह थी सभ्य-समाज के साथ उठते-बैठते हुए अपने सिद्धांतों के पालन करने की।

उनके पुराने एक मद्यप मित्र एक्ज़िक्युटिव इंजिनियर ने उनको अपने यहां एक दिन सवेरे की दावत दी। मुन्शीराम जी को क्या मालूम था कि ये सभ्य तथा सुशिक्षित समझे जाने वाले लोग दिन में भी शराब उँडेले बिना नहीं रह सकते और

उनको वहां पर ऐसे किसी संकट का सामना करना पड़ेगा ? वे पहुँचे ही थे कि सब उनको लिपट गये । कुछ ने हाथ-पैर पकड़े, दो ने मुँह खोला और तीसरे लगे मुँह में शराब उँडेलने । शराब का प्याला नाक के सामने गया ही था कि तुरन्त क़ै (उल्टी) होगई । पकड़ने वालों के कपड़े भर गये और वे उनको छोड़ कर लगे अपने आप को ही सम्हालने । मुन्शीराम जी उठ कर बाहर आये । कुँये पर मुँह-हाथ धोया और सीधे घर लौट आये । उस घटना ने सब मद्यपी साथियों को सावधान कर दिया । उसके बाद उनको अपने यहां ऐसे अवसर पर निमन्त्रित करने का किसी को भी साहस नहीं हुआ ।

ऐसी घटनाओं से धर्म-सेवा का मार्ग सदा के लिये निर्विघ्न होगया । व्यावहारिक जीवन में भी असत्य मार्ग पर जाने की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई और न कभी कोई प्रलोभन ही उनको पथभ्रष्ट करने में सफल हुआ ।

८. पिता जी की बीमारी और देहावसान

फाल्गुन १९४२ (फरवरी १८८६) में पिता जी फिर अर्धाङ्ग से पीड़ित हुये और मुन्शीराम जी को तलवन जाना पड़ा ।

पिता जी का मुन्शीराम जी पर कितना विश्वास और प्रेम था, इस का पता उस समय की एक घटना से लग जाता है ।

एक दिन पिता जी ने मुन्शीराम जी को एकान्त में बुलाया। चिर-विश्वस्त नौकर भीमा ने इशारा पाते ही तुरन्त काग़ज़ों का एक पुलिन्दा लाकर सामने रख दिया। उस में पिता जी का लिखा हुआ वसीयतनामा था, जिसमें मकान ज़मीन आदि सब भाइयों में बांट कर नक़द-आभूषण आदि सब धन मुन्शीराम जी के नाम लिख दिया था और कुछ धर्म-कार्यों का करना भी उन के ही सुपुर्द किया गया था। मुन्शीराम जी ने उस को पढ़कर उस के स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की। उस के सम्बन्ध में बहुत विवाद हुआ। अन्त में मुन्शीराम जी ने स्पष्ट ही कह दिया कि यदि वसीयतनामे में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं किया गया तो वे अपना हिस्सा भी लेने से इनकार कर देंगे और उस को रद्द कर देने पर ही वे उनकी आज्ञानुसार सब कार्यों का सम्पादन करेंगे। पुत्र के इस दृढ़ निश्चय के सामने पिता के आग्रह को हार माननी पड़ी। पिता जी ने हार मानते हुये कहा—'यह वसीयतनामा भी तुम्हारी ही सम्पत्ति है। तुम जैसा चाहो वैसा करो।' पिता जी के ये शब्द सुनते ही मुन्शीराम जी ने वह वसीयतनामा फाड़ दिया।

पिता जी के इलाज की सुव्यवस्था कर और उन को कुछ अच्छा होते देख कर मुन्शीराम जालन्धर आ गये। प्रायः प्रति रविवार को वे पिता जी की अवस्था देखने और उन से मिलने तलवन आते जाते रहे। अच्छे अच्छे इलाज होने पर

भी बीमारी ने पिता जी का पीछा नहीं छोड़ा। डाक्टरी इलाज के बाद हकीमी इलाज भी कराया गया। १५०) क़ीमत तक का नुसख़ा काम में लाया गया। अवस्था दो-एक दिन अच्छी रहती और फिर बिगड़ जाती थी। इस अस्वस्थ अवस्था की एक घटना भी मुन्शीराम जी पर पिताजी के अटूट विश्वास को प्रगट करती है। एक दिन बड़े भाई पिताजी को पिलाने के लिये गिलास में कुछ लिये खड़े थे। पिता जी ने कहा—"यदि मुन्शीराम कह दे कि इसमें मांस नहीं है तो मैं पी लूंगा। वह मेरे भले के लिये भी झूठ नहीं बोलेगा।" बात यह थी कि हकीम जी ने चूज़े (मुर्ग़ी के बच्चे) का शोरवा अपनी दवा का अनुपान बताया था। बड़े भाई पहले वह शोरवा ही बनवा लाये थे और चने का रसा बता कर उनको दे दिया था, जिसे उन्होंने एक घूँट पीकर फेंक दिया। मुन्शीराम जी ने जांच कर पता लगाया कि इस बार शोरवा न देकर चनों का रस ही दिया जा रहा था। फिर स्वयं वह गिलास उनके सामने किया। पिताजी ने कहा—'पी लूं ?' विश्वासपात्र पुत्र ने कहा—'पी लीजिये।' उन्होंने इस प्रकार पिया, मानो मुन्शीराम के ही हाथों से उनको अन्तिम भोजन ग्रहण करना था। अवस्था बहुत बिगड़ गई। फ़िल्लौर से भी डाक्टर बुलाया गया। रात जैसे-तैसे बीत गई। सवेरे हिचकी का ज़ोर बँध गया, जो यत्न करने पर भी बन्द नहीं हुआ। दोपहर के बाद पिताजी के आदेशानुसार मुन्शीरामजी

ने उपनिषदों का पाठ आरम्भ किया। थोड़ी देर बाद पिताजी ने वैदिक हवन कराने के लिये कहा। उसी समय हवन-सामग्री के लिये आदमी को घोड़े पर जालन्धर दौड़ाया गया। दोपहर को वे सब घर वालों से मिले। फिर पंडित काशीराम और मुन्शीरामजी पिताजी को भजन सुनाते रहे। प्रायः सारी रात पिताजी की सेवा में मुन्शीरामजी ने जागते बिताई। अगला दिन कुछ अच्छा बीता। पर, शाम से फिर अवस्था बिगड़ने लगी। १२ आषाढ़ (२६ जून) की रात को ६ बजे मुन्शीरामजी के वेदपाठ करते हुए पिताजी ने अन्तिम सांस लिया। नाड़ी मुन्शीरामजी के हाथ में थी। वह भी बन्द हो गई। घर भर में सन्नाटा छा गया और थोड़ी ही देर बाद रोना-चिल्लाना शुरू हो गया। सब रात जागते हुए कटी। सवेरे अन्त्येष्टि क्रिया की तय्यारी शुरू हुई। मुन्शीरामजी समझे थे कि इस सम्बन्ध में भी किसी धार्मिक-संकट का सामना करना पड़ेगा। घर और बिरादरी वाले पौराणिक संस्कार के लिये आग्रह करेंगे। पर, उनकी दृढ़ता के सामने किसी को कुछ बोलने तक का साहस नहीं हुआ। हां, काना-फूसी बराबर होती रही। श्मशान-भूमि में मुन्शीरामजी की इच्छा के अनुसार ही वेदी बनाई गई, चन्दन की लकड़ियों में शव रखा गया और मन्त्रपाठ हो कर घी की आहुतियों के साथ दाह-संस्कार किया गया। जालन्धर से मँगाई गई सामग्री हवन के काम तो न आई, किन्तु इस अन्तिम संस्कार में

उसका उपयोग किया गया। घर लौट कर गृह-शुद्धि के लिये किये गये हवन में भी वह काम आई। अर्थी के कारचोबी के दुशाले के लिये जब महाब्राह्मणों में आपस में झगड़ा हो गया, तो उसको भी शव के साथ ही चिता की भेंट कर दिया गया। घर में बड़े भाई ने तो गरुड़ पुराण की कथा बिठाई और मुन्शीरामजी ने अलग उपनिषदों का पाठ किया।

घर की सम्पत्ति के बंटवारे में मुन्शीराम ने जिस सचाई का परिचय दिया, वह भी कोई साधारण घटना नहीं थी। पिताजी की आज्ञानुसार भीमा ने सब चाबियां लाकर मुंशीराम जी के सामने रख दीं। मुंशीरामजी ने सब की इच्छानुसार ही सम्पत्ति का बंटवारा करने के बाद जो बचा वह अपने हिस्से रखा। खुर्जा, बरेली और बनारस के चक्कर लगा कर वहां के साहूकारों की कोठियों का भी सब हिसाब साफ़ कर दिया। जो नक़द रुपया उन लोगों से मिला, उसका भी बंटवारा सब की इच्छानुसार ही कर दिया। तीनों भाइयों ने नक़दी अधिक ली और बग्घियां, घोड़े आदि पूरी क़ीमत लगा कर मुन्शीराम जी के हिस्से में कर दिये। इस यात्रा में बहुत-से पुराने साथी मिले।

पिताजी की बीमारी, देहावसान और उसके बाद घर की योग्य व्यवस्था करने में अनियमित समय लग जाने के कारण मुख्तारी की दुकान बन्द पड़ गई। वकालत की अन्तिम परीक्षा

देनी बाकी थी, जिसके लिये शीघ्र ही लाहौर जाने का विचार था। इस लिये मुख्तारी की दूकान को अभी बन्द ही रखा।

वकालत की अन्तिम परीक्षा और उसका अनुभव

सफल वकील होने पर भी वकालत इस जीवनी का बहुत ही गौण विषय है। वकालत के साथ धर्मप्रचार की प्रायः प्रतिद्वन्द्विता रही और उसमें सदा धर्म-प्रचार की ही विजय होती रही। फिर भी वकालत की कुछ घटनाएं मुन्शीरामजी के कुछ सद्गुणों को प्रगट करती हैं। उनके लिये ही वकालत के प्रसंग पर कुछ लिखना आवश्यक है।

पिताजी के देहावसान के बाद मुन्शीरामजी ने दशहरे का त्यौहार जालन्धर में मनाया। दशहरा के एक सप्ताह बाद वकालत की परीक्षा के लिये आप लाहौर गये। पिछले वर्ष के कुछ साथियों के पास ही डेरा किया। परीक्षा की तैयारी के दिनों में अमृतसर और लाहौर आर्यसमाज के उत्सवों में भी सम्मिलित हुए। मार्गशीर्ष सम्वत् १९४३ के पिछले दिनों (दिसम्बर सन् १८८६ के आरम्भ) में परीक्षा दी और परिणाम बहुत दिनों तक नहीं निकला। यूनीवर्सिटी के रजिस्ट्रार मि० लारपेयट साहब ही इतनी देरी के कारण थे। पहिले वर्ष की रिश्वत की

भूख इस वर्ष बहुत बढ़-चढ़ गई थी। गण्डासिंह नाम का एक एजेण्ट भी सब सौदा पटाने को मिल गया था। वकालत के परीक्षार्थी से १५००), मुख्तार से १०००) और बी. ए. तथा एम. ए. से इससे कुछ कम लिया जाता था। वकालत में पहिला और दूसरा होने वाले ने तो क्रमशः ३५००) और २५००) तक दिये थे। मुन्शीरामजी के पास सन्देश आया कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण तो हैं, किन्तु उनको भी एक हजार की भेंट चढ़ाये बिना प्रमाण-पत्र नहीं मिलेगा। मित्रों के पत्र आने पर मुन्शीरामजी इस विचार से लाहौर गये कि वहां पहुंच कर इस सब अनाचार का भण्डाफोड़ करेंगे, किन्तु उनके वहां पहुंचने से पहिले ही हिसार के प्रसिद्ध वकील लाला चूड़ामणि ने सब रिपोर्ट उस समय के वाइस-चान्सलर सर विलियम रेटिगन के पास पहुंचा दी। वाइस-चांसलर ने परिणाम की सारी फ़ाइल उसी समय अपने पास मँगा ली। सिनेट ने लाला चूड़ामणि के सिवा बाकी सब को नापास कर दिया। मुन्शीरामजी की सब मेहनत इस बार भी अकारण ही बेकार गई। लारपैण्ट साहब पर मुक़दमा चला। उनको अपने किये का फल भोगना पड़ा। पर, मुन्शीरामजी सरीखे जिन निरपराधों के गले पर छुरी फिर गई थी, उनके प्रति हुए अन्याय का प्रतिकार कुछ न हुआ। इस प्रकार अन्यायपूर्वक अनुत्तीर्ण होने से मुन्शीरामजी के दिल पर बड़ी गहरी चोट लगी। लाहौर के चीफ़ कोर्ट के जस्टिस बनने की आशा का

तार तो टूटा ही, साथ में क़ानून के पेशे से भी रुचि हट गई। पर, वकालत पास करने की इच्छा बनी ही रही। इस लिये अगले वर्ष सम्वत् १९४४ के मार्गशीर्ष (नवम्बर १८८७) में मुन्शीरामजी परीक्षा की तय्यारी करके कुछ पुस्तकें साथ में लेकर फिर लाहौर पहुंचे। २६ और २७ नवम्बर को लाहौर आर्य-समाज के उत्सव में भी सम्मिलित हुए। उत्सव के दो ही दिन बाद पता चला कि परीक्षा दो मास के लिये स्थगित कर दी गई है। मुन्शीरामजी निराश हो जालन्धर लौट आये और आर्य-समाज के काम में लग गये। इन दो महीनों में क़ानून की पुस्तकों को छुआ तक नहीं। ४ माघ १९४४ (१७ जनवरी १८८८) को आप फिर परीक्षा के लिये लाहौर को रवाना हुए। मार्ग में गुरुदासपुर, फ़िल्लौर और अमृतसर आर्यसमाजों के उत्सव भुगताये। २४ से २९ माघ (६ से ९ फरवरी) तक परीक्षा हुई। कुछ तय्यारी न करके और निरन्तर आर्यसमाज के काम में लगे रहने पर भी परीक्षा बहुत अच्छी तरह गुज़री और उसमें सफलता भी प्राप्त हुई। पर, धर्म-प्रचार की धुन समा जाने के बाद परीक्षा की सफलता वकालत के पेशे में कुछ अधिक काम नहीं आई।

वकालत के पेशे की केवल दो-तीन घटनाएं ही उल्लेखनीय हैं। दो घटनाएं तो वकालत पास करने से पहिले मुख़्तारी के दिनों की हैं और एक कुछ दिन बाद की है। सब से अधिक

महत्वपूर्ण घटना वह है, जिसने यह अनुभव कराया कि वकालत के साथ सचाई नहीं निभ सकती। सम्वत १९४३ में मुन्शीरामजी की मुख्तारी ख़ूब चमकी। उन दिनों जालन्धर में फ़ौजदारी मुक़दमों के लिये बीची साहब का बड़ा नाम था। बड़े-बड़े मुक़दमे प्रायः सब उनके ही पास जाते थे। किसी जाट-सरदार के मुक़दमे की पैरवी करते हुए बीची साहब ने आपको देखा तो वे आपकी योग्यता से इतने प्रभावित हुए कि बड़े-बड़े मुक़दमों में आपको अपने साथ रखने लगे। इससे आपकी योग्यता का सिक्का जम गया और मुख़्तारी ख़ूब चल निकली। दीवानी का काम आपके पास पहिले से ही बहुत आता था। पर, यह प्रसिद्धि अधिक समय तक न निभ सकी। इसका कारण यह था कि एक साहूकार एक हज़ार के दावे का एक मुक़दमा आपके पास लाया। उस पर टिकट नहीं था। इस लिये आपने साहूकार को बताया कि उसके आधार पर मुक़दमा नहीं चल सकता। मुक़दमा चलाने का सीधा रास्ता साहूकार की समझ में नहीं बैठा। पर, कुछ दिन बाद उसी पर टिकट लगा कर साहूकार फिर आया और अर्ज़ीदावा दायर करवा दिया। ५० रुपये फ़ीस देना ठीक करके २५ रु० पेशगी भी दे दिये और जल्दी में मुख़्तारनामे पर सही भी करा ली। मुन्सिफ़ अछरूराम के सामने मुक़दमा पेश हुआ। हाथ में कागज़ और बही आने पर तुरन्त समझ में आ गया कि मामले में जालसाज़ी की गई है। मुन्सिफ साहब के सामने

ही मुक़दमे की पैरवी करने से साफ़ इन्कार कर दिया और मुंशी को हुक्म दिया कि फीस के २५ रु० लौटा दो। मुंसिफ़ साहिब ने अंग्रेज़ी में बहुत समझाया कि इससे बदनामी होगी और इससे आर्थिक हानि भी उठानी पड़ेगी। पर, मुंशीरामजी ने एक न मानी। उस मुंशी को भी छुट्टी दे दी, जिसने इस मुक़दमे के लिये मुख्तारनामे पर हस्ताक्षर लिये थे। इस सत्य-व्यवहार से उनके पेशे अथवा व्यवसाय को उससे बहुत बड़ा धक्का लगा। पांच सौ माहवार की आमदनी १५०) के लगभग रह गई। पर, यह स्थिति अधिक दिन नहीं बनी रही। जहां सत्य-व्यवहार से इतनी भारी हानि उठानी पड़ी थी, वहां धर्म-प्रचार की लगन का शुभ-फल भी अनायास ही हाथ आ गया।

जालन्धर की धर्मसभा में पंडित दीनदयालुजी के साथ हुई मुठभेड़ की घटना को यहां ही दे देना ठीक होगा। पंडित दीन-दयालुजी के व्याख्यानों के उत्तर में जालन्धर-आर्यसमाज में मुंशीरामजी का व्याख्यान अच्छे जन-समुदाय में हुआ था। एक जाट-सरदार उस व्याख्यान से इतने प्रभावित हुए कि व्याख्यान से दूसरे ही दिन एक बड़े मुक़दमे में एक हज़ार फ़ीस ठहरा कर पांच सौ रुपये नक़द दे गये। दूसरी ओर से जालन्धर के सब से बड़े दो वकीलों को खड़ा किया गया था। बात यह थी कि सरदारजी वकीलों की परीक्षा लिये बिना किसी के हाथ में मुक़दमा नहीं देना चाहते थे। उन्होंने अदालत में प्रायः सभी

वकीलों को बहस करते हुए सुना था। वे इसी उधेड़-बुन में थे कि आर्यसमाज में मुन्शीराम जी के भाषण में उनका तर्क-वितर्क सुन कर इतने खुश हुए कि और अधिक छान-बीन न करके उनके ही हाथ में मुक़दमा दे गये। मुन्शी-रामजी के लिये यह घटना कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं थी। इसी प्रकार उनकी मुख्तारी के चांद का शुक्लपक्ष शुरू हुआ और आमदनी बढ़ती चली गई।

माघ सम्वत् १६४७ (जनवरी १८६१) की सुकेत-यात्रा को भी यहां ही इसलिये निपटा लेना चाहिये कि उसका उद्देश्य एक मुकद्दमे की पैरवी करना ही था, इस में सन्देह नहीं कि उस यात्रा में धर्म-प्रचार का काम भी अच्छा हुआ। सुकेत के राजा दुष्टनिकन्दन सेन ने अपने सगे चाचा मियां शिवसिंह को देश-निकाला देकर उनका सब भण्डार लूट लिया था। अपने भाइयों को गुज़ारे के अधिकार से भी वंचित करके राज के बाहर कर दिया था! मियां शिवसिंह अपने छोटे भाई मियां ज्वालासिंह और भतीजे मियां जनमेजय तथा उसके भाई के साथ जालन्धर में राय शालिग्राम के यहां आ गये। मियां जनमेजय आर्यसमा-जियों की संगति से आर्यसमाज के सभासद् और मुंशीराम जी के अन्यतम साथी बन गये। इन्हीं मियां शिवसिंह की ओर से मुंशी-राम जी उस मुक़द्दमे की पैरवी के लिये सुकेत गये थे, जो कि उन्होंने राजा दुष्टनिकन्दन सेन के विरुद्ध अपना भण्डार लूटने के

लिये चलाया था। कमिश्नर को इस मामले की जांच करने के लिये वहां भेजा गया था। सत्रह दिन तक इस मुक़दमे के लिये मुन्शीराम जी को वहां ही रहना पड़ा। मुक़दमे के साथ-साथ प्रकृति का आनन्द लूटा, मनुष्य-स्वभाव का कुछ अध्ययन किया और साथ में वैदिक-धर्म का प्रचार भी किया। दूसरी ओर से बैरिस्टर रेंगिटन मामला लड़ने के लिये आये थे। मुन्शीराम जी की सहायता के लिये बाबू दसौंधीराम और लाला गणेशदास वकील भी बुलाये गये थे। पर, उन में एक शराबी और दूसरे अंग्रेज़ी के ज्ञान से शून्य थे। इसलिये मुक़दमे की तय्यारी का सब काम मुन्शीराम जी के ही सिर पर आपड़ा। भण्डार लूटने के दावे के लिये प्रमाण क्या पेश किया जाता? अत्याचारों से पीड़ित प्रजा ने स्वयं आकर छिपे तौर पर चोरी के माल का पता देना शुरू किया। मुंशीराम जी ने कमिश्नर से तलाशी के वारण्ट मांगे। इस पर कमिश्नर ने मियां शिवसिंह से कहा कि यदि वारंट पर चोरी का माल कहीं से हाथ न आया, तो उनको जेल की हवा खानी पड़ेगी। मुन्शीराम जी ने यह सब ज़िम्मेवारी अपने ऊपर ले ली और एक लिखित प्रार्थनापत्र भी कमिश्नर के सामने पेश कर दिया। साथ में कुछ गुप्त प्रमाण भी उस के सामने रख दिये। कमिश्नर ने सरिश्तेदार का भी रास्ता न देखा और मुन्शीराम जी से ही वारण्ट लिखवा कर जारी कर दिये। सवेरे १० बजे पुलिस वारंट लेकर तलाशी के लिये गई और

६ बजे तक राजा साहब के नौकर-चाकरों और विश्वासपात्र लोगों के घरों में से चोरी का माल बरामद करके ले आई। सब ने यही बयान दिया कि राजा ने वह सामान उन को कुछ दिन के लिये रखने को दिया था। इस का परिणाम यह हुआ कि एक लाख रुपये के दावे में ४० हजार की मुफ़्त में बांटी जाने वाली दवाइयों की क़ीमत काट कर ६० हज़ार की डिगरी होगई। बैरिस्टर रेगिटन राजा से रोज़ की एक हज़ार फ़ीस लेते थे और एक सौ भोजन का ख़र्च लेते थे। पिछले सात दिनों में लाहौर जाने का बहाना बना कर सोलह सौ प्रति दिन लेते रहे। राजा साहब को इतना ख़र्चने पर भी मुंहकी खानी पड़ी। वकालत के पेशे में मुन्शीराम जी की यह एक असाधारण विजय थी। इस से उनकी ख्याति भी ख़ूब हुई और वकालत का पेशा भी ख़ूब चमक उठा। फ़ैसला होते ही मुन्शीराम जी लौटना चाहते थे, पर मियां शिवसिंह और उन के सम्बन्धियों के आग्रह पर रुपया लेने, गिनवाने और खोटे रुपये बदलवाने तक का सब काम भी उन को ही करना पड़ा और कुछ अधिक दिन के सुकेत में रुकना पड़ा।
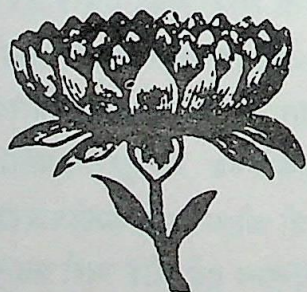
दूसरा भाग

ग.

—:—

सार्वजनिक जीवन का उपक्रम

१. धार्मिक उत्साह का प्रारम्भ, २. बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की धमकी, ३. धर्म-प्रचार का विस्तार, ४. जालन्धर आर्यसमाज का पहला उत्सव, ५. पं० दीनदयालु जी से मुठभेड़, ६. बम्बई की पहली यात्रा, ७. पहले पुत्र का जन्म, ८. जालन्धर-समाज का दूसरा उत्सव, ९. सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा, १०. इन दिनों का व्यक्तिगत जीवन, ११. धर्म-प्रचार की धुन और जालन्धर-समाज का तीसरा उत्सव, १२. दो-तीन दुःसह वियोग।

१. धार्मिक उत्साह का प्रारम्भ

चैत्र मास सम्वत् १९४३ में श्री मुन्शीराम जी रोग-शय्या पर पड़े हुए पिता जी से मिलने के लिये तलवन गये हुए थे। वहां से जालन्धर आते ही आर्य भाइयों ने आ घेरा। उन से मालूम हुआ कि अमृतसर का पण्डित श्यामदास वहां आया हुआ है, जिस ने आर्यसमाज को शास्त्रार्थ के लिये बारबार ललकार कर ऐसा नीचा दिखाया है कि आफ़त ढा दी है। नियोग आदि विषयों को लेकर ऐसी अश्लील भाषा में सर्वसाधारण को भड़काता है कि आर्यसमाजी कहीं मुँह नहीं दिखा सकते। श्री मुन्शीराम जी ने उसी समय शास्त्रार्थ की स्वीकृति का पत्र

लिखा। कुछ लिखा-पढ़ी के बाद पण्डित श्यामदास "मूर्तिपूजा और अवतारवाद के मण्डन" पर शास्त्रार्थ करने के लिये तय्यार हुए। शास्त्रार्थ का दिन भी नियत हो गया। मुन्शीराम जी ने अपने ही यहां मुन्शीगिरी करने वाले काशीराम को लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्री साईंदास जी के नाम पत्र देकर शास्त्रार्थ के लिये पण्डित लाने को लाहौर भेजा। वहां से कोई पण्डित तो न मिला, किन्तु यहां तक कहा गया कि "छोटे-छोटे आर्य-समाजों को बिना हमारी आज्ञा के शास्त्रार्थ नहीं रच लेना चाहिये। ....यदि साहस नहीं था तो शास्त्रार्थ की डींग ही क्यों मारी थी ?" काशीराम लाहौर से निराश होकर अमृतसर आया। पण्डित धर्मचन्द्र जी काश्मीरी उस समय अमृतसर आर्यसमाज के प्रधान थे। उन्होंने लाजपत नाम के जिस ब्राह्मण युवक को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया था, उसको ही काशी-राम के साथ कर दिया। लाजपत अच्छे वक्ता तो न थे, पर संस्कृत बोल लेते थे। उन की सहायता से शास्त्रार्थ की तय्यारी की गई और रात को शास्त्रार्थ का मोर्चा भी लिया गया। संस्कृत में ही शास्त्रार्थ करने की शर्त थी। पर, श्यामदास जनता पर प्रभाव डालने के लिए हिन्दी में बोलने लगे। बस, तब क्या था ? मुन्शीराम जी उठ खड़े हुए और लगे स्वयं ही शास्त्रार्थ करने। पण्डित का आग्रह था कि लाजपत ही को शास्त्रार्थ करना चाहिए, पर मुन्शीराम जी का एक ही जवाब

था कि जब पण्डित जी ने स्वयं ही शास्त्रार्थ की शर्त का पालन नहीं किया, तो उनको कोई अधिकार नहीं कि दूसरे पक्ष को शर्त-पालन के लिये बाधित करें। शास्त्रार्थ का परिणाम आर्य-समाज के लिये बहुत शुभ हुआ। दूसरे दिन से समाज-मन्दिर में श्यामलाल के व्याख्यानों का खण्डन होने लगा, जिन में इतनी भीड़ होने लगी, जितनी पहिले कभी न हुई थी। जालन्धर में इस प्रकार का यह पहला ही शास्त्रार्थ था। अन्य मतावलम्बियों के साथ होने वाले जालन्धर-आर्यसमाज के संघर्ष का इस शास्त्रार्थ से ही सूत्रपात हुआ था। इसलिये भी इस का विशेष महत्व था। इस से आर्यसमाज को बहुत लाभ हुआ। पहिला प्रत्यक्ष लाभ तो यह था कि तीस-पैंतीस नये सभासद मिल गए, दूसरा यह कि जालन्धर के आर्य पुरुषों ने परमुखापेक्षी न रहकर बहुत प्रारम्भ में ही स्वावलम्बन का पाठ पढ़ लिया। अभी तक पञ्जाब में प्रतिनिधि-सभा की स्थापना नहीं हुई थी। लाहौर के सिवा किसी और समाज को शास्त्रार्थ करने का अधिकार न था। लाहौर के बाहर का कोई भी गृहस्थ शास्त्रार्थ तो क्या धर्मप्रचार तक करने का साहस नहीं करता था। ऐसी हालत में गांवों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े नगरों तक में आर्यसमाज का सन्देश पहुँचना कठिन था। शास्त्रार्थों के लिए अबतक आर्यसमाज की ओर से ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पण्डित ही खड़े हुआ करते थे। संस्कृत तो क्या, हिन्दी

का भी अच्छा अभ्यास करना सर्वसाधारण आर्य पुरुषों ने शुरू नहीं किया था। इस सारी प्रथा को बदलने का श्रेय इस शास्त्रार्थ के कारण जालन्धर-आर्यसमाज को ही मिला। जालन्धर-आर्यसमाज ने अपने पैरों पर खड़ा होने की शिक्षा ग्रहण की और दूसरे समाजों के सामने भी इस सम्बन्ध में एक उदाहरण उपस्थित किया।

इस शास्त्रार्थ से आर्यसमाज को मिलने वाले सामुदायिक लाभ की अपेक्षा मुन्शीराम जी को जो व्यक्तिगत लाभ मिला, वह भी कुछ कम नहीं था। लाहौर के आर्य-नेताओं की बौछार और उनमें से हुई निराशा से मुन्शीरामजी ने यह दृढ़ संकल्प किया कि भविष्य में अपनी सहायता के लिये किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहेंगे। इस संकल्प की पूर्ति के लिये ही वैदिक ग्रन्थों के स्वाध्याय के लिये उन में अधिक रुचि पैदा हुई। ज्येष्ठ सम्वत् १९४३ के प्रारम्भ से ही उन्होंने मूल वेदों की पुनरावृत्ति शुरू कर दी। प्रातः-सायं दोनों समय हवन के बाद कम से कम वीस वेदमन्त्रों के स्वाध्याय और अनुशीलन का नियम बना लिया। साथ में वेदभाष्य देखने का भी नियम किया और अन्य धर्म-सम्बन्धी अध्ययन भी शुरू कर दिया। व्याकरण तथा वेदांग आदि के ज्ञान के विना भी मुन्शीराम जी को वेदमन्त्रों का उच्च तथा गम्भीर आशय बोध होने लगा और यह अनुभव होने लगा कि वेदार्थ के लिए व्याकरण आदि की अपेक्षा मानसिक शुद्धि

की ही अधिक आवश्यकता है। सम्वत् १६४८ के अन्त तक स्वाध्याय का यह क्रम जारी रहा। उस के बाद आर्यसमाज के घरेलू युद्ध से इस स्वाध्याय में ऐसा विघ्न पड़ा कि उस का टूटा हुआ क्रम फिर कभी नियमबद्ध न हो सका।

२. बिरादरी से ख़ारिज किये जाने की धमकी

प्रत्येक आन्दोलन की पहले उपेक्षा की जाती है और फिर उसका विरोध किया जाता है। जालन्धर-आर्यसमाज का आंदोलन भी पुराण-पन्थियों, विशेष कर ब्राह्मण-धर्माभिमानियों, की उपेक्षा की सीमा पार कर, विरोध की सीमा पर पहुंच गया था। जाति-बहिष्कार के सिवा उन के पास विरोध का कोई शस्त्र भी नहीं था। थापर खत्रियों के दीवानख़ाने में आर्यसमाजियों को जाति-च्युत करने की व्यवस्था देने के लिए पण्डितों उर्फ़ नामधारी ब्राह्मणों की पंचायत बुलाई गई। शहर में बड़ी हलचल मच गई। जिन के लड़के, पोते, दोहते, भतीजे आदि आर्यसमाजी थे, वे उन ब्राह्मण-धर्माभिमानियों की सूची बनाने लगे, जिन को काला अक्षर भैंस बराबर भी नहीं था और जो गायत्री मन्त्र से भी अनभिज्ञ थे। व्यवस्था देने वालों में क़िसी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि वे एक सम्बन्धिनी स्त्री से फंसे हुए हैं। दूसरे शिरोमणि और

लोकमान्य माने जाने वाले भी व्यभिचार-दोष के लिये बदनाम थे। तीसरे जुएबाज़ थे। देवराज जी ने इन में से ही एक से यज्ञोपवीत लिया था। वे उन के पास मुन्शीराम जी के साथ गये और उनसे बोले—"पंडित जी, आप मेरे गुरु हैं। आप पंचायत कीजिये। हमारा प्रश्न यह होगा कि जो इस प्रकार के पापाचार में लिप्त है उसको पहले गधे पर सवार करके देश-निकाला दिया जाय, तब हम अपनी सफ़ाई पेश करेंगे।" देवराज जी की धमकी काम आगई। पंचायत का समय आया तो शिरोमणि जी तो प्रातःकाल ही टिकट कटवा कर अमृतसर चल दिये। देवराज जी के गुरु जी हाथ में लोटा ले कान पर जनेऊ चढ़ा सवेरे दस बजे जो जंगल को गये तो शाम तक वापिस नहीं लौटे। पंचायत में पांच ब्राह्मण भी न आये।

पंचायत बुलाकर आर्यसमाजियों को जातिच्युत कराने की आशा पर इस प्रकार तुषारपात होने पर पुराण-पन्थियों ने फिर अमृतसर से पण्डित श्यामदास को ही बुला भेजा। डूबतों को तिनके का सहारा और क्या मिलता ? पण्डित जी भी नयी भेंट-पूजा की आशा से दौड़े चले आये। अकस्मात् मुन्शीराम जी इस बार भी तलवन गये हुए थे। दो दिन तो पण्डित अनाप-शनाप बक कर लोगों को भ्रम में डालते रहे। तीसरे दिन मुन्शीराम जी जालन्धर आये और पण्डित जी के व्याख्यान में गये। पंडित जी 'सत्यार्थ-प्रकाश' में से पाराशर के उस श्लोक

का, जिसका ऋषि दयानन्द ने स्वयं ही खण्डन किया है, पूर्वपक्ष पढ़कर लोगों को बताने लगे कि 'दयानन्द ने गाय से गधी को अच्छा बताया है।' मुन्शीराम जी ने बीच में ही रोक कर सारी इबारत पढ़ने को कहा। पंडित जी के टाल-मटोल करने पर मुन्शीराम जी स्वयं प्लेटफ़ार्म पर जा खड़े हुए और पंडित जी के हाथ से पुस्तक लेकर सब इबारत स्वयं पढ़ दी। साथ में उनको अगले दिन आर्यसमाज में अपना व्याख्यान सुनने का निमन्त्रण भी दे दिया। जोश में पंडित जी ने निमन्त्रण स्वीकार करते हुए कह दिया कि "मैं अवश्य आऊंगा।" दूसरे दिन टालने पर भी लोग पंडित जी को समाज में ले ही आये। समाज-मन्दिर में ऐसी उपस्थिति पहले कभी देखने में न आई थी। अन्दर-बाहर, छत-सड़क, सब जगह आदमी ही आदमी थे। बीस मिनट तक आर्यसमाजके सिद्धान्तों की बातें तो पण्डित जी शांति से सुनते रहे, परन्तु जब पौराणिक सिद्धान्तों का पौराणिक प्रमाणों द्वारा ही खण्डन होने लगा तो 'राधा-कृष्ण की जय' का नारा लगा कर पंडित जी उठ खड़े हुए और 'कथापि खलु पापानाम्' का अनुसरण करते हुए वहां से चल दिये। दो-ढाई सौ आदमी उन के साथ गये होंगे। बाक़ी सब वहां ही जमे रहे। डेढ़ घण्टा मुन्शीराम जी का धारा-प्रवाह भाषण हुआ। इस सौदे में भी आर्यसमाज लाभ में ही रहा। दस-पन्द्रह नये सभासद मिल गये। जालन्धर के आर्यसमा-

जियों में आत्म-विश्वास और धर्मप्रचार की लगन इतनी अधिक समा गई कि वे दूने उत्साह के साथ उस में लग गये।

३. धर्म-प्रचार का विस्तार

पिता जी की मृत्यु के बाद घर की सब व्यवस्था कर लेने पर सम्वत् १९४३ के दसहरे से पहले ही मुन्शीराम जी वकालत की परीक्षा के लिये लाहौर जाने वाले थे, किन्तु जालन्धर में दसहरे के मेले पर धर्म-प्रचार के लिये रुकना पड़ा। यह पहला अवसर था, जब जालन्धर में समाज-मन्दिर के बाहर सार्वजनिक-रूप में ईसाइयों की बराबरी में आर्यसमाज ने अपना खेमा गाड़कर धर्म-प्रचार का प्रबन्ध किया था। मिशन स्कूल के हैडमास्टर भक्तराम जी बी० ए० उस समय स्थानीय आर्यसमाज के उपप्रधान थे, वे अपने हाथों से रामलीला के तालाब (आधुनिक गांधी-मंडप) पर खेमे के खूंटे ठोकने और 'ओ३म्' का झंडा लगाने का काम कर रहे थे। बड़े-बड़े घरों के लड़कों के धर्म-सेवा में इस प्रकार लगने का सर्वसाधारण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। ईसाइयों का प्रचार बिलकुल फीका पड़ गया। कभी-कभी तो उनके कैम्प में चूहे ही डंड पेलते थे। आर्यसमाज का ख़ूब प्रचार हुआ।

इस सार्वजनिक प्रचार के साथ-साथ, आर्य सभासदों के जीवन को भी उन्नत बनाने का यत्न विशेष रूप में किया जाने

लगा। इसी समय पारिवारिक-उपासना का क्रम शुरू किया गया। प्रत्येक सप्ताह मंगलवार को सब भाई किसी सभासद के यहां इकट्ठे होते थे। उन पर भी इस प्रार्थना का बहुत प्रभाव पड़ता था। इस पारिवारिक प्रार्थना का सर्वप्रथम श्रीगणेश जालन्धर आर्यसमाज में ही किया गया। इसके अलावा 'चाटी सिस्टम' के नाम से 'आटा फंड' और बाद में 'रद्दी फंड' भी सब से पहले यहां ही क़ायम किया गया था। प्रत्येक आर्य सभासद के घर में एक-एक घड़ा इसलिये रख दिया था कि प्रतिदिन प्रातः-काल उस में आर्यसमाज के लिये एक-एक मुट्ठी आटा डाला जाय। आर्यसमाज का चपरासी मास के अन्त में आर्य सभा-सदों के यहां जाता था और जमा की हुई सब रद्दी और आटा ले आता था। उस को वेच कर जमा किये गये धन से आर्यसमाज के पुस्तकालय और वाचनालय का ख़र्च चलाया जाता था। ये सब आयोजनायें देवराज जी के उपजाऊ दिमाग़ में पैदा होतीं थीं और मुन्शीराम जी उन को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये उनका पूरा साथ दिया करते थे।

४. जालन्धर-आर्यसमाज का पहला उत्सव

वकालत की पहली परीक्षा से निबट कर मुन्शीराम जी पौष १९४३ में जालन्धर आये और जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव की तय्यारियों में लग गये। आर्यसमाज की जगह

बदल गई थी। मुरलीमल की धर्मशाला छोड़ कर कपूर्थला के वकीलखाने के सामने वाली जगह ले ली गई थी। इस नये मकान का आंगन बहुत खुला था, उसी में शामियाने खड़े किये गये और उन को पूरी मेहनत के साथ सजाया गया। यह उत्सव कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण हुआ। नगर-निवासियों पर इस का प्रभाव भी ख़ूब पड़ा। नगर-कीर्तन बहुत प्रभावशाली हुआ और प्रतिदिन प्रातःकाल आर्य पुरुषों की हरिकीर्तन करती हुई निकलने वाली मंडली का भी अच्छा प्रभाव पड़ता था। बाहर से आये हुए आर्य पुरुषों के ठहरने का प्रबन्ध मुन्शीराम जी के मकान पर किया गया था। यह मकान था शहर के एक ओर और उत्सव का आयोजन था ठीक उस से दूसरी ओर। इस-लिये आर्य पुरुषों को शहर के बीच में से होकर जाना पड़ता था और वे नगरकीर्तन करते हुए ही आया-जाया करते थे। जालन्धर की धर्म-सभा ने भी बीस ही दिन पूर्व जन्म लेकर भी अपना उत्सव इन दिनों में ही रख दिया था। उसकी प्रतिद्वन्द्विता और विरोध ने आर्यसमाज के उत्साह की अग्नि में घी डालने का काम किया। इस उत्सव की सफलता से आर्यसमाज की जड़ें सुदृढ़ हो गईं। आर्य भाई और भी अधिक उत्साह से आर्यसमाज के कार्यों में भाग लेने लगे। अन्तरंग सभा के अधिवेशन और पारिवारिक-उपासना अधिक नियम से होने लगे। प्रति सप्ताह तीन-चार दिन आर्य पुरुष रात को ८—९ बजे भजन गाते

हुए बाज़ारों में से निकलने लगे। शाम को प्रति दिन समाज-मन्दिर में इकट्ठे होकर सन्ध्यादि नित्य कर्म करने लगे और साथ में धर्म-चर्चा भी होती। पारस्परिक शङ्काओं की निवृत्ति के साथ-साथ प्रचार के साधनों पर भी विचार होता। सारांश यह कि स्थानीय आर्यसमाज में नवजीवन का संचार हो गया और उस के सब कार्य नियमानुसार चलने लगे।

मुन्शीराम जी को इसी अवसर पर पंडित गुरुदत्त जी के सत्संग का लाभ मिला और स्वाध्याय के शुरू किये हुए अभ्यास पर उन का बहुत अधिक विश्वास हो गया। उन पर पंडित जी के इस कथन का बहुत प्रभाव पड़ा कि ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को जितनी बार पढ़ा जाय उन में से नित्य नये-नये भाव विदित होते हैं। उत्सव के बाद से ही मुन्शीराम जी स्वाध्याय में और अधिक दत्तचित्त होकर लग गये।

पहले उत्सव से स्थानीय आर्य पुरुषों में जो तत्परता पैदा हुई, उससे एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि सं० १९४४ के शुरू में ही आर्यसमाज को उस जगह का थोड़ा सा हिस्सा मिल गया, जिस पर कि इस समय विशाल आर्यमन्दिर बना हुआ है। उन पौराणिकों के विरोध से छुट्टी मिली, जो मकान-मालिकों को आर्यसमाज से मकान ख़ाली करवा लेने के लिये सदा ही भड़काया करते थे।

५. पण्डित दीनदयालु जी से मुठभेड़

सम्वत् १९४३ के मार्गशीर्ष, दिसम्बर सन् १८८६, में उत्तीर्ण होने के पूरे निश्चय के साथ वकालत की परीक्षा देने पर भी लारपैण्ट साहब की अन्धेरशाही के कारण परीक्षा-परिणाम के निकले ही बिना हिसार के लाला चूड़ामणि के सिवा सब ही को अनुत्तीर्ण कर दिये जाने से मुन्शीराम जी की रुचि क़ानून से हट गई थी और उसका स्थान धर्म-प्रचार की धुन ने ले लिया था। उधर सत्य-व्यवहार के कारण क़ानून से होने वाली आमदनी भी पांच सौ से घट कर डेढ़ सौ रह गई थी। इन दोनों कारणों से मन बहुत उदास होगया और कुछ निराशा भी पैदा हुई। इसीलिये एकान्त-निवास द्वारा कुछ शांति प्राप्त करने की इच्छा से मुन्शीराम जी सम्वत् १९४४ के ज्येष्ठ मास में तलवन चले गये। वहां कुछ अधिक दिन नहीं बीते थे कि जालन्धर की धर्म-सभा में पं० दीनदयालु जी पधारे और उन्होंने आर्यसमाज के सिद्धान्तों का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। मुन्शीराम जी के पास आदमी पत्र लेकर पहुंचा। पत्र को देखते ही वे तलवन से चल दिये। १२ बजे मकान पर जालन्धर पहुँच कर अपने मुन्शी काशीराम से सब हाल जाना और वहां-निवासी लाला तेलूराम के लिये हुए व्याख्यानों के वे नोट देखे, जिन में पंडित जी के शब्द तक लिख लिये गये थे। मुन्शीराम जी ने भोजन पीछे

किया, पहिले पंडित दीनदयालु जी को शास्त्रार्थ के लिये पत्र लिखा और काशीराम को उसकी एक नक़ल पर उनके हस्ताक्षर लाने के लिये उनके पास भेजा। सांथ में समाज-मन्दिर में दूसरे दिन अपने व्याख्यान का विज्ञापन भी निकलवा दिया! पंडित जी के टालने पर भी काशीराम पत्र की नक़ल पर उनके हस्ताक्षर ले ही आया। बस, इतने पर ही चारों ओर आर्यों की हिम्मत की चर्चा होने लगी। उसी दिन शाम को ठीक साढ़े पांच बजे मुन्शीराम जी बहुत से आर्य भाइयों को साथ ले पंडित जी के व्याख्यान में भी गये। पंडित जी दूसरे पक्ष के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करने और उसका मज़ाक उड़ाने में सिद्धहस्त थे। उस समय उनकी यह कला पूर्ण यौवन पर थी। जिस समय मुन्शीराम जी वहां पहुँचे, उस समय पंडित जी इसी कला का दिग्दर्शन कराते हुए उसी पत्र की उपहासात्मक आलोचना कर रहे थे, जो मुन्शीराम जी ने उनके पास काशीराम के हाथ भेजा था। सनातनधर्म-सभा के प्रधान श्री हरभजराय जी ने बड़ी शिष्टता के साथ खड़े होकर मुन्शीराम जी का स्वागत किया। पंडित जी समझे कि कोई सुप्रतिष्ठित सनातनधर्मी आये हैं। लगे पत्र की फिर प्रारम्भ से आलोचना करने और अपनी आदत के अनुसार पत्र-लेखक के सम्बन्ध में भ्रम पैदा करने के लिये हँसी करते हुए लगे कुछ भाग छोड़ कर उसको पढ़ने। मुन्शीराम भला अपने प्रति ऐसा अन्याय कब सहन कर सकते थे! उन्होंने

पंडित जी से कहा कि बीच का भाग भी पढ़ दीजिये, उसको क्यों छोड़ रहे हैं ? बस, इतना कहना था कि सभा में खलबली मच गई। पंडित जी ने पत्र की आलोचना छोड़ कर एक घण्टा वैराग्य विषय पर ही पूरा किया।

व्याख्यान समाप्त होते ही एक आर्य सज्जन ने घोषणा कर दी कि कल से समाज-मन्दिर में पंडित जी के व्याख्यानों का खण्डन किया जायगा। जैसे हमारे प्रधान यहां आये हैं वैसे पंडित जी को भी वहां पधारने की कृपा करनी चाहिये। सनातनधर्मियों की ओर से इस घोषणा पर आपत्ति की गई, तो आर्यों की ओर से कहा गया कि 'हमने तो केवल सूचना दी है, सुनने की हिम्मत न हो तो मत आना।' आर्यों की हिम्मत का सिक्का सारे शहर पर जम गया। लोगों के मुँह पर एक ही बात थी—"ये आर्य बड़े ज़बरदस्त हैं, जो दूसरों के घर पहुँच कर भी उनकी ख़बर ले डालते हैं।"

दूसरे दिन आर्यसमाज-मन्दिर में सारा शहर टूट पड़ा। भीड़ का कुछ ठिकाना न था। कुछ लोग पण्डित जी को लिवा लाने के लिये उनके निवास-स्थान पर भी गये, पर वे छावनी चले गये थे। मुन्शीरामजी ने उस दिन व्याख्यान की समाप्ति पर यह सूचना भी दे दी कि यदि कल पंडित जी आये तो उनके साथ धार्मिक विषय पर विचार होगा, नहीं तो एक अनोखा व्याख्यान होगा। पंडितजी ने तो शास्त्रार्थ करना स्वीकार नहीं

किया, पर आर्यसमाज की ओर से "चाऊ-चाऊ का मुरब्बा" विषय पर व्याख्यान देने का विज्ञापन निकल गया। व्याख्यान के इस विचित्र विषय की इतनी अधिक चर्चा हुई कि लोग बड़ी उत्सुकता से व्याख्यान की प्रतीक्षा करने लगे। व्याख्यान के समय समाज-मन्दिर की छतें और दीवारें तक मनुष्यों से भर गईं। कहीं तिल रखने को जगह न रही। पंडितजी के विशृङ्खल व्याख्यानों को इससे बढ़िया और क्या नाम दिया जा सकता था ? पंडित दीनदयालु जी तो व्याख्यान होने से पहिले ही जालन्धर से चल दिये। आर्यसमाज इतने लाभ में रहा कि उसको तीस नये सभासद मिल गये। मुन्शीरामजी को हुए व्यक्तिगत लाभ का अद्भुत वृत्तान्त पाठक पीछे पढ़ ही चुके हैं। आर्यसमाज की बहादुरी के साथ-साथ मुन्शीरामजी की विद्वत्ता, तर्क और वक्तृत्व-शक्ति की भी जालन्धर की जनता पर धाक जम गई।

इसी समय के लगभग अपने परिवार में समाज-सुधार करने की ओर मुन्शीरामजी की विशेष प्रवृत्ति हुई। अपनी धर्मपत्नी को अधिक पढ़ाने और घर से परदे आदि की कुरीतियों को दूर करने का यत्न शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि सम्वत् १९४४ की ग्रीष्म ऋतु से मुन्शीराम जी की धर्मपत्नी ने धर्मग्रन्थों को पढ़ना और समझना शुरू कर दिया। पुत्री वेद-कुमारी को, जिसकी अवस्था सात-आठ वर्ष की थी, उन्होंने

स्वयं पढ़ाना शुरू किया। परदे का झूठा बन्धन भी तोड़ डाला और बच्चों को साथ लेकर मुन्शीरामजी के साथ वे घूमने जाने लगीं।

६. बम्बई की पहिली यात्रा

पंजाब (जालन्धर) के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्वर्गीय रायज़ादा भक्तराम मुन्शीरामजी के साले थे। वे इसी वर्ष भाद्रपद के मध्य, अगस्त के अन्त, में बैरिस्टरी की परीक्षा के लिये इंगलैण्ड गये थे। उनके साथ कपूर्थला के स्वर्गवासी दीवान मथुरादास जी के पुत्र दौलतरामजी, श्री मुकुन्दलाल और श्री जगमोहनलाल भी इंगलैण्ड गये थे। मुन्शीरामजी का भक्तराम के साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध ही न था, किन्तु क़ानून की कुछ शिक्षा देने से गुरु-शिष्य का भी नाता था। आर्यसमाज की दृष्टि से भी बहुत गहरा सम्बन्ध था। भक्तरामजी उस समय जालन्धर-समाज के अग्रणी-संचालकों में से थे और वैदिक-धर्म पर भी उनकी अटल श्रद्धा थी। जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से जब आपको विदाई दी गई, तब आपके प्रेमपूर्ण भाषण से उपस्थित लोगों की आंखों से आंसू बह निकले थे। इन सब से भी बड़ा एक और सम्बन्ध मुन्शीरामजी का भक्तरामजी के साथ था और वह था प्रेम का सम्बन्ध। दोनों का आपस में असीम स्नेह था। दोनों का एक दूसरे की अपेक्षा शायद ही कोई और अधिक बड़ा मित्र हो। अपने ऐसे निकट-सम्बन्धी और अभिन्नहृदय मित्र को

बिदाई देने के लिये ही मुन्शीरामजी बम्बई गये थे और इसी निमित्त से बम्बई की यह पहिली यात्रा हुई थी। नये-नये दृश्यों और घटनाओं से शिक्षा प्राप्त करने से अधिक लाभ इस यात्रा से यह हुआ कि बम्बई के आर्य-पुरुषों से प्रत्यक्ष परिचय हो गया और कुछ ऐसे लोगों से भी मिलने का अवसर मिला, जिन्होंने ऋषि दयानन्द के दर्शन किये हुए थे। इनमें श्री छबील-दास लल्लूभाई, सेवकलाल कृष्णदास और आठ बार सारे भूमण्डल की यात्रा किये हुए ७५ वर्ष के वृद्ध रिटायर्ड जज श्री कर्सटजी मानिकजी के नाम उल्लेखनीय हैं। बम्बई से लौटने के पहिले दिन वहां के आर्यसमाज-मन्दिर में मुन्शीरामजी का व्याख्यान 'ईश्वरोपासना' के सम्बन्ध में हुआ। वहां से चलने के लिये जब स्टेशन पर पहुंचे तब एक पारसी सज्जन ने आपको पुष्पमाला पहिनाई और यह कहते हुए कुछ केले भेंट किये—"महाशय, आप कुछ आश्चर्य न करें। मैं आर्यसमाजी तो नहीं हूं, किन्तु स्वामी दयानन्द की 'गोकरुणानिधि' का भक्त हूं। आर्यसमाज स्वामीजी के जिस उपदेश को भूला हुआ है, उसका मैं पालन कर रहा हूं।" साथ में उन्होंने गोरक्षा-सम्बन्धी लिखे हुए अपने ट्रैक्ट और दूसरे कागज़ भी दिये। सम्भवतः ये सज्जन सुप्रसिद्ध गोभक्त श्री जस्सावाला थे।

बम्बई के सामाजिक जीवन का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। परदा-प्रथा न होने से वहां के स्त्री-पुरुषों का शुद्ध व्यवहार

आपको बहुत पसन्द आया। स्त्रियों का पारसी पहिरावा आपको इतना अधिक जँचा कि आप वहां से पारसी ढंग की साड़ियां खरीद लाये, और उनके पहिनने का रिवाज भी अपने यहां जारी किया।

७. पहिले पुत्र का जन्म

बम्बई से लौटने के बाद जालन्धर आकर मुन्शीरामजी कुछ अधिक नियम से अपने काम में लग गये। बड़े सवेरे खूब घूमने की आदत पुरानी थी ही। घूमने से लौटते ही परीक्षा की तय्यारी में लग जाते थे, क्योंकि अभी वकालत की अन्तिम परीक्षा बाक़ी थी। सम्वत् १९४४ के मार्गशीर्ष के अन्त में इसी परीक्षा के लिये मुन्शीरामजी लाहौर गये थे। २६-२७ नवम्बर को लाहौर-आर्यसमाज के उत्सव में सम्मिलित होने की इच्छा से कुछ दिन पहिले ही वह लाहौर चल दिये थे। २७ नवम्बर को सवेरे पं० गुरुदत्तजी का उत्सव में अपूर्व व्याख्यान हो रहा था, जिसमें वेदमन्त्र की व्याख्या के बाद ऋषि दयानन्द के सर्वत्याग का चित्र लोगों के सामने रखते हुए धन के लिये मार्मिक अपील की गई थी। व्याख्यान के समय तो लोगों की आंखों से अश्रुधारा बह रही थी और बाद में उनके हाथों से रुपये बरस रहे थे। भिक्षा मांगने वालों में सुविख्यात भाई निहालसिंहजी दरवाजे पर खड़े हुए भिक्षा मांग रहे थे। उन्होंने तार का एक लिफ़ाफ़ा

लाकर मुन्शीराम को दिया। खोला तो उसमें यह शुभ-सम्वाद था कि "आज रविवार २७ नवम्बर सवेरे १० बजे घर में पुत्र उत्पन्न हुआ है।" भाईजी ने यह शुभ-समाचार सुनते ही झोली आगे करके कहा—'कुछ दिलवाइये।' मुन्शीरामजी ने जेब में से सौ रुपये का नोट निकाल कर उनको दे दिया और उन्होंने वहीं से दान की सूचना इन शब्दों में दी—"ईश्वर करे, हमारे प्रधानों के घर नित्य पुत्र उत्पन्न हुआ करें, जिससे समाज को ऐसा ही दान मिला करे।"

८. जालन्धर आर्यसमाज का दूसरा उत्सव

मार्गशीर्ष के अन्तिम दिनों में लाहौर से लौट कर जालन्धर आर्यसमाज का दूसरा उत्सव मनाया। समाज की अपनी जगह पर यह पहिला उत्सव था। उसको सजाया भी ख़ूब गया था। धन की भी कुछ कमी नहीं रही थी। पर, लाहौर से उपदेशकों के सम्बन्ध में टका-सा जवाब मिला। व्यक्तिगत आग्रह पर केवल काली बाबू आये थे। लाहौर से निराश होने का यह दूसरा अवसर था। स्थानीय आर्य पुरुषों ने हिम्मत न हार कर अपने ही भरोसे उत्सव सम्पन्न किया। देवराज जी, भक्तराम जी, काली बाबू और मुन्शीराम जी के व्याख्यान और धर्मोपदेश आदि हुए। जालन्धर-आर्यसमाज ने अपने पैरों पर खड़े होने की पूरी शिक्षा ग्रहण कर ली। इसी समय से मुन्शीराम जी ने

जालन्धर ज़िले के गांवों में भी आर्य पुरुषों के साथ जाकर धर्म-प्रचार का काम शुरू किया, जो कि कुछ वर्षों तक बराबर जारी रहा।

६. सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा

४ माघ (जनवरी १७) को वकालत की परीक्षा के लिये फिर लाहौर को प्रस्थान किया। मार्ग में गुरुदासपुर-आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव भुगताया। उस समाज की अवस्था पर आप को बहुत दुःख हुआ। आपकी पंजिका (डायरी) में इस सम्बन्ध में लिखा है कि "सायंकाल को गुरुदासपुर-आर्यसमाज में सम्मिलित होने के लिये वहां पहुँचा। इस समाज की अवस्था बहुत शोचनीय है। सब अधिकारी हैं तो धनाढ्य, किन्तु सब शराबी, क़बाबी और शिकारी हैं। इसलिये समाज की सेवा करने के स्थान में वे उल्टे हानिकारक हो रहे हैं।" इन शब्दों के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। इन शब्दों में छिपी हुई मुन्शीराम जी की अन्तर्वेदना स्पष्ट है। मुन्शीराम जी को आर्यसमाज का अंधाधुंध प्रचार अभीष्ट नहीं था। वे आर्यसमाज के प्रचार के साथ-साथ आर्य-जीवन को भी उन्नत बनाने के दृढ़ अभिलाषी थे। जालन्धर में उन्होंने इसके लिये कोई भी बात उठा नहीं रखी थी। सिद्धांत के साथ निर्बलता का किसी तरह का कोई समझौता करना वे नहीं जानते थे। इसी-

लिये उन्होंने कई बार आर्थिक हानि भी उठाई और कई बार अकारण ही दूसरों को अपना शत्रु भी बना लिया। पर, सत्य-प्रेम और धर्मनिष्ठा से वे कभी विचलित नहीं हुए।

उनकी इस दृढ़ता को स्पष्ट करने के लिये फ़िल्लौर की एक घटना को देना आवश्यक है। फ़िल्लौर में आप ने ही बड़े परिश्रम से आर्यसमाज को स्थापना की थी। वहां के प्रधान और मन्त्री को मद्य-मांस का व्यसन छुड़ा कर वैदिक-धर्म का सच्चा भक्त बनाया था। ऊपर लिखे हुए गुरुदासपुरी आर्यसमाजियों में से फ़िल्लौर के मन्त्री जी के एक वकील-मित्र होलियोंकी छुट्टियों में फ़िल्लौर आये। उन्होंने आर्यसमाज मन्दिर में ही शराब की बोतलें उंडेलीं। अपने मित्र मन्त्री जी को भी अपने निश्चय से विचलित किया। इतना ही नहीं, मन्त्री तथा प्रधान के मना करने और नाराज़ होकर वहां से चले जाने पर भी वहां ही वेश्या को बुला कर मुँह काला किया और उसको बिना कुछ दिये ही रात की गाड़ी से वहां से भाग निकले। वेश्या ने तहसीलदार के यहां फ़ौजदारी में नालिश कर दी। तहसीलदार आबिदहुसैन मुन्शीराम जी के मित्र और बहुत भले आदमी थे। उन्होंने समाज के मन्त्री और प्रधान को बदनामी से बचाने के लिये वेश्या को अपने पास से दस-पांच रुपये देकर नालिश रद्द करवा दी। तीसरे दिन मुन्शीराम जी एक मुक़दमे की पैरवी के लिये वहां गए तो तहसीलदार ने सब हाल सुनाया। मुन्शीराम जी ने उस को

उसकी कृपा के लिये धन्यवाद तो दिया, किन्तु साथ में यह भी कहा कि ऐसा करके उन्होंने बड़ा पाप किया है। मुन्शीराम जी ने यहां ही बस नहीं की, किन्तु समाज के उस पाप को धोने के लिये बहुत बड़ा क़दम उठाया। उसी दिन शाम को एक व्याख्यान में उपस्थित जनता को वैदिक-धर्म का महत्व समझा कर आपने अन्त में यह घोषणा भी कर दी कि स्थानीय आर्य-अधिकारियों के पतित हो जाने से अब फ़िल्लौर में कोई आर्यसमाज नहीं है। मन्त्री और प्रधान ने तो पीछे अपने किये का प्रायश्चित्त किया और वे मुन्शीराम जी से बराबर मिलते भी रहे, किन्तु गुरुदासपुर के वकील उन के ही नहीं, आर्यसमाज के भी विरोधी हो गए और पीछे पुराण-पन्थियों के महामान्य लीडर भी बन गये। सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा के ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलेंगे, जिन में सिद्धान्त की रक्षा के लिये संस्था और उसके द्वारा होने वाले क्षणिक लाभ को इस प्रकार बलिदान कर दिया गया हो।

गुरुदासपुर-आर्यसमाज के बाद लाहौर जाते हुए अमृतसर आर्यसमाज के उत्सव में भी मुन्शीराम जी सम्मिलित हुए। परीक्षा के बाद एक सप्ताह लाहौर में और बिताया। इन दिनों में लाहौर आर्यसमाज की ओर से लाहौर में कई व्याख्यान दिए। एक व्याख्यान अंग्रेज़ी में भी दिया, जिसका विषय था— 'विवाह का धार्मिक, नैतिक और सामाजिक महत्व।'

१०. इन दिनों का व्यक्तिगत जीवन

परीक्षा में सफल होने के बाद ६ फाल्गुन, १८ फरवरी, को जालन्धर लौट कर वकालत का काम नियमित रूप से शुरू किया। प्रातः शौच से निवट कर घूमने जाने का नियम फिर से जारी किया। लौट कर स्नान, सन्ध्या, हवन आदि के बाद डाक और समाचार-पत्र देखे जाते। मुन्शीराम जी का यह पुराना अभ्यास था कि बाहर से आये हुए निकम्मे से निकम्मे पत्र का भी उत्तर अवश्य देते थे और मेज़ पर सामने पड़े हुए सब काम को समाप्त करके ही उठते थे। आठ बजे से पौने दस बजे तक सब मुक़द्दमे तय्यार कर लेते थे। दस-बारह मुक़द्दमे तय्यार करने में भी इससे अधिक समय नहीं लगता था। बाद में भोजन करके कचहरी चले जाते। कचहरी के बार-रूम में नये शिकार की प्रतीक्षा में ख़ाली बैठ कर गप्पें लड़ाने की आपकी आदत नहीं थी। यदि किसी दिन दो-ढाई बजे ही काम समाप्त होगया तो आप उसी समय घर लौट आते थे। फिर छः बजे तक हुक्क़ा और शतरंज चलती। शाम को बग्घी में लम्बी सैर को निकल जाते अथवा कम्पनी बाग़ में टैनिस के लिये रुक जाते। शाम को भोजन के बाद कुछ आर्य भाई घर पर आ जाते। उनके साथ नित्य ईश्वर-प्रार्थना और धर्म-चर्चा होती। रात को दस-ग्यारह बजे तक 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' आदि के साथ-साथ हर्बर्ट

स्पेंसर के ग्रन्थों का भी स्वाध्याय होता। शतरंज और हुक्के का व्यसन सम्वत् १९४५ तक लगा रहा। बीच-बीच में कई बार अनुभव होता रहा कि शतरंज से समय और हुक्के से स्वास्थ्य की हानि होती है, किन्तु एक-दो बार छोड़ कर भी दूसरों की संगति से ये व्यसन फिर आ लगते थे। सम्वत् १९४५ में आत्मा में कुछ ऐसी जागृति हुई कि ये दोनों व्यसन भी सदा के लिये छूट गये।

गांव से दो मील दूरी पर इन्हीं दिनों में पिता जी से मिली हुई तलवन की भूमि में एकान्त-निवास के लिये मकान बनवाने, बागीचा लगवाने तथा कृषि को उन्नत करने की धुन पैदा हुई। फाल्गुन के मध्य में इसी काम के लिये तलवन गये। वहां इस काम की स्थिर व्यवस्था करके जालन्धर लौट आये। जालन्धर में वकीलों और पढ़े-लिखे लोगों को इकट्ठा करके व्याख्यान तथा विवाद के अभ्यास के लिये एक वाग्वर्द्धिनी-सभा की स्थापना की, जिस के आप ही मन्त्री हुए। पर, यह सभा अधिक दिन नहीं चली।

१४ वैशाख १९४५ को आप अपने पुत्र के नामकरण-संस्कार के लिये तलवन गये। भाई वग़ैरह तो मुन्शीराम जी के सामने कुछ बोलते नहीं थे, किन्तु बड़े चाचा बड़े कट्टर सनातनी और स्वभाव के क्रोधी भी थे। उनसे सब डरते थे। भाइयों को डर था कि कहीं इस संस्कार में भी वे कोई उपद्रव न खड़ा कर दें। पर, मुन्शीराम जी ने उनको भी निमन्त्रित किया। उन्होंने आकर

बड़े प्रेम से सब समारोह में भाग लिया। अपने हाथ से बालक को कपड़े पहिनाये और उसका नाम "हरिश्चन्द्र" रखा, यद्यपि कुल की पुरानी परम्परा के अनुसार चूड़ाकरण से पहिले, जो तीसरे वर्ष होता है, बालक को सिले हुए कपड़े नहीं पहिनाये जाते थे। चाचा जी के इस व्यवहार पर सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। मुन्शीराम जी को अपनी सचाई और सरलता से पिता जी के समान चाचा जी को प्रभावित हुआ देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

पुत्र के नामकरण-संस्कार से लौट कर जालन्धर में २० ज्येष्ठ १९४५ (३ जून १८८८ ई०) को आप ने अपने उस विशाल बंगले की नींव डाली, जो पीछे आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब को दे दिया गया था और जिसकी बिक्री से प्राप्त हुए २० हज़ार रुपये गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा किये गये थे। इस में उपासना तथा पुस्तकालय आदि के लिये अलग-अलग कमरे रखे गये थे। इस की बुनियाद पड़ने से पहिले ही सामने सड़क के दूसरी ओर समाज-मन्दिर का कच्चा आंगन घिर चुका था और वहां ही समाज का सब काम-काज होता था। मुन्शीराम जी समाज-मन्दिर में जाने से पहिले बनते हुए अपने मकान का निरीक्षण करते थे। फिर सायंकाल को आर्यसमाज में ही सन्ध्या और उसके बाद कुछ लोगों के साथ धर्म-चर्चा भी होती थी।

भाद्रपद-आश्विन का महीना तलवन में बिताया। वहां एक कन्या-पाठशाला भी खोली, किन्तु योग्य अध्यापिका के अभाव में वह चल नहीं सकी। अपने कुटुम्ब में बहुत से धार्मिक संशोधन किये। अपनी पुरानी बिरादरी के लोगों में धर्म के लिये प्रेम और दान की प्रवृत्ति पैदा की। इस बार गांव से जालन्धर आकर सब नित्यकर्म नियमबद्ध होने लगे। समाज के साप्ताहिक अधिवेशन में प्रायः आप का ही उपदेश होता। घर पर भी कई सज्जन आकर आप से 'सत्यार्थप्रकाश' आदि पढ़ते और धर्म-सम्बन्धी शंकाओं की निवृत्ति करते थे। रात को सोने से पहिले आप के मकान पर आर्य भाई हरिकीर्तन के लिये भी जमा होते थे। इन्हीं दिनों में 'आर्य-पत्रिका' के लिये लेख लिखने भी शुरू किये थे। स्वाध्याय का अभ्यास दिन प्रति-दिन बढ़ता चला गया। नित्य रात को डेढ़-दो घण्टे पश्चिमीय विद्वानों के ग्रन्थों का अभ्यास होता और प्रातःकाल डेढ़ घंटा 'सत्यार्थप्रकाश' और वेदभाष्य का स्वाध्याय होता। साथ में संस्कृत ज्ञान के लिये लघु-कौमुदी की भी पुनरावृत्ति शुरू की।

इन दिनों और अगले कुछ वर्षों में मुंशीराम जी को कितना अधिक कार्यव्यग्र रहना पड़ता था, इस का ठीक ठीक पता उन की पंजिका से लगता है। पंजिका के २२ फाल्गुन (६ मार्च) सम्वत् १९४५ के पृष्ठ में दर्ज किया हुआ है कि "कचहरी से लौटकर देवराज जी के यहां गया और उन को 'ऋग्वेदादि भाष्य-

भूमिका' का एक कठिन स्थल समझाया। वहां से लौटते हुए एक घंटा समाज-मन्दिर में ठहरा, जहां कि परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप और भेद पर दो भाइयों को उपदेश दिया। फिर ब्रह्मचारी मुनिऋषि को आध घंटा पढ़ा कर धर्म-सभा के उत्सव में गया, वहां व्याख्यान में वेद की महिमा का ही वर्णन था, कोई पन्थाई झगड़ा न था। जालन्धर-आर्यसमाज के निष्पक्ष भाव का प्रभाव पौराणिकों पर भी पड़ रहा है। धर्म-सभा-मन्दिर से अपने निवास-स्थान पर गया, जहां मेरी सन्ध्या में बुड्ढामल, नूरमहल के बड़े साहूकार, सम्मिलित हुए। यह महाशय ऐसे प्रभावित हुए कि चलते हुए पचास रुपया हमारी भावी पुत्री-पाठशाला को दान दे गए। 'सत्यार्थप्रकाश' के स्वाध्याय के पश्चात् मैं साढ़े नौ बजे सोने की तय्यारी कर रहा था कि बुलाए हुए रलाराम अपील-नवीस टांडा से पधारे और उन्होंने बैसाखीराम साहूकार की बालविधवा पुत्री से मेरे समझाने पर विवाह करना स्वीकार किया।" इस उद्धरण की कुछ अस्पष्ट पंक्तियां अगले पृष्ठों में स्पष्ट हो जायेंगी। पंजिका से ऐसे कुछ और उद्धरण भी दिये जा सकते हैं किन्तु आशय को स्पष्ट करने के लिये ऊपर का उद्धरण पर्याप्त है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुंशीराम जी को घड़ी की सुई पर चलना पड़ता था और वे सारा दिन किसी न किसी परोपकार के काम में ही बिताया करते थे।

११. धर्म-प्रचार की धुन और जालन्धर-समाज का तीसरा उत्सव

सत्य-प्रेम और धर्म-निष्ठा के साथ-साथ मुन्शीरामजी में धर्म-प्रचार की धुन भी कुछ ऐसी पैदा हुई कि उन्होंने जालन्धर ज़िले के गांवों में ही नहीं, किन्तु आस-पास के ज़िलों में भी आर्यसमाज का प्रचार बड़ी तत्परता से शुरू कर दिया। लुधियाना का एक बांका पहलवान चिरंजीलाल उपदेशक के तौर पर अकस्मात् ही मिल गया। उसने इस धर्म-प्रचार में मुन्शीरामजी की बहुत सहायता की। वह अधिक पढ़ा-लिखा नहीं था, किन्तु तुकबन्दी का उसको बहुत शौक़ था और तुकबन्दी सुना कर ही वह लुधियाना में समाज का प्रचार किया करता था। एक दिन उसने राहू-केतु आदि का खण्डन किया तो एक ब्राह्मण-देवता से मुक़ाबला हो गया। वह अपने यजमान के यहां से दान में दाल-चावल आदि लाया था। उसी को दिखा कर चिरंजीलाल से उसने कहा—"यदि हिम्मत है तो देवता के इस दान को तो लेकर दिखा।" चिरंजीलाल ने अँगोछे में बँधा हुआ सब सामान अँगोछे समेत उठाया और कन्धे पर रख कर चलता बना। बार-बार मांगने और धमकाने पर भी वापिस नहीं किया। ब्राह्मण ने अदालत की शरण ली और चिरंजीलाल को क़ैद की सज़ा हो गई। उस समय लुधियाना की सेशन-अपील जालन्धर

में ही होती थी। मुन्शीरामजी ने सेशन में अपील की और चिरंजीलाल, बरी हो गया। उसके बाद से वह आपके पास ही रहने लग गया। चिरंजीव हरिश्चन्द्र के नामकरण-संस्कार के अवसर पर चिरंजीलाल तलवन गया था। वहां उसने अपने प्रचार से धूम मचा दी थी। तलवन से जालन्धर लौटते हुए रास्ते में मुन्शीरामजी ने चिरंजीलाल की सहायता से नकोदर में प्रचार किया। चिरंजीलाल बाज़ार में जाकर अपनी तुकबन्दी सुना कर व्याख्यान का विज्ञापन किया करता और बहुत-सी भीड़ को अपने साथ इकट्ठा भी कर लाता था।

सम्वत् १९४५ की ग्रीष्म-ऋतु से कपूर्थला पर भी आर्य पुरुषों ने धावे बोलने शुरू कर दिये थे। सब से पहिला धावा मुन्शीरामजी ने जून मास में बोला था। चिरंजीलाल भी साथ गया था और देवराज जी भी व्याख्यान के समय जा पहुंचे थे। चिरंजीलाल ने बाज़ार में घूम कर व्याख्यान का विज्ञापन किया, देवराज जी ने सभा में व्याख्यान दिया और मुन्शीराम जी ने मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में मास्टर पोल्होमल के साथ शास्त्रार्थ किया। कपूर्थला के उस समय के एकाउण्टेण्ट-जनरल श्री अछरूमल मिश्र आर्यसमाज के बहुत बड़े विरोधी और भारी शत्रु थे। उनको आर्यसमाज से इतनी चिढ़ थी कि उनके मकान पर समाज के व्याख्यान का विज्ञापन लगाने जाने वाले को वे पिटवाते थे और यदि कोई आंख बचा कर विज्ञापन लगा आता

तो सारी दीवार को पानी से धुलवाते थे। ७ श्रावण (२ अगस्त) को मुन्शीराम जी एक आर्य भाई की माता के दाह-संस्कार के लिये फिर कपूर्थला गये। उस समय भी धर्म-प्रचार ख़ूब हुआ। दाह-संस्कार की वैदिक-पद्धति का लोगों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि बहुत से लोग आर्यसमाज के सभासद् हो गये। मिश्र अछरूमल के लिये यह सहन करना सम्भव नहीं था। पर, वे करते भी क्या ? मौत का मामला था। इस पर भी इतना तो कहला ही भेजा कि—"इस बार तो मौत के कारण छोड़ दिया, फिर आओगे तो क़ैद करा दूंगा।" मुन्शीरामजी भला इस गीदड़भभकी से कब डरने वाले थे ? उन्होंने कपूर्थला जाकर वहां प्रचार करना अपना लक्ष्य बना लिया। इसके बाद कई बार कपूर्थला जाना हुआ, किन्तु मिश्र अछरूमल की धमकी कभी कार्य में परिणत नहीं हुई।

लाहौर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव से नया उत्साह, नयी स्फूर्ति और भावनाएं लेकर जालन्धर के आर्य-पुरुष जालन्धर लौटते और अपने समाज के उत्सव की तय्यारियों में लगा करते थे। लाहौर-आर्यसमाज के बारहवें उत्सव में जालन्धर से आर्य पुरुष अच्छी संख्या में सम्मिलित होने गये थे। जालन्धर रेलवे स्टेशन के तीसरे दरजे के मुसाफ़िरख़ाने से उन्होंने जो प्रचार शुरू किया, वह लाहौर के रास्ते में गाड़ी में ही नहीं किन्तु लाहौर के बाज़ारों में भी जारी रहा। जालन्धरियों

की टोली मुन्शीराम जी और देवराज जी के नेतृत्व में लाहौर में भी उतारे के स्थान से समाज-मन्दिर तक बाज़ारों में से भजन गाते हुए ही जाया करती थी। लाहौर के इस उत्सव से लौट कर तीन दिन मुन्शीरामजी ने तलवन में बिताये। वहां से जालन्धर आकर स्थानीय आर्यसमाज के तीसरे उत्सव की तय्यारी में लग गये। मुंशीरामजी के धर्मप्रचार की धुन इस समय पूरे यौवन पर थी। 'आर्य-प्रचारक' शब्द उन पर पूरी तरह चरितार्थ होता था। स्वयंसेवक के रूप में वे अहोरात्र धर्म-प्रचार में ही लगे रहते थे। इस वर्ष उत्सव की तय्यारियां ख़ूब लग कर की गईं। आर्यपथिक पंडित लेखरामजी के सहयोग से मुंशीराम जी ने कई सप्ताह पहिले से ही प्रचार का कार्य विशेष रूप में शुरू कर दिया था। शहर और उसके आस-पास में व्याख्यानों की धूम मच गई थी। आर्य-पुरुष बड़े सवेरे ही इकतारा लेकर निकलते थे और वैराग्य, श्रद्धा, भक्ति तथा स्तुति के भजनों के गान ऐसी अलाप के साथ गाते थे कि मुहल्ले के सोये हुए लोग भी बिस्तरे पर से उठ बैठते और बड़े प्रेम के साथ उनका गाना सुनते थे। ब्राह्ममहूर्त्त का यह प्रचार इतना आकर्षक और प्रभावशाली होता था कि ब्राह्मसमाज के कुछ नेता भी उसमें बड़े प्रेम से सम्मिलित होते थे। बूढ़ी स्त्रियां कहती थीं—'बड़े भले फ़क़ीर हैं। केवल भजन गाते हैं, मांगते कुछ नहीं।' दूसरी कहतीं—'ऐ भाई ख़ैर लै जा।' इस प्रचार के साथ-साथ उत्सव

का निमन्त्रण भी लोगों को दिया जाता। कई बार भिक्षा भी इकट्ठी की जाती थी। उसमें पैसे, दुअन्नी तथा चवन्नी के साथ-साथ मिलने वाला अनाज भी लिया जाता। एक बार इसी प्रकार एक सवेरे की भिक्षा से इकट्ठे हुए १०) से कुछ अधिक मुन्शीराम जी ने समाज के उत्सव के चन्दे में दिया था। उत्सव से पहिले ऐसे प्रचार का क्रम इसी वर्ष शुरू हुआ था, जो कि इसके बाद कई वर्षों तक बराबर जारी रहा। पर, धर्म-कार्य में विघ्न डालने वालों ने गले में ढोलक लटका कर इस प्रचार का जब स्वांग रचना शुरू किया, तब संघर्ष को टालने के लिये आर्यसमाज ने इसको बन्द कर दिया।

जालन्धर-आर्यसमाज का यह तीसरा उत्सव कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हुआ। उस महत्व की विस्तृत कथा का सम्बन्ध जालन्धर-आर्यसमाज के इतिहास के साथ है। यहां इतना ही लिखना अभीष्ट है कि यह उत्सव मुन्शीराम जी के व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी। इससे पहिला उत्सव जालन्धर के आर्य पुरुषों ने अपने ही भरोसे किया था और अपने ही भरोसे उन्होंने जालन्धर तथा आस-पास में धर्म-प्रचार का कार्य शुरू किया था। इसी का यह परिणाम समझना चाहिये कि लाहौर से स्वनामधन्य स्वर्गीय पंडित गुरुदत्त जी स्वामियों तथा अन्य आर्य पुरुषों की एक बड़ी संख्या के साथ इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये जालन्धर पधारे थे। स्वर्गीय साईंदास जी

और हंसराज जी भी साथ में आये थे। उत्सव का जालन्धर की जनता पर ऐसा असाधारण प्रभाव पड़ा कि उसकी कायापलट होगई। उत्सव की एक सभा में पौराणिक पंडित भी पधारे और उन्होंने बाल-विवाह के विरोध में भाषण तक दिये। आर्यसमाज के पंडितों की विद्वत्ता और योग्यता की भी जनता पर धाक जम गई। पंडित गुरुदत्त जी के व्याख्यानों का इतना प्रभाव पड़ा कि देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी सरीखे कट्टर भी बाल-विधवाओं के विवाह के पक्ष में होगये और वज़ीर कर्मसिंह सरीखे कट्टर मूर्तिपूजक ने मूर्ति-पूजा तक को तिलांजलि दे दी। आर्यसमाज के प्रभाव के साथ-साथ सभासदों की भी संख्या बढ़ी। नकोदर के जैन साधु पूज्य मुनिऋषि जी ने इसी उत्सव पर १३ पौष को आर्यसमाज में प्रवेश किया, जिनका नाम ब्रह्मचारी ऋषि रखा गया।

मुन्शीराम जी भी इस उत्सव से बहुत लाभ में रहे। उन के दो बड़े भाई और कई अन्य सम्बन्धी भी इसी उत्सव से प्रभावित होकर आर्यसमाज के सदस्य हुए, जिस से उनके लिये धर्म-प्रचार का मार्ग निष्कण्टक सा हो गया। घर वालों की ओर से पैदा होने वाली कठिनाइयां दूर हो गईं। मुंशीराम जी ने लिखा है—"यह वार्षिकोत्सव मेरे लिये अनगिनत आशीर्वाद की वर्षा कर के समाप्त हुआ।" इसी उत्सव से मुन्शीराम जी ने उपन्यासों का पढ़ना भी सदा के लिये बन्द कर दिया।

स्वर्गीय मनस्वी पंडित गुरुदत्त जी के साथ घनिष्ठता होने का जो लाभ मुन्शीराम जी को इस उत्सव से मिला, वह सब से बड़ा लाभ था। मुन्शीराम जी की पंजिका में लिखा हुआ है कि "पंडित गुरुदत्त के सत्संग से इस बार मुझे बड़ा लाभ हुआ। जहां मैंने एक अपूर्व नया मित्र बनाकर धर्मप्रचार में नया उत्साह प्राप्त किया, वहां पंडित गुरुदत्त के मेरे विषय में बहुत से सन्देह दूर हो गये और उन को मेरे साथ बहुत प्रीति हो गई। पंडित गुरुदत्त को न जाने किसने यह विश्वास दिलाया था कि जालन्धर वालों की मेरे कारण ब्राह्मो स्पिरिट है। शायद उन को यह विश्वास इसलिये हुआ हो कि हम जालन्धरियों का व्यक्तिगत प्रेम कुछ ब्राह्मसमाजी भाइयों के साथ था और वे हमारे उत्सवों के संकीर्तन में सम्मिलित हुआ करते थे। पंडित गुरुदत्त ने अपनी भूल मान कर जो दो शब्द कहे थे, उन्होंने हम दोनों को हमेशा के लिये एक ग्रन्थी में बांध दिया। पण्डित जी ने कहा था कि 'यदि मैं यहां न आता तो शायद हमेशा के लिये एक सहकारी को खो बैठता।' इस उत्सव के लिए पं० गुरुदत्त जी जितने दिन जालन्धर में रहे, मुन्शीराम जी के साथ ही रहे। अनेक व्यक्तिगत और सार्वजनिक विषयों पर दोनों में खूब विचार-विनिमय होता रहा।

उत्सव के बाद कुछ दिन सुस्ता कर मुंशीराम जी फिर धर्म-प्रचार के कार्य में लग गये। उत्सव पर जिस जैन-साधु ब्रह्म-

चारी ऋषि ने आर्यसमाज में प्रवेश किया था उसको आर्यसमाज के सिद्धान्तों से अवगत कराने और अन्य आर्य पुरुषों को सन्ध्या की विधि वग़ैरा बताने में भी मुंशीरामजी का कुछ समय प्रतिदिन लगने लगा।

आर्यसमाज के कार्य में इन दिनों में और अधिक उत्साह से लगने का एक आकस्मिक कारण भी उपस्थित हो गया। श्री देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी कुछ उन्नत विचारों के होते हुए भी पौराणिक साथियों के उलहने सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने देवराज जी को लिखा कि यदि वे इसी प्रकार आर्यसमाज के काम में लगे रहना चाहते हैं तो बर्मा आदि की ओर चले जांय, जालन्धर रह कर अपने पिता को मित्रों के उलहने सुनने का अवसर न दें। देवराज जी ने नैतिक बल और सत्साहस का परिचय दिया। घर की सब व्यवस्था और अपने सिपुर्द सब कामकाज का हिसाब ठीक करके डेढ़ सौ रुपया लेकर वे बर्मा जाने के लिये कलकत्ता चल दिये। पिताजी समझते थे कि धमकी काम कर जायगी और पुत्र समाज के काम से हाथ खींच लेगा। पर, जब देखा कि पुत्र ही हाथ से निकला जा रहा है, तब एक आदमी को मनाने और उनको वापिस लाने के लिये कलकत्ता भेजा। इस घटना का परिणाम देवराज जी के लिये बहुत शुभ हुआ। पिताजी समझ गये कि पुत्र दबने और सत्य के लिये उनकी भी परवा करने वाला नहीं।

फलतः उनका मार्ग निष्कण्टक हो गया और उनमें अदम्य उत्साह का संचार हुआ। साथ ही पिताजी की दृष्टि में उनका गौरव भी बहुत बढ़ गया। देवराज जी की इस आकस्मिक अनुपस्थिति ने मुन्शीराम जी को दुगुने उत्साह के साथ काम करने के लिये प्रेरित किया। लोग उनकी अनुपस्थिति को अनुभव न करें, इस लिये मुन्शीराम जी यथासम्भव अधिक समय देकर नगर में समाज के कार्य को पहिले से भी अधिक अच्छे रूप में करने लगे। सम्वत् १९४६ में नगर के सूदों के चौक में 'सत्यार्थप्रकाश' की कथा भी आपने शुरू की। वेदमन्त्रों की पञ्जाबी भाषा में सुन्दर व्याख्या सुन कर श्रोता मुग्ध हो जाते थे।

इन्हीं दिनों, सम्वत् १९४५ के वैशाख मास में, आर्यसमाज के स्वर्गीय महोपदेशक पं० पूर्णानन्द जी ने स्वामी रामानन्द जी की प्रेरणा से आर्यसमाज में प्रवेश किया था। लड़कपन में ही वे अपनी जन्मभूमि सिन्ध देश से निकल पड़े थे और साधु-वेश में विद्याध्ययन की इच्छा से उन्होंने सिन्ध से पंजाब होते हुए काशी की यात्रा की थी। काशी में उनको स्वामी रामानन्द जी के सत्संग का लाभ मिला। वहीं स्वामी रामानन्द जी ने साधु टीकमानन्द को स्वामी पूर्णानन्द बनाया और उसकी पढ़ाई का कुछ प्रबन्ध किया। इसी समय स्वामी रामानन्द जी के हृदय में उपदेशक-विद्यालय खोलने का विचार पैदा हुआ।

इसी विचार को लेकर वे स्वामी पूर्णानन्द के साथ जालन्धर आये और फिर लाहौर गये। स्वामी रामानन्द जी का यह पवित्र विचार ही पंजाब के आर्यसमाजों में गृह-कलह पैदा करने का कारण बना। जालन्धर में मुन्शीराम जी से और लाहौर में पण्डित गुरुदत्त जी से उनको इस कार्य के लिये विशेष प्रोत्साहन मिला। जालन्धर-आर्यसमाज कुछ समय पहिले ही से 'उपदेशक-विद्यालय' खोलने की आवश्यकता अनुभव कर रहा था और होली के दिनों में आर्यसमाज में ही एक पाठशाला खोल भी दी गई थी। ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मचारी मुनि-ऋषि निजी तौर पर मुन्शीराम जी से वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। वे ही इस पाठशाला के पहिले विद्यार्थी हुए और मुन्शीराम जी पहिले अवैतनिक अध्यापक। यह पाठ-शाला कुछ दिन चल कर बन्द हो गई। पर ऐसी ही योजना के लिये आन्दोलन करने को काशी से स्वामी रामानन्द जी और पूर्णानन्द जी के जालन्धर आने पर 'उपदेशक-विद्यालय' खोलने के विचार को विशेष बल मिला। पाठशाला के परीक्षण में असफल होकर भी जालन्धर के उत्साही आर्यसमाजी निराश नहीं हुए थे। उन्होंने 'दुआबा-उपदेशक-मण्डली' खोलने का विचार पक्का कर लिया था। स्वामी रामानन्द जी 'उपदेशक-विद्यालय' काशी में खोलना चाहते थे। पर, मुंशीराम जी की सलाह मान कर उन्होंने लाहौर में उक्त विद्यालय खोलना स्वीकार कर,

जालन्धर को केन्द्र बना कर, उसके लिये घूमना भी शुरू कर दिया। अपने उद्योग से उन्होंने मासिक चंदे के रूप में पर्याप्त धन और साधन जुटा लिये, किंतु इसी समय वे एकाएक इतने सख़्त बीमार हो गये कि उनके बचने की आशा नहीं रही। मुंशीराम जी के चिर-परिचित हकीम शेरअली के औषधोपचार से वे अच्छे तो हो गये, किंतु उसके बाद न मालूम कहां ग़ायब हो गये।

'उपदेशक-विद्यालय' तो न खुला, किन्तु आर्यसमाज को श्री पूर्णानन्द जी सरीखे उपदेशक का मिलना भी स्वामी रामानन्द के विद्यालय से होने वाले लाभ से कुछ कम लाभ न था। स्वामी पूर्णानन्द जी के सम्बन्ध में १७ आषाढ़ सम्वत् १९४६ के 'सद्धर्मप्रचारक' में लिखा है कि "स्वामी पूर्णानन्द जी को जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से दर्शनों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये कपूर्थला भेजा गया।" कपूर्थला में पंडित हरिकृष्ण जी दर्शनोंके माने हुए पंडित थे। स्वामी पूर्णानन्द जी उनके ही पास दर्शनों का अभ्यास करने गये थे। आर्यसमाज का रंग उन पर चढ़ चुका था। कार्तिक मास में उन्होंने वहां व्याख्यानों का सिलसिला शुरू किया और मुन्शीराम जी को भी बुला भेजा। मुन्शीराम जी को मिश्र अछरूमल, रियासत के एकाउन्टेण्ट-जनरल, का चैलेंज मिला ही हुआ था। उनको कपूर्थला जाने की पहले सूचना भेज कर मुन्शीराम जी १७

कार्तिक को कपूर्थला पहुँच गये। वहां उनकी गिरफ़्तारी का वारण्ट तो न निकला, किन्तु व्याख्यान में विघ्न डालने डलवाने में कुछ भी कमी नहीं रखी गई। व्याख्यान के समय ठीक ऊपर से निशाना साध कर उन पर एक ईंट छोड़ी गई, पर वे अकस्मात् बच गये। ईंट उन पर न गिर कर ज़ोर से मेज़ पर जा गिरी। कपूर्थला में मिश्र अछरूमल के विरुद्ध आर्यसमाज की भारी विजय की यह घटना संकेतमात्र थी। इसके बाद भी मुन्शीराम जी समाज के प्रचार के लिये कपूर्थला कई बार गये, पर मिश्र जी की धमकी ने कभी अपना रंग नहीं दिखाया।

इन्हीं दिनों में मण्डी के राजा श्री विजयमोहन जी ने जालन्धर में आर्यसमाज और सनातनधर्म के पंडितों में धार्मिक मन्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ विचार-विनिमय और शास्त्रार्थ भी कराया। सनातनधर्म की ओर से पटियाला के प्रसिद्ध राज-पंडित श्रीकृष्ण शास्त्री को बुलाया गया था और आर्यसमाज की ओर से मुन्शीराम जी, देवराज जी तथा स्वामी पूर्णानन्द जी उपस्थित हुए थे। इसी सिलसिले में पंडित श्रीकृष्ण शास्त्री और पंडित आर्यमुनि जी में 'वेद में साकार पूजा है कि नहीं ?' विषय पर शास्त्रार्थ हुआ, जिसका राजा साहब और नगर-निवासियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। शिकारपुर के पंडित प्रीतमदेव शर्मा के साथ भी इन दिनों में अच्छी मुठभेड़ हुई। शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, किन्तु उसके व्याख्यानों का जो जवाब आर्यसमाज

की ओर से दिया गया, उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर बहुत अच्छा पड़ा। आर्यसमाज के सभासदों की संख्या में अच्छी वृद्धि हुई। मुन्शीराम जी ने स्वामी पूर्णानन्द जी को साथ लेकर जालन्धर-छावनी और होशियारपुर तक प्रीतम शर्मा का पीछा किया और उसको अपने प्रदेश दुआबा में कहीं पैर नहीं जमाने दिया। दुआबा के बाहर अमृतसर, लाहौर, लुधियाना आदि समाजों के उत्सवों पर भी मुन्शीराम जी जाते रहे। जालन्धर के चारों ओर दुआवा प्रदेश के किसी भी शहर या गांव से समाचार आने की ही देर होती कि मुन्शीराम जी तुरन्त वहां पहुँच जाते, चाहे पैदल ही चल कर क्यों न जाना पड़ता। राहों, नकोदर, नवांशहर, नूरमहल आदि में इन दिनों धर्म-प्रचार के निमित्त मुन्शीराम जी के कितने ही चक्कर लगे। इसी धर्म-प्रचार में एक बार इक्के से ऐसे गिरे कि इक्का उलट कर उन पर आ पड़ा और माथे पर ऐसी चोट आई कि उसका निशान आजीवन बना रहा।

लाहौर वालों से निराश होकर अपने भरोसे शुरू किये गये धर्म-प्रचार का ही यह परिणाम हुआ कि इस वर्ष जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव पर "दुआबा-गुरुदासपुर-उपप्रतिनिधि सभा" का संगठन किया गया। मुन्शीराम जी इस सभा के प्रधान बनाये गये और श्री रामकृष्ण जी मन्त्री। स्वामी पूर्णानन्द जी उपदेशक थे ही। मुन्शीराम जी से पढ़ने वाले ब्रह्मचारी

ब्रह्मानन्द जी भी इस काम में लग गये। प्रचार का कार्य बड़े उत्साह और ज़ोर-शोर से होने लगा। 'दुआबा-उपदेशक मण्डली' इस उपप्रतिनिधि-सभा में ही मिला दी गई। मुन्शीराम जी ने दुआबा-गुरुदासपुर, विशेषतः जालन्धर के आर्य पुरुषों में धर्म-प्रचार के लिये इस प्रकार स्वावलम्बन तथा आत्मविश्वास की जो भावना पैदा की, वह निकट-भविष्य में आर्यसमाज के लिये एक बड़ी भारी शक्ति बन गई। इस शक्ति ने आर्यसमाज को सब प्रकार के आक्रमण सहन करने के योग्य बना दिया।

१३. दो-तीन दुःसह वियोग

स्नेही-सम्बन्धियों की मृत्युओं का दुःख मनुष्य के लिये अत्यन्त दुःसह्य है। उस के धैर्य, साहस और आत्मविश्वास की परीक्षा प्रायः ऐसे ही अवसरों पर हुआ करती है। कभी-कभी तो उस के जीवन का समस्त क्रम ही ऐसी घटनाओं से बदल जाता है। मुन्शीराम जी के लिये यह ऐसा ही अवसर था। देवराज जी के बड़े भाई श्री बालकराम जी पर मुन्शीराम जी की पत्नी का अपने भाइयों में सब से अधिक प्रेम था। वैसे भी बालकराम जी मुन्शीराम जी के आर्यसमाज के नाते एक सहकारी और अच्छे मित्र थे। मुन्शीराम जी को उन पर बड़ा भरोसा और विश्वास था। सं० १९४६ में जालन्धर में हैज़े का भयानक आक्रमण हुआ, जिस में श्रावण के अन्त में, १४

अगस्त १८८६ ईस्वी की रात को, श्री बालकराम जी का देहावसान हो गया। घर-भर में शोक की काली घटा छा गई। मुन्शीराम जी की पत्नी शिवदेवी जी को असह्य दुःख हुआ। वे सदा उदास रहने लगीं। उनकी उदासी को दूर करने के लिये मुन्शीराम जी ने सितम्बर की छुट्टियों में सपरिवार हरिद्वार की यात्रा की। वहां कुछ समय बिताने के बाद परिवार को घर भेज दिया और स्वयं मेरठ की ओर बहादुरगढ़ में थानेदारी करने वाले भाई से मिलने गए। हरिद्वार में आप कपूर्थला की हवेली में ठहरे। अपने को स्पष्टतया आर्यसमाजी बताने पर भी पण्डे ने आ ही घेरा और बोला—'मुझ को तो सेवा करनी है, आप चाहे कुछ देना या न देना।' पण्डे की सेवा से सन्तुष्ट होकर चलते समय मुन्शीराम जी ने उसको ५) इनाम के तौर पर दिए और समझे कि सौदा सस्ते में ही पट गया। पर, पंडे जी घाटे में रहने वाले नहीं थे। वे ५) शिवदेवी जी से भी वसूल कर लाए और अपनी बही सामने रख कर बोले—"यजमान! आप आर्यसमाजी हैं तो हम भी आप से मूर्तिपूजा करने के लिए नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिए कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की है।" मुन्शीरामजी ने लिख दिया—"मैं सैर के लिए हरिद्वार आया, यदि यहां पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीय और निवास के योग्य है।" वहां से भाई साहब को मिलने जाने की मेरठ की निजी यात्रा में भी धर्म-प्रचार की धुन

नहीं छूटी। जाते हुए मेरठ में धर्मोपदेश दिया और लौटते हुए दो व्याख्यान दिए। बहादुरगढ़ में भी २८ और २६ भाद्रपद, १३ और १४ सितम्बर, को दो व्याख्यान दिए। उस समय के आर्यसमाजियों की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने वाली एक घटना का यहां उल्लेख करना आवश्यक है। मुंशीराम जी के उपदेश के बाद अधिवेशन की समाप्ति पर उस समय की प्रथा के अनुसार एक वेदमन्त्र का पढ़ा जाना आवश्यक था। समाज के पंडित जी किसी कार्यवश उस समय उपस्थित न थे। सब एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे, तब एक सज्जन ने कहा—'चन्द्रभानु जी ! आप भी तो ब्राह्मण हैं, आप ही मंत्र बोल दीजिये।' यह मेरठ के उस आर्यसमाज की अवस्था थी, जो कि अपने ज़िले में एक प्रमुख समाज समझा जाता था। मुंशीराम जी ने पञ्जाब की भजन-कीर्त्तन की प्रथा को वहां चालू करना चाहा, किन्तु आर्य-युवक हारमोनियम पर हाथ रखते हुए भी शरमाते थे। दो-एक दिन की इस यात्रा में हो भी क्या सकता था ?

अभी बालकराम जी की मृत्यु का घाव सूखा भी न था कि ५ चैत्र सम्वत् १९४६, १९ मार्च १८९० ई०, को स्वनाम-धन्य पंडित गुरुदत्त जी का भी कुछ लम्बी बीमारी के बाद देहांत हो गया। पंडित जी मुंशीराम जी के स्वाध्याय के पथ-प्रदर्शक थे और उनका जीवन उन के लिए दिव्य आत्मिक ज्ञान

उपलब्ध करने का साधन था। आर्यसमाज की गृह-कलह का श्रीगणेश पंडित गुरुदत्तजी के उग्र आर्यसमाजी विचारों के कारण ही हुआ था, किन्तु उनके दल की ओर से उन के रहते हुए ही कलह का सब भार मुंशीराम जी पर आ पड़ा था। इस का प्रधान कारण यह था कि दोनों के विचार, वृत्ति और आदर्श बिलकुल एक थे। दोनों स्वामी दयानन्द को निर्भ्रांत मानते थे। दोनों की उन में अटल श्रद्धा थी। आर्यसमाज के काम के लिए दोनों ही पूरे 'मिशनरी' थे। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' की सचाई दोनों पर पूरी तरह चरितार्थ होती थी। व्यक्तिगत जीवन में ऐसे अभिन्न-हृदय तथा एकनिष्ठ बन्धु और सार्वजनिक जीवन में प्रकाश-स्तम्भ के समान पथ-प्रदर्शक नेता की बीमारी के समाचार ने मुन्शीराम जी को बहुत विक्षुब्ध कर दिया था। उन का कुशल-समाचार जानने और औषधोपचार की योग्य व्यवस्था करने के लिये मुंशीराम जी प्रति सप्ताह लाहौर जाया करते थे। जालन्धर से हकीम शेरअली को भी पंडित जी के इलाज के लिये मुंशीराम जी ने भेजा था। हकीम की औषधि के चमत्कार पर मुग्ध होकर पंडित जी ने जालन्धर आने की पूरी तय्यारी भी कर ली थी, किंतु सहसा फिर बीमार पड़ गये। बस, यही बीमारी उन को इस संसार से उठा ले गई। मुंशीराम जी के लिये पंडित जी का देहांत था तो असह्य, किंतु उन्होंने इस वियोग को बड़ी हिम्मत के साथ सहन किया और

पंडित जी के अधूरे मिशन की पूर्त्ति का काम पूरी सचाई के साथ अपने कंधों पर उठा लिया। उन्होंने स्वयं ही लिखा है:— "यद्यपि पंडित गुरुदत्त जी की बीमारी की चिंता अधिक थी, किंतु इससे धर्म के कार्यों में शिथिलता नहीं आती थी। इन्हीं दिनों में वैदिक धर्म का सन्देश सर्वसाधारण तक पहुंचाने का मैंने दृढ़ व्रत धारण किया था।" कहना न होगा कि मुंशीराम जी ने इस दृढ़ व्रत को पूरी दृढ़ता तथा सचाई के साथ निबाहा और इसी रूप में पंडित जी के असह्य वियोग की मर्मान्तक वेदना को सहन किया।

पंडित गुरुदत्त जी के इस वियोग की वेदना ने बालकराम के देहांत से हुए घाव पर नमक छिड़कने का काम किया था, तो साईंदास जी के देहावसान ने मानों उस पर लाल मिर्च छिड़क दीं। ३० ज्येष्ठ सम्वत् १९४७, १३ जून १८९० ई०, को वे भी इस संसार से चल दिए! साईंदास जी के पास न तो कोई बहुत धन-सम्पत्ति थी और न यूनिवर्सिटी की कोई डिगरी ही। फिर भी आर्यसमाज के वे माने हुए नेता थे। न केवल लाहौर, किन्तु समस्त पञ्जाब के आर्य पुरुष उनके अनुभव से लाभ उठाया करते थे। उन में सादगी, सच्चरित्रता और मिलनसार स्वभाव आदि ऐसे सद्गुण थे कि उन के कारण वे दूसरों को अपनी ओर सहसा आकर्षित कर लेते थे। आर्यसमाज में उनकी निष्ठा बहुत गहरी थी। हंसराज जी और लाजपतराय जी

सरीखों को घेर कर ब्राह्मसमाज से आर्यसमाज में लाने तथा पण्डित गुरुदत्त जी और मुन्शीराम जी सरीखों को नास्तिकता के गहरे अन्धकारमय गढ़े में से उभार कर आस्तिकता की चोटी पर पहुंचाने वाले साईंदास जी ही थे। ऐसे पथ-प्रदर्शक का उठ जाना भी मुन्शीराम जी के लिये कुछ कम दुःखजनक नहीं था। ऐसे साथियों को खोकर साधारण मनुष्य का हृदय टूट जाता है, किन्तु मुन्शीराम जी ने इस समय असीम साहस का परिचय दिया। आर्यसमाज के सब काम की ज़िम्मेवारी को उन्होंने अपने ऊपर उठा लिया और पूरे उत्साह के साथ उसको निभाया। मुन्शीराम जी की इस कर्तव्यपरायणता का ही यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि आर्यसमाज में जिस गृह-कलह का सूत्रपात लाहौर में हुआ था, उसमें जालन्धर के आर्य-पुरुषों का मुख्य हाथ रहा और जिसको महात्मा-पार्टी या घास-पार्टी कहा गया, उस प्रमुख-दल के नेतृत्व की बागडोर सहज में ही मुन्शीराम जी के हाथों में ऐसे चली आई, जैसे कि पण्डित गुरुदत्त जी के बाद नेता के अभाव की पूर्ति करने के लिये ही उन को आर्यसमाज में प्रवेश करने के लिये कोई दैवी प्रेरणा हुई थी।

दूसरा भाग

घ.

—:—

आर्यसमाज का नेतृत्व

१. महात्मा मुन्शीराम, २. 'सद्धर्म प्रचारक', ३. हरिद्वार में कुम्भ पर प्रचार, ४. स्त्री-शिक्षा की लगन, ५. धर्मपत्नी का देहान्त. ६. आर्यसमाज में गृह-कलह, ७. आर्य पथिक का बलिदान और उसका क्षणिक प्रभाव, ८. प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद का दायित्व, ९. पं० गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ और मुक़द्दमा, १०. गुरुकुल का स्वप्न!
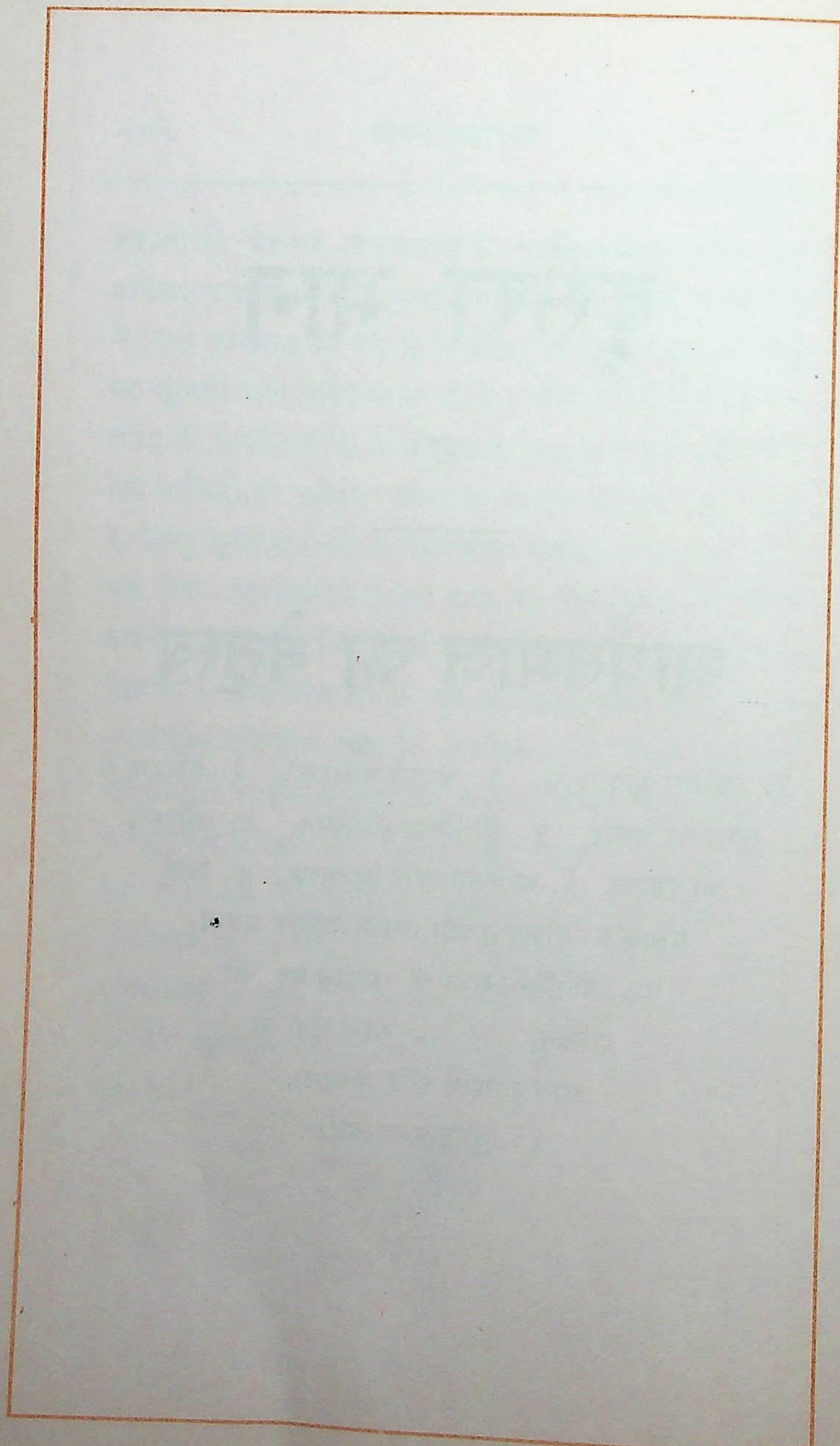
१. महात्मा मुन्शीराम

मुन्शीराम जी के आर्यसमाज में प्रवेश करने पर स्वर्गीय साईंदास जी ने उनके सम्बन्ध में जो सन्दिग्ध-सी भविष्यवाणी की थी, उसको पूरा होते हुए वे नहीं देख सके, तो भी उसका कुछ आभास उन्हें मिल गया था। सम्वत् १९४६ के माघ मास में जालन्धर में लाहौर-आर्यसमाज के सनातनधर्म-सभा से पराजित होने के सम्बन्ध में नाना तरह के समाचार फैल रहे थे। मुन्शीराम जी ने उन पर विश्वास नहीं किया, तो भी आर्य भाइयों ने उनसे आग्रह किया कि वे लाहौर जाकर सब सत्यता मालूम करें। १९ माघ, १ फ़रवरी सन् १८८९, की रात को

आप लाहौर चल दिये और अगले दिन सवेरे लाहौर पहुँच कर वहां के आर्य पुरुषों से आग्रह किया कि फैली हुई किम्वदन्तियों के असत्य होने पर भी उनका खंडन करने के लिये आर्यसमाज-मन्दिर में कुछ विशेष व्याख्यानों का आयोजन किया जाना चाहिये। व्याख्यानों की व्यवस्था की गई और सनातनधर्म-सभा की ओर से फैलाई गई गप्पों का खण्डन किया गया। दूसरे दिन साईंदास जी के यहां कुछ स्वामी लोग और आर्य नेता एकत्र हुए। आर्यसमाज की कार्य-शैली पर बहुत देर तक विचार-विनिमय होता रहा। मुन्शीराम जी ने उस सभा में लकीर की फ़क़ीरी से ऊपर उठ कर, जन्मगत जातिभेद की सीमा लांघ कर, गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था कायम करने और उसके अनुसार विवाह-सम्बन्ध करने का विषय उपस्थित किया। इस सभा में साईंदास जी के अलावा हंसराज जी, मुल्कराज जी आदि भी उपस्थित थे। वे सब यह बात सुनकर स्तम्भित से रह गये। साईंदास जी ने उसी समय से मुन्शीराम जी को अत्यन्त उग्र वृत्ति का क्रांतिकारी कहना शुरू कर दिया था। 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र शुरू करने का जो विज्ञापन छपवा कर बांटा गया था, उस को देख कर साईंदास जी की आप के सम्बन्ध में यह सम्मति और भी अधिक दृढ़ होगई थी। उससे तो उन्होंने सब जालन्धरियों को ही 'एक्स्ट्रीम रेडिकल पार्टी' वाले कहना शुरू कर दिया था। इस समय के आर्य नेता और आर्य-भाई यह समझने लग गये

थे कि मुन्शीराम जी धर्म के सिद्धांतों में समझौते के सर्वथा विरोधी हैं। वस्तुतः सिद्धांत में समझौता न करने की वृत्ति ही मुन्शीराम जी के जीवन की सफलता का सार है। स्वर्गीय पंडित गुरुदत्त जी की सत्संगति से इस वृत्ति को और भी अधिक बल मिला। पंडित जी स्वयं इस वृत्ति के थे। उनके स्वभाव में राज़ीनामा करने की गन्ध तक नहीं थी। इस वृत्ति के अलावा नेता में जो और सद्‌गुण होने चाहियें, प्रायः वे सब मुन्शीराम जी में बीज-रूप में विद्यमान् थे। अनुकूल अवस्था पाकर वे सब खिलते चले गये। अपने काम में और विचारों में वे बहुत दृढ़ थे। दूसरों पर विश्वास करने में कभी संकोच नहीं करते थे। अतिथियों का सत्कार सदा ही खुले हाथों किया करते थे। बात-चीत में बहुत साफ़ और खुले थे। सांसारिक दृष्टि से सब प्रकार साधन-सम्पन्न थे। न किसी की नौकरी के आश्रित थे और न ऐसे किसी दूसरे ही बंधन में फँसे हुए थे। धर्म-प्रचार की धुन में उस समय भी उनका मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता था। सेवा की भावना उनमें पूरी तरह समाई हुई थी। व्याख्याता भी पहिले दर्जे के थे। लोकसंग्रह की शक्ति भी उनमें कुछ असाधारण थी। स्वभाव से ही कुछ आंदोलनकारी भी थे। विरोध में उनका उत्साह दुगुना हो जाता था। केवल एक समाचार-पत्र की आवश्यकता थी। उसको भी उन्होंने शीघ्र ही पूरा कर लिया था। आर्यसमाज-जालन्धर का प्रधान-पद मुन्शीराम जी के लिये

कुछ ऐसा मुबारिक हुआ कि पंजाब भर में वे, आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्षों तक प्रधान रहने के कारण, चिरकाल तक 'प्रधान जी' के नाम से पुकारे जाते रहे। उनके दल का नाम उनके पीछे महात्मा-दल हुआ और अपने दल के नेता होने के बाद से संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने के समय तक उनको 'महात्मा जी' ही कहा जाता रहा। उनके जीवन के दूसरे हिस्से का यह अन्तिम भाग इसी अलौकिक उत्कर्ष की शिक्षाप्रद और उत्साह-दायक कहानी है। पानी की तेज़ धारा को सीधा चीर कर पार जाने वाले शेर के समान मुन्शीराम जी इस उत्कर्ष की ऊंची चोटी पर सांसारिक विघ्न-बाधाओं की कुछ भी परवा न कर सीधे चढ़ते चले गये। उत्कर्ष की इस कहानी का चमकीला पहलू यह है कि उन्होंने घोर निराशा तथा भयंकर विरोध के बीहड़ जंगलों में रास्ता ढूंढने अथवा उसको बनाने का सब काम स्वयं किया। ऋषि दयानन्द के जीवन और उनके ग्रन्थों से मिलने वाली स्फूर्ति का सदा सत्कार किया। उस स्फूर्ति से पैदा होने वाली अन्तरात्मा की पुकार का कभी तिरस्कार नहीं किया। एक बार आगे बढ़ाये हुए पैर को कभी पीछे नहीं लिया। सत्य की चट्टान पर अङ्गद के अंगूठे की तरह ऐसे टिक गये कि संसार की कोई भी शक्ति उस से उन को विचलित नहीं कर सकी।

२. "सद्धर्म-प्रचारक"

मुन्शीराम जी के सार्वजनिक जीवन का पहला विश्वासपात्र संगी 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र है, जिसने बहुत लम्बे समय तक उनका साथ दिया और उनके सार्वजनिक कार्यों में उनका पूरा हाथ बंटाया। मुंशीराम जी को आर्यसमाज का अप्रतिद्वन्द्वी नेता बनाने में 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र का बहुत बड़ा हिस्सा है और उन के द्वारा होने वाली आर्यसमाज की सेवा का वह प्रधान साधन रहा है।

मुन्शीराम जी की पत्र निकालने की व्यक्तिगत इच्छा के अलावा उस समय जालन्धर-आर्यसमाज का काम भी ख़ूब बढ़ रहा था। जालन्धर शहर और उस के आसपास भी प्रचार की धूम मची हुई थी। शास्त्रार्थों का सिलसिला भी जारी था। इस सब कार्य के और विशेष कर शास्त्रार्थों की प्रामाणिक रिपोर्ट सर्वसाधारण तक पहुंचाने के साधन की आवश्यकता प्रायः सभी आर्य भाई अनुभव कर रहे थे। भाषणों द्वारा होने वाले प्रचार को समाचार-पत्र के बिना सुदृढ़ नहीं किया जा सकता था। जालन्धरी-आर्यसमाजियों की वृत्ति भी दूसरों से कुछ भिन्न थी। इस भिन्न मनोवृत्ति के कारण भी स्वतन्त्र पत्र निकालने की अभिलाषा उन में ज़ोर पकड़ती जा रही थी। इस परिस्थिति में मुन्शीराम जी के हृदय में जो भाव पैदा हुए उन के

सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "मुझे इन दिनों में अपने विचार सर्वसाधारण तक पहुंचाने के लिये किसी साधन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। आवश्यकता प्रतीत होते ही परमात्मा ने मार्ग दर्शा दिया। ऋषि-उत्सव, सम्वत् १९४५ की दिवाली के अगले दिन, के दूसरे दिन ही 'सद्धर्म-प्रचारक' उर्दू पत्र के निकालने का विचार दृढ़ हो गया।"

मुन्शीराम जी के प्रेस और समाचार-पत्र निकालने का विचार प्रकट करते ही सब ने उस का हार्दिक स्वागत किया। कपूर्थला और होशियारपुर के आर्य भाइयों ने भी उस में हाथ बटाया। मित्रों की एक कम्पनी क्या मण्डली ने पच्चीस-पच्चीस रुपए के सोलह हिस्से आपस में बांट लिये। मुन्शीराम जी ने दो हिस्से लिए। २ फाल्गुन सम्वत् १९४५, १४ फरवरी १८८९ ई०, को हिस्सेदारों की सभा होकर निश्चय हुआ कि प्रेस का नाम 'सद्धर्म-प्रचारक' रखा जाय और इसी नाम से डेमी छोटे आठ पृष्ठों का उर्दू में साप्ताहिक पत्र पहली वैशाख सम्वत् १९४६ से निकालना शुरू कर दिया जाय। मुन्शीराम जी और देवराज जी पत्र के संयुक्त-सम्पादक नियुक्त किये गये और मुन्शीराम जी पर ही मैनेजरी का सब काम डाला गया। कचहरी में डिक्लेरेशन देकर कपूर्थला के गोविन्दसहाय जी को पचास रुपये पेशगी देकर प्रेस का सौदा तय करने को कहा गया। पत्र की नीति सम्पादकों पर छोड़ दी गई। हिस्सेदारों ने उस में

हस्तक्षेप करने का विचार पहले से ही छोड़ दिया। यह सब निश्चय होने के दूसरे ही दिन सब क़ानूनी कार्रवाई कर ली गई और तीसरे दिन, ४ फाल्गुन को, मुन्शीराम जी ने पत्र की आवश्यकता तथा नीति आदि के सम्बन्ध में एक विज्ञापन-पत्र तय्यार करके अपने ही प्रेस में उसे छपवा दिया, जिस को आर्यसमाजी नेताओं तक ने क्रान्तिकारी बताया था।

वैशाखी के आनन्दोत्सव के शुभ दिन सम्वत् १९४६ में 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र का जन्म हुआ। थोड़े ही समय में यह नवजात शिशु एक बड़ी शक्ति बन गया। आर्यसमाज में इस समय भी ऐसे लोग कुछ कम नहीं हैं, जिन्होंने 'सद्धर्म-प्रचारक' के पहिले अङ्क से उस अङ्क तक उस का बराबर स्वाध्याय किया है, जब तक कि उस के सम्पादक मुन्शीराम जी रहे। ऐसे घर भी आर्यसमाज में कुछ कम नहीं हैं, जिन में 'सद्धर्म-प्रचारक' की पूरी फ़ाइल को धार्मिक पुस्तकों के समान संग्रह करके रखा जाता था। पुरानी फ़ाइल को पढ़ने के बाद आज भी यह कहा जा सकता है कि 'प्रचारक' के जन्म से आर्यसमाज में एक नया उत्साह पैदा हुआ था, उस में नये भावों का संचार हुआ था और उसने आयुभर समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का काम दिया था। संकट में वह समाज का सच्चा हितैषी सिद्ध हुआ था, संघर्ष में उस ने वीर योद्धा का काम दिया था, घोर निराशा में उस ने दृढ़ तथा बलवती आशा का संचार

किया था और कितने ही भटकते हुओं को उस ने सन्मार्ग पर लगाया था। गहन ग्रन्थों की पिटारियों में बन्द सिद्धांतों के सुनहरे आभूषणों से समाज के शरीर को अलंकृत करने की चेष्टा में वह निरन्तर रत रहा था। आर्य-जगत् को भ्रातृभाव की एक माला में पिरो कर उन में 'संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्' के वैदिक आदर्श को स्थापित करने का यशस्वी कार्य किया था। धर्म-मार्ग पर चलते हुए उसने कभी कोई कमज़ोरी नहीं दिखाई, पाप के साथ कभी समझौता नहीं किया, भय के कारण अपने मार्ग से वह कभी विचलित नहीं हुआ, लोभ-लालच में फंस कर वह कभी दबा नहीं और बड़े से बड़े का भी कभी उस ने रौब-दबाव नहीं माना। समाचार-पत्र की सम्पादकीय ज़िम्मेवारी निभाने में उसने दूसरे पत्रों के सामने भी एक आदर्श उपस्थित किया। समाचार-पत्रों की उस समय की प्रचलित लेखन-शैली को उस ने बदल दिया। गन्दे विज्ञापन, ओछी भाषा, कमीने आक्षेप और व्यक्तिगत निन्दा उस समय सम्पादकीय धन्धे की सफलता के प्रधान साधन माने जाते थे। 'प्रचारक' इन सब से सदा ही यत्नपूर्वक बचता रहा। सारांश यह है कि उसने सच्चा उपदेशक और निर्भीक आंदोलक बन कर अपने नाम के दोनों शब्दों को सार्थक कर दिखाया। 'प्रचारक' का इतना सफल सम्पादन मुन्शीराम जी के जीवन का एक ऐसा यशस्वी, महान् और सफल कार्य है कि वह आज भी

समाचार-पत्रों की सम्पादकी का शौक़ रखने वालों के लिये आदर्श हो सकता है।

'प्रचारक' किसी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा अथवा कोरी साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर नहीं निकाला गया था। उसको निकालने की अभिलाषा के पीछे अदम्य उत्साह, उच्चतम भावना और अभिनव स्फूर्ति छिपी हुई थी। इसी लिये सर्वसाधारण के हृदयों में अपना स्थिर स्थान बनाने में उसको अधिक समय नहीं लगा। आठ पृष्ठों के छोटे डेमी साइज़ से शुरू किये गये पत्र को दो ही मास बाद बारह पृष्ठ का करना पड़ा। दूसरे वर्ष के शुरू में सोलह पृष्ठ किये गये। सम्वत् १९४८ में पत्र २० पृष्ठ का निकलने लगा। सम्वत् १९५० में आकार भी दुगुना कर दिया गया। फिर १९५३ में अमर-शहीद पं० लेखराम जी की स्मृति में 'आर्यमुसाफ़िर' के नाम से चार पृष्ठ और बढ़ाये गये। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह पत्र दिन प्रति दिन लोकप्रियता की दृष्टि से भी उन्नति करता चला गया। किसी भी एक अङ्क को हाथ में लेकर पन्ने उलटते ही प्रचारक का रूप-रंग और रीति-नीति तुरंत समझ में आ जाती है। पहले ही अङ्क से ज़ोरदार, स्पष्ट और निर्भीक लेख तथा टिप्पणियां निकलने लगीं। स्त्रियों के समानाधिकार और शिक्षा के लिये समान अवसर तथा साधन पैदा करने के लिये भी 'प्रचारक' ने शुरू से ही कुछ ऐसा आंदोलन किया, जैसे कि उसका जन्म ही उसके लिये

हुआ था। इसी आंदोलन के लिये 'अधूरा इंसाफ़' शीर्षक से शुरू की गई लेखमाला लगभग आधी शताब्दी बीत जाने के बाद आज भी स्त्रियों के आन्दोलन के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकती है। 'प्रचारक' की ऐसी लेखमाला और आन्दोलन का ही परिणाम जालन्धर-स्थित पंजाब का सुप्रसिद्ध 'कन्या महा-विद्यालय' है। पहिले वर्ष में 'प्रचारक' में २०५ सम्पादकीय लेख, ३६ विशेष लेख, ४५ समालोचनात्मक लेख, ५ जीवन-चरित्र और ५२ वेदमन्त्रों की व्याख्या दी गई थी। सम्पादकीय और विशेष लेखों में आर्यसमाज के सामयिक प्रसंगों और विषयों की चर्चा के अलावा स्त्री-शिक्षा, ज़नाना बोर्डिंग हाउस फिरोज़पुर, उपदेशकों की आवश्यकता, दुआबा-उपदेशक-मण्डली तथा दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज के सम्बन्ध में चर्चा की गई थी। यह कह कर कि 'मैंने संसार से संन्यास लिया है, स्त्री और बच्चों से नहीं' भगवां धारण कर स्वामी सत्यानन्द बनने वाले 'देवसमाज' के संस्थापक पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री और पंजाब में चार घोड़ों की गाड़ी में राजसी ठाठबाठ से दौरा करते हुए धर्मोपदेशों द्वारा विपुल धन-सम्पत्ति जमा करने वाले साधु केशवानन्द की भी इस वर्ष के अंकों में विशेष चर्चा की गई थी और उन द्वारा आर्यसमाज पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण किया गया था। जीवन-चरित्रों में वीर-बालक हक़ीक़तराय, गुरु तेग़बहादुर, गुरु गोविन्दसिंह तथा

उनके बच्चों के धर्म पर हुए बलिदान का सुन्दर और भावपूर्ण वर्णन है। वेदमन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त 'सच्चा यज्ञ' शीर्षक से आर्य जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में भी एक सुन्दर लेखमाला का पहिले वर्ष में समावेश है। जन्मगत जात-पांत के विरुद्ध गुण, कर्म, स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था क़ायम करने पर भी ज़ोरदार लेख हैं। आर्यसमाज के आचारहीन धनी पदाधिकारियों को भी जगह-जगह पर सावधान किया गया है और आवश्यकतानुसार दूर-दूर के समाजों को भी उचित परामर्श दिया गया है। दूसरे वर्ष में स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-समाज में सुधार, उपदेशक क्लास तथा उपदेशकों के आचरण के सुधार, दयानन्द-एंगलो-वैदिक-कालेज तथा उसमें आर्ष ग्रन्थों के प्रचार, दुआबा-उपदेशक-मण्डली, अनाथ बच्चों की रक्षा तथा आर्य भाइयों में पारिवारिक उपासना शुरू करने की आवश्यकता और देवसमाज द्वारा स्वामी जी के वेदभाष्य पर किये गये आक्षेपों के निराकरण के सम्बन्ध में विशेष लेख हैं। इनके अलावा समाज-सुधार की बहुत साधारण समझी जाने वाली छोटी-छोटी बातों की भी इस वर्ष में विशेष चर्चा की गई है। छोटी अवस्था में विवाह से बहुत पहले होने वाली सगाई की प्रथा, स्त्रियों में बाल गूंथने की रीति, विवाह पर चूड़ा पहिनने के रिवाज, साया-चिट्ठी लिखने की परम्परा और 'जो राजा नाई कहे सो प्रमाण' मानने के व्यवहार को बन्द करने पर कई जगह बहुत ज़ोरदार नोट लिखे गये हैं।

स्त्रियों की वेश-भूषा को सुधारने का आन्दोलन भी शुरू किया गया है। आर्यसमाज में गृह-कलह का श्रीगणेश इस वर्ष से ही हो जाता है। इस लिये मांस-भक्षण के विरोध में पहिला लेख इसी वर्ष १४ पौष के अङ्क में निकलता है और दयानन्द ऐंगलो-वैदिक कालेज के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में भी इस वर्ष के अंकों से विशेष चर्चा शुरू हो जाती है। वैदिक विद्वत्ता के सूर्य स्वनामधन्य पण्डित गुरुदत्त जी और लाहौर-समाज के जीवन-श्रोत श्री साईंदास जी का देहान्त इसी वर्ष में होता है। इस लिये उनके सम्बन्ध में रुलाने वाले मार्मिक लेख भी इस वर्ष की फ़ाइल में हैं। हरिद्वार के कुम्भ पर किया गया सफल प्रचार 'प्रचारक' की इस वर्ष की अपीलों का ही शुभ परिणाम था। तीसरे वर्ष में दयानन्द ऐंगलो-वैदिक कालेज में आर्ष ग्रन्थों की पढ़ाई की चर्चा और मांस-भक्षण के विरोध में लेख तो रहते ही हैं, किंतु आर्य पुरुषों से आचरण-शुद्धि के लिये अपील की जाती है और स्त्री-शिक्षा तथा उपदेशक-पाठशाला का आन्दोलन निरन्तर जारी रहता है। बालकों के अभिभावकों से अपील की जाती है कि वे अपने बालकों को रासलीला के उस बुरे प्रभाव से बचावें, जिसका परिणाम उनके आचरण तथा स्वास्थ्य दोनों के लिये ही घातक होता है। स्त्रियों को भी उससे बचाने के लिये कहा गया है, क्योंकि इससे उनमें मूढ़ अन्धविश्वास और अधिक गहरी जड़ पकड़ते हैं। स्त्रियों में प्रचलित गीतों की गंदगी को भी दूर

करने पर ज़ोर दिया गया है। भगवें कपड़े वाले साधुओं से बचने की सलाह दी गई है। प्रचलित जन्मगत छूत-छात को खान-पान तक में से दूर करने की आवश्यकता पर भी एक सुन्दर भावपूर्ण टिप्पणी है। ब्रह्मचर्य पर भी एक अच्छा लेख है। इन सब से महत्वपूर्ण विषय यह है कि 'देवनागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा' को तमाम देश की भाषा बनाना आर्यसमाजियों का कर्तव्य बताया गया है और उस कर्तव्य-पालन के लिये उनसे आग्रह किया गया है। चौथे और पांचवें वर्ष में गृह-कलह सम्बन्धी लेखों की भरमार होने पर भी स्त्री-शिक्षा के आदर्श से 'प्रचारक' च्युत नहीं हुआ। शुरू सावन की संख्या में स्त्री-शिक्षा पर एक ज़ोरदार लेख पढ़ने को मिलता है। आर्य पुरुषों से विवाह-सम्बन्ध का क्षेत्र यूरोप और अमेरिका तक बढ़ाने के लिये कहा गया है। धार्मिक प्रश्नोत्तरों के लिये एक विशेष कालम खोला गया है, जिसमें जिज्ञासु सज्जनों की धार्मिक शङ्काओं को दूर करने का उपक्रम बांधा गया है। विवाह पर कराये जाने वाले नाच आदि को बन्द करने का भी आन्दोलन किया गया है। शिक्षित आर्यसमाजियों की कमज़ोरियों की इन अंकों में कुछ कड़ी आलोचना पढ़ने में आती है। उसका कारण यह बताया गया है कि शिक्षित होने से उनकी कमज़ोरियों को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि दूसरों पर भी उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। धनी आर्य पुरुषों में नाच और शराब की प्रचलित

प्रवृत्ति की तीव्र निन्दा की गई है। किसी आर्य पुरुष के पिण्डदान करने की व्यक्तिगत कमज़ोरी को असह्य बताया गया है। हिंदी को अदालती भाषा बनाने पर भी एक लेख में ज़ोर दिया गया है।

'प्रचारक' के पहिले पांच वर्ष के जीवन के सम्बन्ध में इतना खोल कर इसीलिये लिखा गया है, जिससे पता लग सके कि मुन्शीराम जी के दिल में उन दिनों, आज से लगभग आधी शताब्दी पहिले, क्या प्रवृत्ति काम कर रही थी और उनके दिमाग़ में कौन-से विचार रात-दिन घूमा करते थे। साथ ही यह भी पता लग जाता है कि 'प्रचारक' को जिस महान् उद्देश्य और विशाल दृष्टि से निकाला गया था, उसी को सामने रख कर उसका सम्पादन तथा संचालन होता था। उसके प्रकाशन का स्थान बदल गया, उसका बाह्य रूप-रंग भी सदा ही बदलता रहा और आगे चल कर उसका चोला भी बिलकुल बदल गया, किन्तु उसका वह अन्तरात्मा कभी नहीं बदला, जिसकी कुछ हलकी-सी छाया ऊपर के विवेचन में देखी जा सकती है। सम्पादकीय लेख के अलावा वेदमन्त्र की व्याख्या—जिसको साप्ताहिक स्वाध्याय कहना चाहिये, संसार की गति—जिसको साप्ताहिक प्रगति का सम्पादकीय विवेचन कहना अधिक उचित होगा, सामाजिक-समाचार—आर्यसमाज की गति-विधि की रिपोर्ट आदि कुछ ऐसे शीर्षक थे, जो 'प्रचारक' में शुरू से अन्त तक बने रहे।

पहिले दो वर्ष तक 'प्रचारक' मित्रमण्डली की ही सम्पत्ति रहा। घाटा आने पर प्रति हिस्सा १५) और बढ़ाया गया। इस पर भी काम घाटे पर चलता देख कर मुन्शीराम जी ने हिस्सेदारों को रुपया देकर प्रेस और पत्र अपने कर लिये। कुछ हिस्सेदारों ने अपना रुपया वापिस नहीं लिया। हरिद्वार-कांगड़ी में गुरुकुल खुलने के बाद जब मुन्शीराम जी वहां चले गये, तब ५ पौष सम्वत् १६५६ विक्रमी, १६ दिसम्बर १६०२, को प्रेस और 'प्रचारक' हरिद्वार ले जाये गये। १४ माघ, २८ नवम्बर, को जालन्धर से 'प्रचारक' का अन्तिम अङ्क निकला। कुछ समय बाद मालूम होता है कि 'प्रचारक' फिर जालन्धर चला आया, क्योंकि १८ फाल्गुन १६६३, १ मार्च १६०७, को जब 'प्रचारक' एकाएक अपना चोला बदल कर उर्दू से हिंदी में निकलना शुरू हुआ, तब वह गुरुकुल कांगड़ी से ही निकला और प्रेस का सब सामान जालन्धर से हरिद्वार लाने का उक्त अङ्क में उल्लेख है। १ कार्तिक १६६६, १६ अक्तूबर १६१२, को 'प्रचारक' का अन्तिम अङ्क गुरुकुल से निकल कर १५ कार्तिक से उसका प्रकाशन देहली से होना शुरू हुआ। उसी समय उससे ५००) की ज़मानत भी मांगी गई। उस समय 'प्रचारक' को देहली ले जाने का कुछ कारण था। सम्वत् १६६६ के कार्तिक मास के लगभग 'प्रचारक-प्रेस' में अकस्मात् आग लग गई। लकड़ी का सब सामान जल कर राख हो गया। टाइप

पिघल कर बह गया। काग़ज़ का बड़ा भण्डार भी आग की भेंट हो गया। मशीनरी के लोहे के अस्थिपञ्जर को छोड़ कर बाक़ी कुछ नहीं बचा। संयुक्त प्रांत में उस समय यह प्रेस पहिली श्रेणी के प्रेसों में समझा जाता था। इस दुर्घटना के बाद एक बार तो प्रेस और पत्र दोनों का ही भविष्य अन्धकार-मय हो गया। सम्वत १६६५ के श्रावण मास में मुंशीराम जी ने अपना यह प्रेस गुरुकुल कांगड़ी की स्वामिनी सभा 'आर्य प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब' के अधीन कर दिया था। आग की भयानक हानि को असह्य मान कर और उस में फिर से रुपया लगाकर गुरुकुल के जंगलों में शीघ्र उस के स्वावलम्बी बनने की कोई आशा न देखकर उस की स्वामिनी सभा ने उस को देहली भेज दिया। सहगामिनी पत्नी के समान पत्र को भी प्रेस के पीछे-पीछे देहली जाने के लिये बाधित होना पड़ा। सम्वत् १६७० के श्रावण मास में सभा ने प्रेस को बेच दिया और बेचारे पत्र की अवस्था विमाता के पुत्र के समान हो गई। जिस पत्र के लिये प्रेस स्थापित हुआ था, वह दूसरों के हाथ में चला गया। प्रेस के संचालक विशुद्ध व्यापारिक दृष्टि से उस को चलाने लगे। धर्म-प्रचार की धुन, देश-प्रेम की लगन और स्वतन्त्र विचारों के विकास के साथ प्रेस का कुछ भी सम्पर्क नहीं रहा। सरकार के इशारे पर चलने वाले प्रेस-मालिकों की कृपा से जन्म के साथ ही स्वतन्त्रता,

निर्भयता और वीरता की घुट्टी पिये हुए 'प्रचारक' को फिर गुरुकुल के जङ्गलों के स्वच्छन्द वायुमण्डल में आने के लिये वाधित होना पड़ा। इधर गुरुकुल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एक छोटा-सा प्रेस खोल दिया गया था। उसी में छपाई का ख़र्च देकर 'प्रचारक' को निकाला जाता रहा। २७ मार्गशीर्ष, १२ दिसम्बर १६१४, को देहली से अन्तिम अङ्क निकलने के बाद १८ माघ सम्वत् १६७१, ३० जनवरी १६१५ को गुरुकुल से 'प्रचारक' का पहिला अङ्क निकला। सम्वत् १६६७ तक—लगभग २१ वर्षों तक—मुन्शीराम जी ने ही पत्र का सम्पादन किया। देवराज जी ने शुरू के वर्षों में इस काम में उनका पूरा हाथ वँटाया था। वजीरचन्द जी विद्यार्थी भी शुरू वर्षों में ही आकर सम्पादन-कार्य में सहयोग देने लग गये थे। सम्भवतः सम्वत् १६६८ के एक वर्ष में मुन्शीराम जी के बड़े सुपुत्र हरिश्चन्द्र जी विद्यालङ्कार ने उसका सम्पादन किया था। उसके बाद १६७३ तक उनके दूसरे सुयोग्य पुत्र इन्द्र जी वेदालंकार, बाद में आपने 'विद्यावाचस्पति' की भी परीक्षा पास की, उसका सम्पादन बड़ी तत्परता और योग्यता के साथ करते रहे। गुरुकुल में अध्ययन करते हुए भी आप उसके सम्पादन के कार्य में हाथ बँटाया करते थे और शिक्षा-समाप्ति के बाद तो मुन्शीराम जी का नाम रहते हुए भी सब काम आप ही करते थे। मुन्शीराम जी के बाद उनके सुयोग्य पुत्रों ने 'प्रचारक' की शान को

बट्टा नहीं लगने दिया, इसका एक ही उदाहरण यहां देना पर्याप्त होगा। देहली में प्रेस के मालिकों की इच्छा पालन करने में अशक्त होने से जब 'प्रचारक' को गुरुकुल लाने के लिये विवश होना पड़ा, तब उसकी सूचना में लिखा गया था कि "प्रेस के प्रबन्धकर्ता महाशय के शाही फ़र्मानों से हमें दिल्ली में पत्र का छापना एकदम बन्द करना पड़ा है। 'प्रचारक' जब तक निकलेगा, जीवित रूप में निकलेगा, मर कर निकलने से राख होजाना अच्छा है।" यह निर्विवाद है कि एक-चौथाई शताब्दी से भी अधिक समय तक जब तक 'प्रचारक' निकला, जीवित रूप में ही निकला। उसके बन्द होने के बाद देहली के कुछ महानुभावों ने उसको निकालने का यत्न किया, किन्तु जीवित रूप में नहीं। उसकी अन्तरात्मा की हत्या के बाद उसको निकालने का जो परिणाम हो सकता था, वही हुआ; उसका चलाना असम्भव होगया। इस प्रकार उसकी अन्तिम दुर्दशा से मुन्शीराम जी के हृदय पर जो चोट लगी, उसका उल्लेख उनके ही शब्दों में करना ठीक होगा। उन्होंने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद लिखा था कि "इस समय में समाचार-पत्र सांसारिक कार्यों के साधन समझे जाते हैं। जब मैंने समझ लिया था कि संसार की सीमाओं का उल्लंघन करने चला हूं तब 'सद्धर्म-प्रचारक' से सम्बन्ध तोड़ लिया था। अच्छा होता यदि जिस समय मेरा दिया हुआ प्रेस आर्यप्रतिनिधि-सभा पंजाब

बेचने लगी थी, उस समय ख़रीददार को प्रेस का नाम 'सद्धर्म-प्रचारक' न रखने दिया जाता। फिर जब 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र को एक आर्य-मण्डल के सुपुर्द किया गया था, तब भी अच्छा होता यदि उसका नाम बदल दिया जाता। ऐसा न हुआ और उसका परिणाम यह है कि जिस उद्देश्य से यन्त्रालय और पत्र जारी किये गये थे, उन्हीं के द्वारा उनका खण्डन होता रहा।" इन शब्दों में छिपी हुई मर्म-पीड़ा को अनुभव करना कुछ कठिन नहीं है।

'प्रचारक' की विशेषताओं का सम्बन्ध मुन्शीराम जी के जीवन की विशेषताओं के साथ है, इसीलिये उन के सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक है। निर्भीकता, स्पष्टवादिता, स्वतन्त्रता आदि उस के साधारण गुण थे। प्रधानतः आर्य-समाजी होते हुए भी आर्यसमाज के बाहर के विषयों पर भी 'प्रचारक' में अपनी दृष्टि से विचार किया जाता था। इन विषयों में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' (राष्ट्रीय-महासभा) और 'नेशनल सोशियल कान्फ्रेन्स' आदि के सम्बन्ध में समय-समय पर प्रगट किये गये विचार मनन करने योग्य हैं। मुन्शीराम जी उस समय के कांग्रेसियों की सूखी, मौसमी तथा फ़ैशनेबल राजनीति से बहुत प्रारम्भ से ही असन्तुष्ट थे और उस को राष्ट्र के लिये व्यर्थ भी बताते थे। मुसलमान नेताओं की राष्ट्र-विरोधी नीति की भी कहीं-कहीं पर कड़ी आलोचना की गई मिलती

है। सारांश यह है कि प्रत्येक विषय की आलोचना में 'प्रचारक' का अपना ही दृष्टिकोण रहता था। इस दृष्टिकोण से भी अधिक महत्वपूर्ण विशेषता 'प्रचारक' की भाषा थी, जिस को कि उस-की अपनी ही भाषा कहना चाहिये। उर्दू लिपि में पत्र के निकलने पर भी मुखपृष्ठ पर पत्र का नाम और सब वेदमन्त्र आदि भी नागरी अथवा संस्कृत में ही लिखे जाते थे। भाषा में हिन्दी और संस्कृत के शब्द इतने अधिक रहते थे कि उनको सुनने वाले के लिये यह जानना कठिन था कि पत्र किस भाषा में निकलता है। १९६३ के फालगुन मास में पत्र की लिपि को भी फ़ारसी से नागरी करते हुये मुन्शीराम जी ने 'नया जन्म और नयी आशायें' शीर्षक से लिखे गये लेख में लिखा था कि "प्रचारक ने फ़ारसी अक्षरों का चोला उतार कर आज फेंक दिया और वह संस्कार किये हुये अक्षरों में आप सब पाठकों के सम्मुख उपस्थित होकर प्रेमपूर्वक आप को 'नमस्ते' करता है। क्या इस लिपि तथा भाषा के परिवर्तन से 'प्रचारक' के विचारों तथा उपदेशों में कुछ भेद आगया ? कदापि नहीं। वही उद्देश्य, वही विचार और वही मार्ग इस के लिये मौजूद हैं। किन्तु उर्दू का 'प्रचारक' भी निरर्थक न था। अठारह वर्ष हुए पंजाब में आर्यभाषा के बोलने का भी बहुत कम प्रचार था। फिर आर्यभाषा के लिखने वालों का तो अभाव-सा था। संस्कृत के साधारण से साधारण शब्द को भी समझना अच्छे-अच्छे आर्यसमाजियों तथा सना-

तनियों के लिये भी कठिन था। देवनागरी अक्षरों को पहचानने वाले भी मुश्किल से मिलते थे। 'प्रचारक' ने सहस्रों पुरुषों को इस योग्य बनाया कि वे वेदादि सत्य-शास्त्रों के अभिप्राय को समझ सकें। न केवल यही किन्तु 'प्रचारक' ने उस मिश्रित भाषा के बेढंगे लेखों से, जिसे उर्दूदां तथा हिन्दी के रसिक दोनों ही द्वेष-दृष्टि से देखते थे, अपने लिये ख़ास स्थान बना लिया। 'प्रचारक' की इसी कोशिश का नतीजा है कि आज पन्द्रह सौ से अधिक ऐसे पाठक हो गये हैं, जो आर्यभाषा को देवनागरी अक्षरों में पढ़ तथा कुछ समझ भी सकते हैं। किन्तु 'प्रचारक' के पुनर्जन्म के लिये इन युक्तियों की भी आवश्यकता नहीं है। भाषा तथा लिपि बदल गई, किन्तु प्रचारक की 'स्पिरिट' नहीं बदली। सत्य का निर्भय होकर उसी प्रकार प्रचार होगा। हर तरह के अनाचार तथा अशुद्धि का उसी प्रकार खण्डन होगा। गन्दे विज्ञापनों से न केवल इस को ही अलग रखा जायगा, प्रत्युत अपने नये सहयोगियों की सेवा में भी विनय तथा बलपूर्वक ऐसे विज्ञापनों को अलग करने की प्रेरणा होगी।" इस लेख के बाद 'प्रचारक' के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। यह उसके अठारह वर्षों के जीवन का सिंहावलोकन है और अगले वर्षों के जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी है, जो अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। इस प्रकार उर्दू में निकलते हुए भी 'प्रचारक' ने आर्यभाषा (हिन्दी)

का प्रचार किया था और नागरी लिपि में निकलने के बाद तो कितने ही आर्य पुरुषों ने केवल उस के लिये ही हिन्दी पढ़ने का अभ्यास किया था। आज भी वे केवल हिंदी पढ़ना ही जानते हैं और लिखने को अपना नाम भी ठीक-ठीक नहीं लिख सकते। आर्यसमाज में आर्य भाषा को जीवित भाषा बनाने का अधिकांश श्रेय प्रचारक ही को है।

सम्बत् १९७० में भागलपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन के सभापति के आसन से दी गई वक्तृता में भी आपने 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्बन्ध में ऐसे ही भाव प्रकट किये थे। आपने कहा था—"सद्धर्म-प्रचारक पहिले उर्दू में था, बाद में हिन्दी में किया गया, यह बात श्री श्यामसुन्दरदास जी ने आप लोगों से कही है। बस्तुतः 'प्रचारक' को हिन्दी में करने के बहुत दिन पहिले ही से मेरे मन में यह विचार था। जब वह फ़ारसी लिपि में निकलता था, तब भी मैं उसकी भाषा में संस्कृत और हिन्दी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग करने लगा था। यह भाषा देवियां समझ जाती थीं। 'प्रचारक' इस प्रकार से सम्पादित होता था, जिस में देवियों को उसे पढ़ने में तनिक भी संकोच न हो। उस के लेखों में तो क्या, विज्ञापनों तक में भी अश्लील बात नहीं आने पाती थी। यह सूचना प्रकाशित की गई कि यदि 'प्रचारक' के ५०० ग्राहक हो जायं तो वह हिन्दी में निकाला जायगा। पर, इतने

ग्राहक न हुए, तो भी ईश्वर पर भरोसा रख कर मैंने उसे हिन्दी में निकालना प्रारम्भ किया। इस में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। आज 'प्रचारक' को ग्राहकों का अभाव नहीं है।"

अपने ग्राहकों के साथ 'प्रचारक' का अपनेपन का भाव इतना अधिक था कि ग्राहकों के लिये जब-तब 'प्रचारक-परिवार' शब्द का प्रयोग किया जाता था और परिवार अथवा बिरादरी का यह भाव संकट से पार होने में 'प्रचारक' की प्रायः सहायता किया करता था। 'परिवार' के लोग अपनी बिरादरी बढ़ाने में प्रायः दत्त-चित्त रहते थे।

मुन्शीराम जी जब तक प्रतिनिधि-सभा के प्रधान रहे, तब तक पत्र प्रतिनिधि-सभा के मुख-पत्र की और गुरुकुल की स्थापना होने के बाद जब उस के मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य हुये, तब उस के मुख-पत्र की आवश्यकताओं को इस प्रकार पूरा करता रहा कि उन संस्थाओं के लिये कोई दूसरा पत्र निकालने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। स्वर्गीय पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय जी ने 'प्रचारक' के सम्बन्ध में लिखा है कि "श्री मुन्शीराम जी का पत्र अपने निकलने के पहिले दिन से ही आर्यसमाज के क्षेत्र में अच्छा काम करता रहा और लोक-प्रिय रहा है। श्री मुन्शीराम जी की लेखनी में बल था।"

'प्रचारक' मुन्शीराम जी के जीवन का बहुत बड़ा कार्य था। गुरुकुल की स्थापना के समान ही उस का भी उनके जीवन में

प्रधान और महत्वपूर्ण स्थान है। गुरुकुल के स्वप्न को पूरा करने के लिये 'प्रचारक' मुख्य साधन था। उस की फ़ाइल उन के जीवन के एक बड़े और गौरवशाली हिस्से के उतार-चढ़ाव का पूरा चित्र है। इन सब दृष्टियों से 'प्रचारक' के जीवन की कहानी को उन की जीवनी में इतना स्थान देना आवश्यक था। इन्हीं दिनों में मुन्शीराम जी ने अपने लिये 'जिज्ञासु' शब्द लिखना शुरू किया था और संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के समय तक वे बराबर इस शब्द का प्रयोग करते रहे थे। उन के जीवन में इस शब्द की सार्थकता इतनी स्पष्ट है कि उस के सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

'सद्धर्म-प्रचारक' के साथ-साथ कुछ ट्रैक्ट लिखने का भी काम शुरू किया गया था। 'प्रचारक' के सम्पादन के शुरू दिनों में ही वर्ण-व्यवस्था पर एक ट्रैक्ट सम्वत् १६४७ में लिखा गया था। सम्भवतः आप की लिखी हुई यह पहिली ही पुस्तिका थी।

३. हरिद्वार में कुम्भ पर प्रचार

पश्चिमोत्तरीय भारत में हरिद्वार बहुत बड़ा तीर्थ है और भारत के पहिली श्रेणी के तीर्थों में उस की गणना है। इसलिये वहां छोटे-मोटे मेले तो वर्ष में तीन सौ साठ दिन ही होते रहते हैं। पर, बारह वर्ष बाद आने वाला कुम्भ का महामेला अद्वितीय होता है। उस से उतर कर उस के छः वर्ष बाद होने

वाला अर्धकुम्भी का मेला होता है। ऋषि दयानन्द ने सम्वत् १९३६ में ऐसे अवसर पर ही हरिद्वार में 'पाखण्ड-खण्डिनी पताका' गाड़ कर और काशी के सुप्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानन्द को परास्त कर अपने महान् और विशाल मिशन की विजय-दुंदुभि बजाई थी। ऋषि के अनुव्रती इस गौरवपूर्ण घटना को भला कब भूल सकते थे ? ऋषि दयानन्द के देहावसान के बाद सम्वत् १९४८, सन् १८९१, में पहले पहल हरिद्वार का कुम्भ का यह महामेला आया। आर्यसमाजों को सुस्त देख कर मुन्शीराम जी ने इस अवसर पर प्रचार करने के लिये 'प्रचारक' द्वारा आर्य जनता से अपील की। अमरशहीद पंडित लेखराम जी 'आर्यमुसाफ़िर' उन दिनों कलकत्ता में थे। आपने वहीं से आप की अपील का समर्थन किया। 'प्रचारक' द्वारा आंदोलन होने पर प्रतिनिधि-सभाओं ने भी होश सम्हाला। आर्य जनता प्रचार का सब भार उठाने के लिये तय्यार हो गई। इस प्रचार में धन की कमी की कोई शिकायत नहीं रही। पर, हरिद्वार पहुँच कर प्रबन्ध की सब ज़िम्मेवारी उठाने के लिये कोई तय्यार न हुआ। मुन्शीराम जी को ही एक मास पहिले वहां जाकर डेरा जमाना पड़ा। तीन दिन बाद कलकत्ता से लेखराम जी भी पहुँच गये। ऐसे प्रचार का सम्भवतः वह पहिला ही अवसर था। इसलिये उपदेशकों, स्वामियों और अन्य सब साधनों की कमी न होने पर भी निराशा का कुछ कम सामना नहीं करना

पड़ा। पौराणिकता के गढ़ में वैदिक धर्म का सन्देश सुनाना कोई साधारण काम नहीं था। इसी लिये जालन्धर से चलने के बाद मुन्शीराम जी को सहारनपुर और रुड़की में निराशा की ही बातें सुनने को मिलीं। पर, मुन्शीराम जी सहज में निराश होने वाले नहीं थे। हरिद्वार पहुंच कर दो-तीन दिन में ही उन्होंने सब व्यवस्या ठीक कर दी। पर, घर से पुत्र की बीमारी का तार आने से उनको शीघ्र ही लौटना पड़ा। लौटने से पहले उन्होंने पंडित लेखराम जी, सुकेत के राजकुमार जनमेजय और काशीराम जी आदि को सब व्यवस्था अच्छी तरह समझा-बुझा दी। पंडित लेखराम जी के अलावा स्वामी आत्मानन्द जी, स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी, स्वामी पूर्णानन्द जी, ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी, ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द जी और पंडित आर्यमुनि जी आदि भी हरिद्वार पहुँच गये थे। भजनों और व्याख्यानों के साथ-साथ शङ्का-समाधान भी ख़ूब होता था। कोई मार्के का शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ, किन्तु प्रचार की ख़ूब धूम रही। वैदिक-धर्म का सन्देश हज़ारों नर-नारियों तक पहुँच गया। आर्यसमाज का परिचय भी लोगों को अच्छा हो गया। पंडित लेखराम जी ने इस प्रचार की रिपोर्ट को स्वयं लिख कर ट्रैक्ट के रूप में छपवा कर प्रकाशित किया।

मुन्शीराम जी को इस प्रचार से सब से अधिक लाभ यह हुआ कि पंडित लेखराम जी का उनसे बहुत घनिष्ठ प्रेम

हो गया। दोनों आपस में एक-दूसरे के बहुत समीप हो गये। आर्यसमाज को भी इस घनिष्ठता से बहुत बड़ा लाभ हुआ। दोनों की घनिष्ठता से आर्यसमाज में एक शक्ति पैदा हो गई, जिसने गृह-कलह के संकट-काल में आर्यसमाज को विचलित होने से बचाने में जादू का काम किया। इस के अलावा आर्यसमाज को प्रत्यक्ष लाभ यह मिला कि कुम्भ पर आर्यसमाज के प्रचार-कार्य का वह सिलसिला शुरू हो गया, जो अबतक भी जारी है। सम्वत् १९६० में इसी भूमि के पास फिर प्रचार हुआ और सम्वत् १९६२ में वह सारी भूमि पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा के नाम से खरीद ली गई। उस के बाद सम्वत् १९७२ में वहां सार्वदेशिक सभा की ओर से प्रचार हुआ और सम्वत् १९८४ में भी प्रचार की धूम रही। अर्धकुम्भी पर भी इसी प्रकार सदा प्रचार होता रहा। कुम्भी और अर्धकुम्भी पर होने वाले इस सब प्रचार का सारा श्रेय मुन्शीराम जी को ही है, जो 'प्रचारक' द्वारा सदा इस अवसर पर आर्यसमाज को कर्त्तव्य-पालन के लिये जगाते रहते थे। इस समय यह भूमि मायापुर की बाटिका के नाम से प्रसिद्ध है। गुरुकुल के गंगा के उस पार होने पर यह भूमि गुरुकुल के यात्रियों के बहुत काम आती थी और गुरुकुल की यहां पर एक छावनी सी पड़ी रहती थी।

४. स्त्री-शिक्षा की लगन

श्री मुन्शीराम जी में अपनी धर्मपत्नी को सुशिक्षित बनाने का विचार विवाह के समय ही पैदा हो चुका था। इसके लिये उन्होंने यत्न भी किया। जालन्धर में माई लाडी नाम की एक बुढ़िया स्त्री रहती थी, जिसने कई घरों की स्त्रियों को हिन्दी पढ़ना सिखाया था। श्रीमती शिवदेवी जी ने भी इस वृद्धा स्त्री से ही हिन्दी पढ़ना सीखा था। पीछे उस माई ने ईसाइयों के स्कूल में नौकरी कर ली और अपने पुराने परिचित घरों में जा-जा कर लड़कियों को स्कूल में लाकर भरती करना शुरू किया। मुन्शीराम जी की बड़ी कन्या वेदकुमारी को भी वह उसी स्कूल में पढ़ने के लिये ले गई। २ कार्तिक सम्वत् १९४५, १६ अक्तूबर १८८८, की एक घटना का उल्लेख मुन्शीराम जी ने स्वयं अपनी पंजिका में किया है। उन्होंने लिखा है—"कचहरी से लौट कर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आई और जो भजन पाठशाला से सीख कर आई थी, सुनाने लगी—'इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल? ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।' इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखाई जाती है। निश्चय किया कि अपनी पुत्री-पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।" इस घटना

के तीसरे ही दिन रविवार को आर्यसमाज का अधिवेशन था। वहां रायबहादुर बख़्शी सोहनलाल प्लीडर से इस सम्बन्ध में बातचीत हुई। उनको भी अपनी कन्या की पढ़ाई के सम्बन्ध में मुन्शीराम जी की-सी ही शिकायत थी। उनकी सहानुभूति मिलने पर उसी रात को मुन्शीराम जी ने कन्या-पाठशाला के लिये अपील लिख कर चन्दा भी इकट्ठा करना शुरू कर दिया। दिवाली के अगले दिन १७ कार्तिक को ऋषि-उत्सव पर स्थानीय आर्य भाइयों के सामने आपने कन्या-पाठशाला खोलने का विचार उपस्थित किया। इसी समय 'सद्धर्म-प्रचारक' को निकालने की आयोजना को भी आपने हाथ में उठाया। उसके सामने पाठशाला का काम ढीला पड़ गया, किन्तु 'प्रचारक' को निकालने के आन्दोलन में लगे रहने पर भी आपको पाठशाला की लगन बराबर लगी रही। उसके लिये चन्दा जमा करने का काम बन्द नहीं किया। 'दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज' से बालकों की शिक्षा का प्रश्न हल हुआ समझ कर 'प्रचारक' में स्त्री-शिक्षा के लिये विशेष आन्दोलन शुरू किया गया। फ़िरोज़पुर में एक पुत्री-पाठशाला आर्यसमाज की ओर से चल रही थी। उसको उन्नत करने का आपने प्रस्ताव किया। उसके साथ लड़कियों के रहने के लिये आश्रम खोलने पर भी आपने ज़ोर दिया। आंदोलन कुछ दिन होकर ही नहीं रह गया। मुन्शीराम जी अपनी धुन के पक्के थे। उन्होंने जो संकल्प एक बार कर लिया, उसको पूरा

करके ही छोड़ा। फिर यह संकल्प तो मानसिक विचार की कोटि से भी बहुत आगे बढ़ चुका था। सम्वत् १९४७ में वह पाठशाला खुल गई, जो आज 'कन्या-महाविद्यालय' के नाम से भारत की सर्वप्रधान शिक्षा-संस्थाओं में से एक है। पाँच वर्ष बाद सम्वत् १९२५ में, ११ अप्रैल १८९५ को, कोट किशनचन्द में आर्य-कन्या-आश्रम भी खुल गया। वस्तुतः इस आश्रम को ही कन्या-महाविद्यालय की स्थापना का श्रेय देना चाहिये। मुंशीराम जी ने अपनी कन्या और देवराज जी ने अपनी भतीजी को आश्रम में भरती करके अन्य आर्य पुरुषों के सामने आदर्श उपस्थित किया। कन्या-महाविद्यालय के विकाश के इतिहास का सम्बन्ध इस जीवनी के साथ उतना नहीं, जितना कि देवराज जी की जीवनी के साथ है। इस संस्था को दूसरों के तो क्या, आर्य-समाजियों के ही विरोध का बहुत सामना करना पड़ा। 'प्रचारक' के पहिले कुछ वर्षों के अंकों में ऐसे विरोध से पैदा हुए आक्षेपों के निराकरण में लिखे गये बहुत से लेख देखने में आते हैं। इस प्रकार इस महान् संस्था का मुन्शीराम जी ने बीज ही नहीं बोया, किन्तु अंकुर फूटने के बाद उसके चारों ओर बाड़ लगाने का भी बहुत सा काम उन्होंने ही किया।

५. धर्मपत्नी का देहान्त

गृहस्थ मनुष्य के जीवन का वह सुवर्ण मन्दिर है, जिस के नष्ट होने की वह कभी कल्पना भी नहीं करता। आश्चर्य यह है

कि दूसरों के इन मन्दिरों को रात-दिन ध्वंस होते हुए देखते रहने पर भी अपने सम्बन्ध में वह इस अवश्यम्भावी घटना का होना स्वीकार नहीं करता। हिन्दू पति-पत्नी अपने पारस्परिक सम्बन्ध को जन्म-जन्मांतर के पुण्य का फल समझते हैं। मुन्शी-राम जी का गृहस्थ भी इसका अपवाद नहीं था। शिवदेवी जी को अनुकूल बनाने के लिये उन्होंने विशेष परिश्रम किया था। उनको शिक्षित बनाकर उनके रहन-सहन को सुधारने और वैदिक धर्म में उन का गहरा अनुराग पैदा करने का भी उन्होंने निरन्तर यत्न किया था। पाठक शिवदेवी जी की उज्ज्वल, पवित्र और निष्कलंक पति-भक्ति की कई घटनायें पीछे पढ़ आये हैं। ऐसे परिश्रम से तय्यार किये गये इतने उत्तम गृहस्थ के अलौकिक आनन्द के तारतम्य के टूटने की मुन्शीराम जी को कोई कल्पना भी नहीं थी कि शिवदेवी जी सहसा बीमार पड़ गईं। घर में और आत्मीय जनों के हृदयों में तो पांचवीं सन्तान पैदा होने की सुमधुर कल्पनायें हिलोरें मार रही थीं; उनको क्या मालूम था कि बादलों के बरसने के बाद बिजली टूटने वाली है! सम्वत् १९४८ के श्रावण के अन्त में सन्तान के पैदा होने के समय शिवदेवी जी को बहुत पीड़ा हुई। डाक्टरों की सहायता भी ली गई। लड़की हुई और होते ही अगली कल्पनातीत और दुःखपूर्ण घटना की ओर संकेत करके चली गई। शिवदेवी जी बहुत दुर्बल हो गईं। मुन्शीराम जी को धर्मशाला

समाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। विचार किया कि उनको भी साथ लेते जायेंगे। १५ भाद्रपद जाने की तिथि भी नियत हो गई। १२ भाद्रपद की शाम को एकाएक दस्त और उलटियां आरम्भ हुईं। रात भर डाक्टर पास बैठा रहा और मुंशीराम जी स्वयं भी जागते रहे। सवेरे तीन बजे दस्त बन्द हुए। १३ भाद्रपद बहुत आराम के साथ बीता। १४ को आर्यसमाज के अधिवेशन में ही समाचार आया कि फिर दस्तों की शिकायत शुरू होगई है। डाक्टरों को इकट्ठा किया गया। सब की सलाह से एक डाक्टर का इलाज शुरू किया। माता ने आकर पुत्री को गोदी में ले लिया। भाई और इष्ट सम्बन्धी सब आ गये। मृत्यु को पराजित करने के लिये कोई भी बात उठा न रखी गई, किन्तु उस को किस ने पराजित किया है? रात को बड़ी लड़की वेदकुमारी से शिवदेवी जी ने और सब को अनुपस्थित देख कर क़लमदान मंगाया और काग़ज़ के एक टुकड़े पर कुछ लिख कर उसी में रख दिया। रात को एक बजे मुन्शीराम जी ने जब दवा पिलाई तब हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और माता जी से बोलीं—"कितना बड़ा अपराध है? जिनकी मुझे सेवा करनी चाहिये, वे मेरी सेवा कर रहे हैं?" माता ने सान्त्वना दी और कहा—"कोई अपराध नहीं। अच्छी होने पर इस सेवा का बदला चुका देना।" भाई देवराज जी ने पूछा—"बीबी जी! भजन सुनोगी?" "हां" कहने पर देवराज जी ने गाना आरम्भ

किया—"प्रभु जी ! भेंट धरूं क्या मैं तेरी ?" अवस्था बिगड़ती जा रही थी। माता ने विह्वल होकर पूछा—"बच्चे किस के सुपुर्द कर चली हो ?" देवी ने कहा—"आप ही पल जायेंगे।"

१५ भाद्रपद सम्वत् १६४८, ३१ अगस्त १८६१ ई०, की सवेरे ४॥ वजे मुन्शीराम जी बाहिर खड़े डाक्टर से परामर्श कर रहे थे। ५ बजे के क़रीब भीतर गये। देवी ने बहुत ही करुणापूर्ण आवाज़ में कहा—'बाबू जी ! बाबू जी !' मुंशीराम जी ने झुक कर नब्ज़ हाथ में ली। देवी ने एक बार दिल भर कर बाबू जी की ओर देखा और 'ओ३म' का उच्चारण करते हुए माता की गोद में ही सदा के लिये आंखें बन्द कर लीं। समाचार बिजली की तरह तुरन्त सारे शहर में फैल गया। हज़ारों की संख्या में स्त्री-पुरुष घर पर जमा हो गये। ६ बजे दाह-संस्कार हुआ। सब से छोटी सन्तान केवल दो वर्ष की थी। बाक़ी सब बच्चे भी नासमझ थे। छोटे बच्चे को छः मास पहिले निमोनिया हुआ था और तब भी उसको ज्वर और दस्तों की शिकायत बनी हुई थी। शिवदेवी जी कुल चार सन्तान छोड़ गईं—(१) वेदकुमारी—आयु १० वर्ष, (२) हेमन्तकुमारी, यज्ञोपवीत के समय नाम बदल कर 'अमृतकला' रखा गया—आयु ६ वर्ष (३) हरिश्चन्द्र—आयु ४ वर्ष और (४) इन्द्र—आयु २ वर्ष।

दूसरे दिन मुन्शीराम जी शिवदेवी जी का सब सामान सम्हालने लगे, तो वेदकुमारी ने माता जी का लिखा हुआ क़लमदान वाला काग़ज़ लाकर दिया। उस में लिखा था—"बाबू जी! अब मैं चली। मेरे अपराध क्षमा करना। आपको तो मुझ से अधिक रूपवती और बुद्धिमती सेविका मिल जायगी, किन्तु इन बच्चों को मत भूलना। मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करें।" पति-अनुरक्ता पत्नी के इन अन्तिम शब्दों ने मुन्शीराम जी के हृदय में एक अद्भुत शक्ति का संचार कर दिया। निर्बलता सब दूर हो गई। बच्चों के लिये माता का स्थान भी स्वयं पूरा करने का दृढ़ संकल्प किया। ऋषि दयानन्द के उपदेश और वैदिक धर्म के आदेश को पूरा करने के लिये पत्नी के इस सन्देश से विशेष बल मिला। सम्बन्धियों, इष्ट-मित्रों और हितचिन्तकों ने बच्चों की रक्षा के नाम पर दूसरा विवाह करने के लिये चारों ओर से दबाना शुरू किया और तरह-तरह के प्रलोभन भी दिखाने शुरू किये, किन्तु मुन्शीराम जी अपने निश्चय पर अटल रहे। उन के अन्तरात्मा में मातृ-भाव का जो संचार हुआ था, उस के सामने बच्चों के लिये विमाता की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं हुई। बड़े भाई आत्माराम जी ने इस समय अच्छा साथ दिया। वे अपनी धर्मपत्नी सहित जालन्धर आगये और उन्होंने बच्चों की देख-भाल, रक्षा तथा सेवा से मुन्शीराम जी को बहुत-कुछ निश्चिन्त कर दिया।

मुंशीराम जी ने इस भारी विपत्ति पर भी धर्मशाला-समाज के उत्सव पर जाने की हिम्मत न हारी। हरिश्चंद्र को साथ लेकर धर्मशाला चल दिये और बच्चों की ताई तीन बच्चों को साथ लेकर तलवन चली गईं। सितम्बर का पूरा मास पर्वत पर धर्म-प्रचार में बिता कर अक्तूबर के शुरू में जालंधर लौट कर आप वकालत में लग गये। गृहस्थी का बंधन टूटने के बाद वकालत का बंधन टूटना भी निश्चित था। १८६२ में पंजाब-प्रतिनिधि-सभा के प्रधान होने के बाद से यह बंधन ढीला पड़ना शुरू हो गया और वह समय भी आया, जब कि मुंशीराम जी ने उससे भी पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली।

सम्वत् १६४८, सन् १८७६, से ही मुन्शीराम जी का स्वास्थ्य कुछ गिरने लगा और वे प्रायः बीमार रहने लगे। वैशाख ज्येष्ठ में एक विचित्र बीमारी ने आ दबाया। ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता शरीर में जलन बढ़ती जाती और दिन ढलने के साथ कम होकर शाम को शांत हो जाती। डाक्टर और हकीम परीक्षा करके कुछ भी पता न लगा सके। वैसे सब शरीर ठीक था। फेफड़ों, छाती, पीठ और पेट आदि में भी कोई शिकायत नहीं थी। ज्येष्ठ के अन्त में पहाड़ पर जाना तय हुआ। बैरिस्टर भक्तराम जी धर्मशाला में बैरिस्टरी करते थे। उन के पास जा कर चार मास वहां ही बिताये। इन चार मास में कांगड़ा, पालमपुर आदि में अच्छा प्रचार किया, स्वाध्याय भी खूब

किया और वकालत कर के थोड़ा पैसा भी पैदा किया। प्रचार के अलावा दो शास्त्रार्थ भी किये। कार्तिक में जालन्धर लौट आये।

मांस-भक्षण पर आर्यसमाज में ज़ोरों से विवाद शुरू था। एक-दूसरे पर आक्षेप करने और एक-दूसरे की आलोचना करने का बाज़ार गरम था। अभी दो दल तो नहीं हुए थे, किन्तु उस के चिन्ह स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। आर्यसमाज के इस सङ्कट-काल में मुन्शीराम जी ने अद्भुत साहस और अलौकिक कर्त्तव्यपरायणता का परिचय दिया।

६. आर्यसमाज में गृह-कलह

मुन्शीराम जी की जीवनी का यह सब से अधिक नाज़ुक हिस्सा है, जिसमें पञ्जाब के आर्यसमाजों में यादवदल के समान गृह-कलह शुरू होती है। इन पृष्ठों में उस विषय की गहराई में न जा कर उसको छूते हुए भी आगे बढ़ जाने से काम निकल सकता है, किन्तु ऐसा करने से उन के तथा आर्यसमाज के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना अस्पष्ट रह जायगी। गृह-कलह का यह इतिहास दुःखपूर्ण होता हुआ भी महत्वपूर्ण है। उस की गंदगी के कीच में कमल भी खिले हुए स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। मुन्शीराम जी की जीवनी के साथ उस का इतना अधिक सम्बन्ध है कि उस अग्नि में तप कर ही वे खरा सोना

सिद्ध हुए। पंडित गुरुदत्त जी के बाद इस गृह-कलह के दिनों में आर्यसमाज के प्रधान-दल का जो नेतृत्व उन को अनायास ही मिल गया वह आजीवन क़ायम रहा। इस प्रकार चरित्रनायक के जीवन को इतना ऊपर उठाने वाली घटना पर कुछ विस्तार के साथ ही विचार करना आवश्यक है। विचार के सुभीते के लिये गृह-कलह के इस पर्व को निम्न लिखित चार भागों में विभक्त कर लेते हैं—(क) गृह-कलह के कारण, (ख) उस का स्वरूप, (ग) उस का परिणाम और (घ) मुन्शीराम जी की स्थिति।

(क) गृह-कलह के कारण

पञ्जाब में आर्यसमाज के प्रायः जन्म-काल से ही दो प्रवृत्तियां काम कर रही थीं। एक प्रवृत्ति का केन्द्र लाहौर था और दूसरी का जालन्धर। जालन्धर-आर्यसमाज के नाम से जिस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया जा रहा है उस का उद्गम मुन्शीराम जी के व्यक्तित्व से ही समझना चाहिये। धर्म-प्रचार मुंशीराम जी की प्रवृत्ति के साथ तन्मय हो चुका था। जालन्धर आर्यसमाज ने दुआबा प्रदेश में और उस के बाहिर भी धर्म-प्रचार का कार्य बहुत कुछ उन की ही प्रेरणा से किया था। उस धर्म-प्रचार के कारण जालन्धर में उपदेशक-पाठशाला खोलने अथवा आर्यसमाज के लिये उपदेशक किंवा प्रचारक

तय्यार करने की आवश्यकता आर्यसमाज के शुरू दिनों से ही विशेष रूप में अनुभव की जा रही थी। काशी से स्वामी रामानन्द जी और स्वामी पूर्णानन्द जी के आने पर उसको और भी अधिक अनुभव किया जाने लगा था। इस ओर कुछ यत्न भी किये गये थे। इस प्रकार जालन्धरी आर्यों के लिये आर्य-समाज एक मिशन अथवा धर्म था, जिस का प्रचार करना उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया था। लाहौरी-आर्य आर्यसमाज को हिन्दू जाति में जागृति पैदा करने के लिये साधन मात्र समझते थे। उन के लिये आर्यसमाज ऐसा कोई पृथक मिशन नहीं था।

उनमें दूसरी प्रवृत्ति काम कर रही थी। वहां के आर्य भाई अधिकांश में सरकारी यूनिवर्सिटियों के ग्रेजुएट थे। इस लिये ऋषि दयानन्द के निर्वाण के बाद जब उनका कोई उपयुक्त स्मारक बनाने की चर्चा हुई, तब लाहौर के इन आर्य पुरुषों ने 'दयानन्द-एंग्लो-वैदिक-स्कूल' खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया। पंजाब के आर्यसमाजों ने एक व्यक्ति के समान उसका समर्थन किया और अपनी सब शक्ति तथा साधन उस प्रस्ताव को कार्य में परिणत करने में लगा दिये। सन् १८८६ के जून की पहली तारीख को स्कूल खुल गया और महीना समाप्त होते न होते उस में ६०० विद्यार्थी भरती हो गये। स्कूल के बाद कालेज खोलने की महत्वाकांक्षा बनी ही हुई थी। १८८६ की २७ अगस्त

को 'दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक-कालेज-सोसाइटी' की रजिस्ट्री हो गयी और कालेज खोलने की तय्यारियां होने लगीं। स्कूल में आशातीत सफलता प्राप्त होने पर आर्य पुरुषों के उत्साह का कहना ही क्या था ? कालेज की बात करते ही आर्यों की आंखों के सामने भविष्य का बहुत ही भव्य और उज्ज्वल चित्र अंकित हो जाता था। वे उसको ऋषि का स्मारक तो मानते ही थे, साथ में आर्यसमाज की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन भी समझते थे। उनको पूरा विश्वास और भरोसा था कि कालेज चल निकलने के बाद प्रचारकों अथवा उपदेशकों की कमी नहीं रहेगी, वैदिक ग्रन्थों के अनुशीलन का काम बहुत तेज़ी के साथ शुरू हो जायगा और आर्यसमाज की दृढ़ता की जड़ें पाताल में पहुंच जायेंगी। 'आर्य-पत्रिका' को कालेज के आन्दोलन के लिये ही निकाला गया। पं० गुरुदत्त जी और ला० लाजपतराय जी की धर्म, वेद, शास्त्र, ब्रह्मचर्य और दयानन्द के नाम से की जाने वाली अपीलों पर आर्य जनता पागल हो जाती थी। पुरुषों ने तो खुले हाथों दिया ही, स्त्रियों ने अपने आभूषण तक उतार कर कालेज-फ़ण्ड में दिये। सर्वसाधारण में कालेज के लिये जो प्रवृत्ति काम कर रही थी, वह पहली प्रवृत्ति से कुछ भिन्न नहीं थी, किन्तु कालेज सोसाइटी के सदस्यों अथवा उसकी स्थापना करने वालों में जो अग्रणी थे उनमें दूसरी ही प्रवृत्ति काम कर रही थी। वे ईसाइयों के मुक़ाबले में एक

शानदार कालेज खड़ा कर 'हिन्दुत्व' की रक्षा करना चाहते थे। उनको आर्य सिद्धांतों, वैदिक उपदेशकों और समाज के प्रचार की इतनी चिन्ता नहीं थी। सम्वत् १९४८ के मध्य ज्येष्ठ, सन् १८९१ के मई मास में होने वाले कालेज की मैनेजिंग सोसाइटी के अधिवेशन में वैदिक ग्रन्थों की पढ़ाई के लिये अलग वैदिक विद्यालय की श्रेणी खोलने का प्रश्न आने पर कह दिया गया कि उससे सोसाइटी की रजिस्ट्री रद्द हो जायगी। सोसाइटी के उद्देश्यों में कालेज को आर्यसमाज के लिये उपदेशक तय्यार करने का साधन नहीं बताया गया था और यह भी नहीं बताया गया था कि उसकी पाठविधि में वैदिक ग्रन्थों तथा प्राचीन इतिहास की पढ़ाई को प्रधानता दी जायगी। आम जनता कब किसी विषय की इतनी गहराई में जाती है ? दिन रात व्याख्यानों में सुनी जाने वाली बातों के बाद उस को, सोसाइटी के लिखित उद्देश्यों की जांच-पड़ताल करने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई।

इन दोनों प्रवृत्तियों को वैदिक भाषा में श्रेय और प्रेय नाम दिया जा सकता है। आर्यसमाज को 'मिशन' मान कर धर्म-प्रचार के ध्येय से प्रेरित होकर काम करने वाली प्रवृत्ति को श्रेय कह सकते हैं और दूसरी को प्रेय।

परस्पर विरोध-भाव न होते हुए भी इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां दोनों दलों में बराबर बढ़ती चली जा रही थीं।

पृथिवी के पेट में ज्वालामुखी के फटने के सब सामान इकट्ठे हो रहे थे। दोनों ओर बारूद बिछ रहा था। उसको दियासलाई दिखाने की ही कमी बाकी थी।

स्कूल की पढ़ाई का विषय उपस्थित हुआ। यह विचार होने लगा कि उसमें हिंदी और संस्कृत की पढ़ाई का समावेश किस प्रकार किया जाय? संस्कृत पढ़ाने पर ऐसा बड़ा मतभेद नहीं था। मतभेद था इस पर कि संस्कृत पढ़ाई किस तरह जाय? यह विवाद शुरू होने से पहले 'प्रचारक' में भी डी० ए० वी० स्कूल और कालेज के लिये अपीलें निकला करती थीं और अलग स्कूल खोलने का यत्न करने वाले समाजों को वैसा न करके डी० ए० वी० कालेज के काम में ही हाथ बटाने की सलाह दी जाती थी। मतभेद का श्रीगणेश स्कूल में संस्कृत की पढ़ाई की विधि को ही लेकर होता है। पंडित गुरुदत्त जी ऋषि दयानन्द की पाठविधि के पूर्ण भक्त थे। वे अष्टाध्यायी पर लट्टू थे और वेद तक पहुँचने के लिये उसको ही पहिली सीढ़ी समझते थे। उनके साथियों पर भी उनके इस विश्वास का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि मास्टर दुर्गाप्रसाद जी, जीवनदास जी, आत्माराम जी (अमृतसरी), पं० रामभजदत्त जी चौधरी और मुन्शीराम जी आदि की बग़लों में भी उन दिनों अष्टाध्यायी दीखा करती थी। पंडित गुरुदत्त जी ने ऋषि दयानन्द की योजना के अनुसार और उनकी पुस्तकों के ही आधार पर संस्कृत पढ़ाने पर

ज़ोर दिया। स्कूल के संचालक हंसराज जी और लालचन्द जी इस से सहमत नहीं थे। कुछ समय विवाद, विचार और समझौते में निकल गया। पर, आर्य जनता में स्कूल में संस्कृत की पढ़ाई के अभाव की शिकायत बढ़ती ही गई। समाचारपत्रों में भी उसकी चर्चा होने लगी। कलकत्ता के 'आर्यावर्त' ने इस शिकायत की चर्चा सन् १८८७ से ही शुरू कर दी थी। सन १८८६ से 'प्रचारक' में भी आर्य पुरुषों की शिकायत के लेख तथा पत्र निकलने शुरू होगये थे। 'आर्य-पत्रिका' में किये गये समाधान से भी जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस असन्तोष का रूप यह देखने में आता है कि उपदेशक-क्लास खोलने का निश्चय करके उसके लिये चन्दा इकट्ठा करने और अन्य सब योग्य व्यवस्था करने के लिये एक स्थायी कमेटी बनाई गई, जिसके मुन्शीराम जी प्रधान थे, केदारनाथ जी मन्त्री, जीवनदास जी कोषाध्यक्ष और स्वामी रामानन्द जी उपदेशक। उक्त महानुभावों के अतिरिक्त पंडित गुरुदत्त जी, रलाराम जी झेलम, धर्मचन्द जी अमृतसर, दयाराम जी गुजरात और सीताराम जी पेशावर आदि आर्य भाई भी इस विचार से सहमत थे। इस अस्थायी कमेटी के बनने के बाद शीघ्र ही पंजाब प्रतिनिधि-सभा की अन्तरङ्ग-सभा ने उपदेशक-क्लास चलाने का निश्चय किया, मुन्शीराम जी को उसके नियम आदि बनाने का काम सौंपा गया और मन्त्री से कहा गया कि उपदेशक-क्लास के नाम से

आने वाला रुपया अलग रखा जाय। इस आशय का प्रस्ताव अन्तरङ्ग-सभा में सन् १८८६ के अक्तूबर मास में स्वीकृत किया गया था। उधर मुन्शीराम जी ने अपने पत्र 'प्रचारक' में यह पहिले ही लिख दिया था कि जब तक कालेज-सोसाइटी उपदेशक-क्लास खोलना स्वीकार न करे तब तक उक्त कार्य के लिये सब धन पंडित गुरुदत्त जी के पास भेजा जाय। इस सब कार्यवाही पर कालेज के संचालक आपे से बाहर होगये। उन्होंने पंडित जी पर भी नाना प्रकार के आक्षेप करने शुरू कर दिये। इन आक्षेपों से ही आलोचना-प्रत्यालोचना का काम शुरू हुआ। पर, पंडित जी के प्रभाव ने उसको उग्ररूप धारण नहीं करने दिया। इस प्रकार आग सुलग ही रही थी कि पंडित गुरुदत्त जी को भयानक बीमारी ने आ घेरा। सब आर्य भाई एक होकर उनकी सेवा-शुश्रूषा में लग गये। सुलगती हुई आग में लपटें निकलनी ही बाक़ी थीं कि पंडित जी चल बसे और उनके बाद ही साईंदास जी भी। दोनों ओर के दो प्रभावशाली नेता उठ गये। ज्वालामुखी के मुख पर से आवरण हट गया। बारूद सुलग गयी।

संस्कृत को स्कूल की पाठविधि में मुख्य स्थान दिलवा कर ऋषि दयानन्द की ही पाठविधि के अनुसार शिक्षा का क्रम नियत कराने के अभिलाषियों को अपने यत्न में इतनी भी सफलता न मिली कि डी० ए० वी० कालेज में अलग ही उपदेशक-क्लास

खोल दी जाती। कालेज के संचालक यूनिवर्सिटी से अपने स्कूल तथा कालेज का सम्बन्ध तोड़ने को तय्यार न थे। वे समझते थे कि वैसा करने से कालेज टूट जायगा, उसके लिये न विद्यार्थी मिलेंगे और न रुपया ही। वह सम्भवतः ईमानदारी का मतभेद था, किंतु ईमानदारी अधिक दिन नहीं निभ सकी। जब तर्क-वितर्क और सार्वजनिक-विवाद से भी काम नहीं चला, तब संस्थाओं पर अधिकार जमाने का यत्न शुरू हुआ। कालेज की मैनेजिंग सोसाइटी, लाहौर के आर्यसमाज और पंजाब की प्रतिनिधि-सभा एवं अन्तरङ्ग-सभा में अपना-अपना बहुमत करके अधिकार प्राप्त करने के यत्न के पीछे ही कलह ने भयानक रूप धारण किया। प्रजातन्त्र-संस्थाओं के सार्वजनिक चुनाव की सर्वव्यापक बुराइयों से आर्यसमाज भी बच नहीं सकता था। फिर तब, जब कि उसमें ईर्ष्या, द्वेष तथा वैमनस्य की चिंगारियां पूरी तरह सुलग चुकी थीं। एक-दूसरे को गिराने के लिये छिद्रान्वेषण होने लग गया था। मांस-भक्षण के सम्बन्ध में पहिले ही चर्चा शुरू थी। उसने अब इतना उग्र रूप धारण किया कि इस गृह-कलह को ऊपर से देखने वाले उसको ही इसका प्रधान करण समझते हैं। मांस-भक्षण का प्रश्न पंजाब के बाहर भी फैला, किंतु उतना नहीं। मांस-भक्षण के साथ ही यह भी प्रश्न उठा कि ऋषि दयानन्द को कहां तक प्रमाणित माना जाय? मांस-भक्षण के विरोधी उनको निर्भ्रान्त मानते और उनके

'सत्यार्थप्रकाश' आदि ग्रन्थों के एक-एक अक्षर को प्रमाण मानने का आग्रह करते थे। मांस-भक्षण के समर्थक पहिले तो स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों और वैदिक शास्त्रों से अपने पक्ष के समर्थन करने का प्रयत्न करते थे। जब उसमें सफल नहीं होते थे, तब स्वामी दयानन्द को पूर्णतः प्रमाण तथा भूल से बिलकुल परे मानने से भी इनकार कर देते थे। इसी विवाद का एक रूप विचार-स्वातन्त्र्य भी था। वह यह कि हर एक व्यक्ति की अपनी कुछ स्वतन्त्रता है। अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से सोचने और उसके अनुसार कुछ करने का भी उसे अधिकार है।

सम्वत् १९६९ के 'प्रचारक' में 'आर्यगजट' के प्रतिवाद में मुन्शीराम जी ने तीन लेख लिखे थे, जिनमें इस गृह-कलह पर भी कुछ प्रकाश डाला गया था। उन्होंने लिखा था कि "मांस-भक्षण को वेदानुकूल मानना तो उस मुख्य मतभेद का एक गौण परिणाम है। मुख्य मतभेद क्या था? शिक्षा का आदर्श। स्वर्गीय पण्डित गुरुदत्त जी और उनके प्रशंसक तथा शिष्य जिनमें प्रधान लाला रलाराम थे, यह कहते थे कि जब तक प्राचीन आर्य शिक्षा पद्धति का प्रवेश दयानन्द कालेज में न होगा, तब तक ऋषि दयानन्द का उद्देश्य उससे पूर्ण नहीं हो सकेगा। किन्तु श्री हंसराज जी तथा उनके साथी, जो अब कल्चर्ड कहलाते हैं, अधिकतः इंगलिश तथा पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा के पक्षपाती थे।.........उस झगड़े की तह में आदर्श

का मतभेद था। पुराने वैदिक समय का आदर्श सर्वोपरि रहे वा उसको युरोपियन आदर्श के नीचे दबाया जावे ? मतभेद का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि कलचर्ड महाशय इस युरोपियन धर्म-सूत्र के अनुयायी बन गये कि उद्देश्य पवित्र हो तो उसकी सिद्धि के लिये अपवित्र साधनों का प्रयोग करने में कोई दोष नहीं।"

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से लिखी गई अपनी जीवनी के तीसरे परिच्छेद का लिखना, मालूम होता है, चरित्रनायक ने देहावसान के कुछ ही दिन पहले शुरू किया था, क्योंकि उसके कुल तेरह ही पृष्ठ उनके अपने हाथ के लिखे हुए मिलते हैं। उन पृष्ठों में इस गृह-कलह की ही कहानी शुरू की गई थी और उसका अभी उपोद्घात् भी पूरा नहीं हुआ था। उस उपोद्घात् से यह पता लगता है कि लाहौर आर्यसमाज के संचालन की बागडोर एक ऐसे जत्थे के हाथ में थी, जो उसको अपने हाथों में से निकलने नहीं देना चाहता था। इस जत्थे में जो लोग शामिल थे, वे लगभग सभी मांसाहारी थे। उनका पहिला सिद्धान्त यह था कि जैनियों के अहिंसा व्रत की अति ने आर्य सन्तान को दास बनाया है, इस लिये उसका अतिक्रमण ही भारत का उद्धार कर सकता है। दूसरा यह था कि उद्देश्य पवित्र होने पर कैसे भी साधन काम में लाये जा सकते हैं। तीसरा यह कि सिवा उनके कोई और ऋषि दयानन्द

के रहस्यपूर्ण गूढ़ उद्देश्य को नहीं समझ सकता। इस लिये भी वे नीतिमानों की अपनी ही गोष्ठी के हाथों में आर्यसमाज का संचालन रखना चाहते थे।

ऋषि दयानन्द के निर्वाण के बाद परोपकारिणी-सभा का जो पहिला वार्षिकोत्सव हुआ था, उसमें इस जत्थे ने अपनी इस नीति का स्पष्ट परिचय दिया था। स्वर्गीय श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा और रावबहादुर गोपालराव देशमुख के प्रस्ताव पर वहां उपस्थित आर्य पुरुषों से कहा गया कि वे हस्ताक्षर करें कि उन सब बातों को सत्य मानते हैं, जिनका स्वामी जी उपदेश करते थे। वहां उपस्थित सब ने हस्ताक्षर कर दिये, किन्तु लाहौर वालों ने हस्ताक्षर नहीं किये। दयानन्द-कालेज खोलने के स्थान का प्रश्न आने पर भी वे सिवा लाहौर के और किसी दूसरी जगह को मानने को तय्यार न हुए, हालांकि फर्रुखाबाद वाले अपने यहां के लिये एक लाख से अधिक रुपया एकदम देने को तय्यार थे। इन लोगों को अपनी 'क़ौमियत' और 'क़ौमी हमदर्दी' का भी बहुत अभिमान था। सब से बड़ी बात यह थी कि ये लोग ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों की जंज़ीरों में जकड़े रहना भी पसन्द नहीं करते थे। लाला रलाराम जी ने २७ पौष सम्वत् १९४८ के 'प्रचारक' में एक विस्तृत लेख में यह प्रश्न किया था कि नास्तिक अर्थात् वेदों को न मानने वाले आर्यसमाज के अग्रणी और अधिकारी कैसे हो सकते हैं? उनको उस समय के

लाहौर-आर्यसमाज के अधिकारियों के उक्त जत्थे के विरुद्ध यह शिकायत थी कि वे वेदों को नहीं मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि लाहौर की इस नेता-पार्टी के असूल आर्यसमाज के असूलों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे। चरित्रनायक के अपने हाथ के लेख का सारांश यहां केवल इस लिये दिया गया है कि इससे लाहौरी आर्य-नेताओं की उस मनोवृत्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई भ्रम न रहे, जिस का ऊपर उल्लेख किया गया है। शिक्षा के आदर्श-सम्बन्धी इस मतभेद का लाला लाजपतराय जी ने भी परिडत गुरुदत्त जी की अंग्रेज़ी में लिखी गई जीवनी में वर्णन किया है और माना है कि यही मतभेद गृह-कलह का मुख्य कारण था।

संक्षेप में ये ही उस गृह-कलह के कारण थे, जिन्होंने एक स्रोत से निकली हुई गंगा की पवित्र शीतल धारा की दो नहरें बना दीं। श्रेय और प्रेय मार्ग की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां जिन कारणों से एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हो गईं, उन में पहिले ईमानदारी थी, फिर पारस्परिक छिद्रान्वेषण की मनुष्य की स्वाभाविक कमज़ोरी तथा अधिकार की लालसा का भी समावेश हुआ और उन का अन्त हुआ पारस्परिक सन्देह तथा अविश्वास में। पारस्परिक सन्देह तथा अविश्वास से फटे हुए हृदयों का मिलना सीमेण्ट की फटी हुई दीवार के जुड़ने से भी कहीं अधिक कठिन है।

(ख) उसका रूप

कालेज खुलने पर उस के प्रिंसिपल की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। साईंदास जी, हंसराज जी को और दूसरे लोग पंडित गुरुदत्त जी को कालेज का प्रिंसिपल बनाना चाहते थे। दोनों के शिक्षा के आदर्श में गंगा जमुना से भी अधिक अन्तर था। पंडित जी को प्रिंसिपल न बना कर हंसराज जी को ही प्रिंसिपल बनाया गया। आपस की पहिली कसक इसी से पैदा हुई। पंडित गुरुदत्त जी वेतन लेकर कालेज में प्रोफेसर बनना नहीं चाहते थे और अवैतनिक रूप में सेवाभाव से दो-तीन घण्टे वेद पढ़ाने को बहुत उत्सुक थे। परन्तु कालेज के संचालकों को वेद की पढ़ाई की न इतनी इच्छा थी और न आवश्यकता ही। उन्होंने उन को साइन्स पढ़ाने के लिये कहा, जिस के लिये वे तय्यार नहीं हुए। इस असली घटना पर टीका-टिप्पणी यह की गई कि उनकी अभिलाषा प्रिंसिपल बनने की है। इस प्रकार पंडित गुरुदत्त जी का कालेज से बिलकुल अलग रखा जाना भी उन के मित्रों को बुरी तरह खटका। यथार्थ बात को छिपा कर उन पर की गई टीका टिप्पणी ने आग में घी डालने का काम किया। पंडित जी ने तो उस समय बड़ी गम्भीरता का परिचय दिया किन्तु उनकी मित्रमंडली उनपर होने वाले आक्षेपों को सहन नहीं कर सकी। साईंदास जी, हंसराज जी आदि के मांस-भक्षण की चर्चा होने लगी। दोनों ओर के लोग एक-दूसरे को आलो-

चनात्क दृष्टि से देखने लगे और परस्पर छिद्रान्वेषण करने में लग गये। साईंदास जी लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान थे। मांस-भक्षण को लेकर उनको उससे अलग करने का प्रश्न भी उठाया गया। शीघ्र ही दोनों ओर हठ और दुराग्रह भी पैदा हो गया, जिस से परस्पर घृणा और मनोमालिन्य भी उत्पन्न हुआ। इसी बीच में पंडित गुरुदत्त जी और साईंदास जी का देहांत हो गया। साईंदास जी की जगह हंसराज जी लाहौर आर्यसमाज के प्रधान हुए। जिनको साईंदास जी के ही प्रधान रहने में आपत्ति थी, वे इस चुनाव से कब सन्तुष्ट हो सकते थे? साईंदास जी का तो कुछ प्रभाव भी था, किन्तु हंसराज जी उलटे अप्रिय थे। उनके अप्रिय होने का कारण एक तो उनका रूखा और कड़ा स्वभाव था, दूसरे उनके भाई मुलखराज ने खुल्लम-खुल्ला मांस-भक्षण का आन्दोलन शुरू करके उनको और भी अधिक अप्रिय बना दिया था। इतने अप्रिय होने पर भी हंसराज जी कालेज के प्रिंसिपल, लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान और पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा के भी प्रधान थे। उनको इन पदों पर बनाये रखने तथा उन से अलग करने के लिये प्रान्तभर के समाजों में अपनी-शक्ति बढ़ाने का काम शुरू हुआ। १८९१ का सम्पूर्ण वर्ष इस शक्ति के बढ़ाने और परस्पर कटाक्ष तथा आक्षेप करने में ही बीता। इस वर्ष के अन्त में हंसराज जी ने लाहौर-आर्यसमाज के प्रधान-पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान

पर मास्टर दुर्गाप्रसाद जी प्रधान हुए। आप बहुत तेज़ स्वभाव के थे और पण्डित गुरुदत्त जी के अन्यतम अन्तरंग साथी थे। आपके प्रधान होने के बाद आर्यसमाज के अधिवेशनों में मांस-भक्षण की चर्चा ने ज़ोर पकड़ा और मांस खाने वालों पर सीधे आक्रमण होने लगे। लाहौर-समाज की अन्तरंग-सभा के अधिवेशन कुरुक्षेत्र के मैदान बन गये। नये सदस्य बना कर और पुराने सदस्यों का अपने पास से चन्दा देकर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये जा-बेजा सब साधन काम में लाये गये। व्याख्यान, उपदेश, समाचार-पत्र आदि में पारस्परिक आक्रमणों के सिवा और कुछ नहीं होता था। जालन्धर के प्रायः सभी आर्यसमाजियों की सहानुभूति प्रारम्भ से ही पण्डित गुरुदत्त जी और उनके बाद मास्टर दुर्गाप्रसाद जी के साथ थी। मुन्शीराम जी उनके नेता थे और उनके पत्र 'प्रचारक' ने मास्टर जी के दल का दिल खोल कर साथ दिया। 'प्रचारक' के मुक़ाबले में लाहौर से 'भारत-सुधार' पत्र निकाला गया, किन्तु उसके लेखों में उतना बल नहीं था। मुन्शीराम जी की उदार वृत्ति, सेवा के भाव, चरित्र के बल, सिद्धान्त के लिये हानि सहने तथा कष्ट उठाने के अभ्यास और अन्त तक मित्र का साथ निभाने के सद्गुणों से मास्टर जी के दल को विशेष बल मिला। उन की लेखनी में जो शक्ति थी, वह भी 'प्रचारक' के द्वारा उन के काम आई। लाहौर में मास्टर जी के दल का, स्वर्गीय पण्डित गुरु-

दत्त जी के कारण, विद्यार्थियों और नवयुवकों पर विशेष प्रभाव था। बाहर के समाजों में मुन्शीराम जी का पहिले ही अच्छा प्रभाव और प्रतिष्ठा थी। 'प्रचारक' की धाक भी अच्छी जमी हुई थी। मास्टर जी और मुन्शीराम जी में अतिथि-सेवा का एक विशेष गुण था। इस लिये उनके मित्रों की संख्या भी बहुत थी। मांस-भक्षण का प्रश्न सामने आने पर उपदेशक और संन्यासी भला कब उनसे अलग रह सकते थे? इस प्रकार वाणी, लेखनी और प्रचार की तीन प्रबल शक्तियां उनके साथ थीं। इसी लिये लाहौर से बाहर के समाजों पर भी उनका ही विशेष प्रभाव था। सन् १८९२ का वर्ष भी इसी प्रकार के झगड़े में बीता। एक-दूसरे के लिये असभ्य, अश्लील एवं गन्दी भाषा का प्रयोग करना, परस्पर लांछन लगाना और अपमानित करना, साधारण बातें थीं। साधारण सभासदों को बहका कर अपने पक्ष में लाने के लिये सभी साधन काम में लाये गये। एक-दूसरे की निजी चिट्ठियां तक चुरा कर समाचार-पत्रों में छापी गईं। सन् १८९२ के अन्त में लाहौर-आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर गृह-कलह की अग्नि बड़े जोरों से धधक रही थी। हंसराज जी के दल के लोग समझ गये कि स्थानीय समाज उनके हाथ में नहीं रह सकता, इस लिये उन्होंने कालेज पर पूरा अधिकार जमाये रखने का यत्न किया। स्वर्गीय लालचन्द जी एम० ए० के मकान पर सम्भवतः अक्तूबर के महीने में हंसराज

जी के दल की सभा हुई। बच्छोवाली-समाज-मन्दिर पर अधिकार करने के प्रश्न पर विचार हुआ। कुछ लोग पुलिस की सहायता तक लेना चाहते थे। अन्त में अलग होने का ही निश्चय किया गया। दूसरे दिन अनारकली में भगत ईश्वरदास जी के मकान पर दल की एक सभा होकर अलग होने का निश्चय हो गया। अनारकली में समाज की वर्तमान जगह ही पहिले किराये पर ली गई, फिर उसको खरीद लिया गया। नवम्बर में आर्यसमाज का सोलहवां उत्सव भी दो जगह हुआ। दयानन्द ऐंगलो-वैदिक-हाई-स्कूल कालेज वालों के हाथ में था। उनकी ओर से होने वाला उत्सव वहां हुआ, दूसरा बच्छोवाली समाज-मन्दिर में। धर्म-चर्चा के अवसर पर मांस-भक्षण की ही चर्चा हुई और उसको लेकर आपस में झगड़ा भी चल गया। वैसे दोनों ओर के उत्सव सफलतापूर्वक हो गये। पर, आपस में सन्देह और अविश्वास इतना अधिक घर कर गया था कि दोनों ओर के लोग अपने-अपने समाज-मन्दिर पर रात और दिन बराबर पहरा रखने लगे। स्कूल के मकान में, जो सम्मिलित सम्पत्ति थी, कालेज वालों का उत्सव करना मास्टर जी के दल को सहन नहीं हुआ। एक तो वे उस आर्यसमाज को ही अनियमित मानते थे, दूसरे संयुक्त सम्पत्ति को इस प्रकार काम में लाना स्पष्ट ही अनुचित था। मांस-भक्षण के समर्थन में कुछ ट्रैक्ट भी छाप कर इस उत्सव पर बँटवाये गये थे। इस प्रकार

कालेज दल की ओर से मांस-भक्षण का खुल्लम-खुल्ला समर्थन किया जाने लगा था। लालचन्द जी ने प्लेटफार्म से उसका समर्थन करते हुए यहां तक कहा था कि आर्यसमाज के दस नियमों में मांस-भक्षण का कहीं भी निषेध नहीं है और उसका धर्म अथवा सदाचार के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है। लाहौर-आर्यसमाज में कलह ने ऐसा रंग दिखाया कि उस वर्ष चार चुनाव हुए। लाहौर से बाहर के समाजों का युद्ध-क्षेत्र प्रतिनिधि-सभा का वार्षिक अधिवेशन बना। इस ऐतिहासिक अधिवेशन की कार्यवाही सायंकाल ६ बजे शुरू होकर दूसरे दिन सवेरे ६ बजे तक होती रही। इसमें महात्मा-दल का बहुमत था। कालेज वालों ने अड़ंगा नीति से काम लिया। इस पर भी उनको परास्त होना पड़ा। हंसराज जी की जगह मुन्शीराम जी प्रतिनिधि सभा के प्रधान और ईश्वरदास जी की जगह दुर्गाप्रसाद जी मन्त्री चुने गये। इस प्रकार प्रतिनिधि सभा भी जब हाथ से निकल गई, तब कालेज पर पूरा अधिकार बनाये रखने का अन्तिम यत्न किया गया। उसके लिये कालेज सोसाइटी के नियम तक बदले गये और उनके अर्थों का अनर्थ करते हुए नयी व्याख्या भी की गई। दूसरे दल के सभासदों की संख्या कम करके अपना बहुमत बनाने के लिये जा-बेजा सब कार्यवाही की गई। २८ मई १८९३ को कालेज सोसाइटी का वह अधिवेशन हुआ, जिसके बाद दोनों दल फिर कभी दृढ़ता के साथ एक नहीं होसके। स्कूल

में वह अधिवेशन रखा गया और उसके दरवाजे पर डण्डों वाले स्वयंसेवकों को तैनात किया गया। दूसरे दल के लोग भी 'धर्म पर जान जाती है तो जाने दो' के गीत गाते हुए शक्ति आजमा कर अन्तिम फैसला करने की ही इच्छा से प्रेरित होकर वहां गये। कालेज वालों ने जिसको चाहा, उसको ही भीतर जाने दिया। जब कुछ लोगों ने अन्दर जाने का आग्रह किया तो दरवाजे पर डण्डा चल गया। कुछ लोगों के सिर तक फूट गये। दोनों ओर से पुलिस में रिपोर्टें भी दर्ज़ कराई गईं। दूसरे दिन अधिवेशन में बहुत गरम बहस हुई। भक्तराम जी के कुछ शब्दों पर उनसे माफ़ी मांगने के लिये कहा गया, तो दूसरी ओर से भी माफ़ी मांगने की बात उठाई गई। मुन्शीराम जी यह घोषणा करके अपने सब साथियों के साथ वहां से उठ कर चले आये कि—"तुम हमको इस शानदार मकान से निकाल सकते हो, पर वेद और धर्म हमारे हृदय में से नहीं निकाल सकते।" हंसराज जी सरीखे मितभाषी व्यक्ति ने भी मुन्शीराम जी और दुर्गाप्रसाद जी पर प्रतिनिधि सभा की दृष्टि से आवेश में आकर यहां तक कह दिया—"धिक्कार है प्रधान को और धिक्कार है मन्त्री को।" भक्तराम जी के इन शब्दों पर कि 'यहां सब कार्यवाही धर्मविरुद्ध हो रही है', लाला लाजपतराय जी सरीखे व्यक्ति भी आवेश में आगये और उन्होंने भी हंसराज जी के शब्दों को दोहराया। नेताओं के आवेश का जब यह हाल था, तब

अनुयायियों के आवेश का अनुमान सहज में किया जा सकता है।

इस प्रकार लाहौर आर्यसमाज, प्रतिनिधि-सभा और कालेज तीनों की दृष्टियों से दोनों दल बिलकुल अलग-अलग होगये, किंतु दोनों ही निर्भर करते थे सर्वसाधारण आर्य जनता पर। इसलिये आर्य जनता को अपने पक्ष में करने की कोशिशों से लाहौर में प्रगट हुई गृह-कलह की यह अग्नि समस्त पंजाब में दावानल की तरह फैल गई। सन् १८९३ से १८९७ तक के चार वर्ष इसी महायुद्ध की भेंट हो गये। पंजाब का ऐसा कोई भी समाज नहीं बचा, जिसने इस महायुद्ध में भाग नहीं लिया।

इस महायुद्ध में मुख्य विवादात्मक प्रश्न मांस-भक्षण का बन गया, यद्यपि उस के प्रारम्भिक काल में यह बिलकुल गौण था। ऐसा प्रतीत होता है कि मांस-भक्षण को पहिले व्यक्तिगत कमज़ोरी समझ कर उसकी उपेक्षा की जाती रही। परस्पर मत-भेद होने पर जब एक-दूसरे की आलोचना और छिद्रान्वेषण होने लगा, तब उसका समर्थन वेद, शास्त्र और ऋषि दयानन्द के नाम से होने लगा। उस में भी जब सफलता न मिली, तब आर्यसमाजों में उसके अनुकूल लोकमत बनाने और उसके लिये व्यवस्थायें मांगने की चेष्टा की जाने लगी। दूसरी ओर से यह आवाज़ उठाई गई कि मांस-भक्षण और उसका समर्थन करने वाला आर्यसमाज का सभासद् नहीं रह सकता। कुछ समाजों

ने ऐसे प्रस्ताव भी स्वीकृत किये और उनके अनुसार कठोरता से भी काम लेना शुरू कर दिया। जोधपुर में मांस-भक्षण के सम्बन्ध में किये गये यत्नों को संक्षेप में यहां दे देना आवश्यक है। इस एक उदाहरण से गृह-कलह के पीछे काम करने वाली मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

जोधपुर-राज के प्रबन्धकर्त्ता मेजर-जनरल सर प्रतापसिंह ऋषि दयानन्द के परम भक्त और वैदिक धर्म के अनुयायी होते हुए भी यह मानते थे कि क्षत्रिय-राजपूतों को अपनी वीरता क़ायम रखने के लिये मांस अवश्य खाना चाहिये। लाहौर में मांस का प्रश्न उठते ही सन् १८९३ में साधु प्रकाशानन्द को जोधपुर इसी लिये भेजा गया कि वे वहां से कालेज दल का समर्थन करावें। साधु प्रकाशानन्द ने वहां अच्छा जाल बिछाया और समाचारपत्रों के सम्पादकों तथा उपदेशकों से मांस-भक्षण के पक्ष में व्यवस्थायें दिलवाने की अच्छी लीला रची। मांस-भक्षण के समर्थन के लिये पारितोषिक के रूप में लाहौर के 'भारत-सुधार' को १०० रु० और फिरोज़पुर के 'आर्यगज़ट' को २०० रु० दिलवाये गये। इसी प्रकार कुछ आर्य पंडितों के भी हाथ गरम किये गये। आगरा-कालेज के संस्कृत के हेड पंडित ठाकुरप्रसाद जी ने 'राजस्थान-समाचार' में मांस-भक्षण के सम्बन्ध में लेख लिख कर उसको वेदानुकूल सिद्ध करने का चैलेंज दिया। इसका उनको यह इनाम मिला कि जोधपुर-आर्य-

समाज का उनको हेड पंडित बना दिया गया। बम्बई के स्वामी गटुलाल और स्वामी अचेतानन्द ने भी मांस-भक्षण का समर्थन करके अपना मतलब सीधा किया। जोधपुर-आर्यसमाज में इस आशय के प्रस्ताव भी स्वीकृत किये गये कि "प्रतिष्ठित आर्यसमाजी और सद्गृहस्थों से यह पता चला है कि वेदों में मांस-भक्षण लिखा है और स्वामी जी के ग्रन्थों से विदित हुआ है कि हानिकारक जीवों को मारने की आज्ञा वेदों में है, इसलिये हमारा समाज मांस-भक्षण को पाप नहीं समझता और सब समाजों से निवेदन है कि मांस-भक्षण को पाप मानने वालों के व्याख्यान कराने की आवश्यकता नहीं।" जोधपुर-आर्यसमाज की ओर से मांस-भक्षण के समर्थन में पांच पुस्तिकायें भी निकाली गईं। पंडित लालमणि को मांस-भक्षण का समर्थन करने पर ५० रु० महीने की नौकरी दिलवाने और पं० कालूराम को भी कुछ ऐसी ही आशा दिलवा कर मांस-भक्षण का समर्थन करवाने के लिये लिखे गये साधु प्रकाशानन्द के कुछ पत्र भी पकड़े गये। साधु प्रकाशानन्द का साहस इतना बढ़ा कि उसने मेरठ से पंडित गंगाप्रसाद जी एम० ए० और इलाहाबाद से पंडित भीमसेन जी को निमन्त्रण-पत्र भिजवा कर जोधपुर बुलवा भेजा। पंडित गुरुदत्त जी के बाद पं० गंगाप्रसाद जी की विद्वत्ता की आर्यसमाज में धाक थी। पं० भीमसेन जी ऋषि दयानन्द के शिष्य और इलाहाबाद से निकलने वाले 'आर्य-

सिद्धान्त' के सम्पादक थे। पंडित भीमसेन जी की दृढ़ता पर लोगों को सन्देह था। पंडित लेखराम जी को मांस-विरोधी-दल की ओर से पंडित भीमसेन जी को सम्हालने के लिये भेजा गया। पंडित भीमसेन जी और पंडित गंगाप्रसाद जी २ अगस्त सन् १८९३ को वहां पहुँचे। पंडित गंगाप्रसाद जी ने साधु प्रकाशानन्द के इशारे पर खेलने से साफ़ इनकार कर दिया। पंडित भीमसेन जी ४ अगस्त को महाराज प्रतापसिंह से मिले और दबे शब्दों में कह आये कि वेद में तो मांस-भक्षण का खण्डन है, किन्तु हिंसक पशुओं का वध पाप नहीं, इसलिये उनका मांस खाने में दोष भी नहीं है। बस, साधु प्रकाशानन्द ने इतने ही पर चारों ओर फैला दिया कि पंडित जी ने मांस-भक्षण का समर्थन किया है। पंडित लेखराम जी ने ५ अगस्त को वहां पहुँच कर पंडित भीमसेन जी को आड़े हाथों लिया और उनको दबाया कि वे स्पष्ट ही मांस-भक्षण को दोषयुक्त बतावें। दूसरे दिन पंडित जी जब विदाई लेने गये तो मांस-भक्षण का स्पष्ट खण्डन कर आये। लोगों की यह आम धारणा है कि यदि पंडित भीमसेन जी विदाई के समय वैसा न करते तो उनको एक हज़ार भेंट में मिल जाते, किन्तु उससे आधे ५०० रु० ही मिले। जोधपुर में की गई साधु प्रकाशानन्द की ये सब हरकतें इतनी घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगीं कि लाहौर वालों को भी कहना पड़ा कि हमारा जोधपुर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में लाहौर

या पंजाब पर तो उसका प्रभाव ही क्या पड़ना था ? राजस्थान-प्रतिनिधि-सभा ने बड़े साहस का परिचय दिया। उसने जोधपुर के प्रस्तावों का विरोध किया और साधु प्रकाशानन्द को समाज से अलग कर दिया। अजमेर-आर्यसमाज ने मांस-भक्षण और उसका समर्थन करने वालों को समाज की सभासदी से अलग करने का प्रस्ताव भी स्वीकृत किया।

जोधपुर के यत्न में असफल होने के बाद मांस-भक्षण के समर्थकों ने परोपकारिणी-सभा पर भी हाथ साफ़ किया। आगरा में उसका एक अनियमित अधिवेशन २७ दिसम्बर सन् १८९७ को कर के कर्नल प्रतापसिंह को सभापति उद्घोषित किया और मांस-भक्षण के समर्थन में प्रस्ताव भी स्वीकृत करा लिया।

सन १८९७ तक इसी प्रकार की कार्रवाइयां होती रहीं और स्थान स्थान पर दो समाजें बनाने का भी यत्न होता रहा। मांस-भक्षण के विरोधी समाज प्रतिनिधि-सभा के साथ रहे और दूसरे कालेज के साथ।

(ग) उस का परिणाम

इस गृह-कलह का परिणाम शुभ नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही आर्यसमाज की शक्ति को उस से बहुत बड़ा और गहरा धक्का लगा। उस की प्रतिष्ठा और प्रचार में भी बाधा पहुंची। संयुक्त तथा सुसंगठित आर्यसमाज कुछ और ही शक्ति

होता। पर, स्वनामधन्य लाला लाजपतराय जी का मत यह है कि इससे समाज को लाभ ही हुआ है। उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है कि "वहां हिम्मत, उत्साह और साहस से उन्होंने, दोनों दलों के लोगों ने, समाज की सेवा में वे त्याग किये, जो इतिहास में पूजने योग्य हैं और सदा याद रहेंगे। बूढ़े और युवक, अमीर और ग़रीब सब ने अपनी शक्ति और हैसियत से बढ़ कर काम किया। कालेज की सहायता के लिये सब एक एक महीने की अपनी आमदनी पहले ही दे चुके थे। बहुत से नियमित रूप से मासिक चन्दा भी देते थे, किंतु अब फिर नये सिरे से चन्दे लिये गए और सब ने ख़ुशी-ख़ुशी दिये। महात्मा दल ने वेद-प्रचार-कोष, कन्या-महाविद्यालय और स्थानीय स्कूलों के लिये उसी हौंसले से चन्दे दिये। लोगों को यह सन्देह होने लगा कि कदाचित् दोनों दल अपना चन्दा बढ़ाने के लिये ही लड़ रहे हैं। दल की सेवा में कालेज के उत्साही युवक लाला साईंदास जी के बड़े पुत्र लाला सुन्दरदास जी ने अपनी जान तक खो दी। इसी तरह महात्मा-दल के उत्साही युवक श्री लब्भूराम जी ने अपने को अपने दल की सेवा में बलि चढ़ा दिया। लाला हंसराज और लाला मुन्शीराम ने भी अपने दायित्व को बहुत उत्साह, हिम्मत और सहनशीलता के साथ निभाया और अपने-अपने दल की सेवा में अपने को मिटा दिया।"

पर, मुन्शीराम जी की दृष्टि दूसरी थी। वे इस लाभ से सन्तुष्ट नहीं थे। उन की दृष्टि में इस कलह से आर्यसमाज को हानि ही हानि हुई। सम्वत् १९६६ में आपने 'प्रचारक' में आर्यसमाज को दृढ़ करने के सम्बन्ध में कई लेख लिखे थे। पहिला लेख १४ ज्येष्ठ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था। लेख बहुत विस्तृत है और उस से मुन्शीराम जी के व्यक्तित्व और विचार-शैली का भी अच्छा परिचय मिलता है। लाला लाजपतराय जी के बताये हुए जिन लाभों का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन को पूर्वपक्ष के रूप में देते हुए आप ने उस लेख में लिखा था कि "यदि रुपये ही से सब उद्देश्य पूरे हो सकते हैं तो क्या दोनों दलों की सारी संस्थाओं की जायदाद लाहौर के एक राय रामशरणदास की जायदाद का मुक़ाबला कर सकती है? यदि उपदेशकों की संख्या पर ही वैदिक धर्म की उन्नति निर्भर हो तो क्या छोटे से छोटे पौराणिक साधुओं के अखाड़े के चेलों का भारत के सब आर्योपदेशक मुक़ाबिला कर सकते हैं? यदि घरेलू युद्ध की आरम्भिक तिथि से पहले की अवस्था के साथ उस के बाद की अवस्था की तुलना की जाय तो नफ़े नुक़सान का हाल भली प्रकार विदित हो जायगा। ऐसे आदमियों को अपनी ओर से पिछला चन्दा दाखिल कर के आर्य सभासद् बनाया गया जिन्होंने तीन-तीन चार-चार वर्षों से समाज मन्दिर में पैर नहीं रखा था। अंतरङ्ग-सभा में सम्मतियां विषय

की उत्तमता के विचार से नहीं दी जाती थीं, प्रत्युत पार्टी के हानि-लाभ के विचार से दी जाती थीं। अपनी मतलब-सिद्धि के लिये घृणित से घृणित साधनों का भी प्रयोग होने लग गया था। जो लोग पहिले सोसाइटी के डर से दुराचारों से डरते थे, वे खुल्लमखुल्ला दुराचार करने लग गये। क्या कोई इनकार कर सकता है कि इस झगड़े का असर दोनों दलों के आर्यसामाजिक पुरुषों के आचरणों पर नहीं पड़ा ? उपदेशकों के आचरणों पर भी कोई अंकुश नहीं रहा। मैं आधी दर्जन से अधिक ऐसे दृष्टांत बतला सकता हूं कि जहां प्रतिनिधि-सभा के दुराचार के कारण निकाले हुए उपदेशक मांस-पार्टी ने अंगीकार कर लिये। दूसरी पार्टी वाले ऐसे उपदेशकों के नाम बतला सकेंगे जिनको उधर से निकाले जाने पर घास-पार्टी में शरण मिली। अव्यवस्था का राज्य चारों ओर दिखाई देता है और परस्पर के अविश्वास की कोई सीमा नहीं रही। एक प्रांत की संस्था के विरुद्ध दूसरे प्रांत वाले विना रोक-टोक काम करते हैं। विविध प्रांतों के नेताओं का आपस में ऐसा अविश्वास है कि उस के रहस्य पर से परदा हटाना सहस्रों सरल हृदयों पर ठेस लगाना होगा। कोई गिरा से गिरा हुआ दुराचारी भी देखने में नहीं आता, जिसके पीछे दस-बीस आदमी न लग जांय और वह सारी आर्यसामाजिक संस्थाओं को अंगूठा न दिखा सके।"

मुन्शीराम जी का आशय प्रगट करने के लिये उस विस्तृत लेख

में से ऊपर बीच बीच की कुछ पंक्तियां ही दी गई हैं। दोनों दृष्टिकोण पाठकों के सामने रखने के लिये इतने लम्बे उद्धरण देने आवश्यक समझे गये हैं। दोनों से ठीक ठीक आशय निकालने का काम पाठकों पर ही छोड़ देना उचित प्रतीत होता है।

लाहौर-समाज के बाद प्रायः समस्त पञ्जाब में हर जगह दो दो आर्यसमाज हो गये। समाजों की संख्या की दृष्टि से प्रतिनिधि-सभा का बल अधिक रहा। कालेज तथा स्कूल और उन की सब सम्पत्ति कालेज-दल के हाथ में रही। बच्छोवाली-समाज-मन्दिर, उस के पुस्तकालय तथा रजिस्टर आदि सब कागज़ पत्रों पर और पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा के सब अधिकार तथा रजिस्टर आदि पर महात्मा-दल का एकतन्त्र अधिकार हो गया।

इस गृह-कलह का एक परिणाम यह भी हुआ कि महात्मा-दल ने कालेज के लिये अपील और चन्दा इकट्ठा करना बन्द करके 'वेद-प्रचार' के कोष की स्थापना की। गृह-कलह के पहिले वर्ष सन् १८६२ के लाहौर-आर्यसमाज के सोलहवें उत्सव पर मुन्शीराम जी ने कालेज के लिये ही अपील की, किन्तु शर्त यह थी कि यह रुपया कालेज को केवल वेद की पढ़ाई के लिये ही दिया जाय। उस के बाद सन् १८६३ के सत्रहवें उत्सव से केवल वेद-प्रचार के लिये ही अपील होने लगी। इस प्रकार

प्रतिनिधि-सभा से सर्वथा निराश होकर कालेज-दल ने अपनी पञ्जाब-प्रादेशिक सभा की अलग स्थापना की। श्री मुरलीधर जी इस के पहले प्रधान और श्री ईश्वरदास जी पहले मन्त्री नियुक्त हुए। इस दल की समाजों के वार्षिकोत्सवों पर कालेज के लिये ही अपील होती और महात्मा-दल के समाज वेद-प्रचार के लिये अपील और धन संग्रह करते थे। दोनों का अलग-अलग संगठन हो गया और अलग-अलग काम होने लगा।

(घ) मुन्शीराम जी की स्थिति

यह प्रकरण इस जीवनी में अधूरा ही रहेगा, यदि इस में यह न दिखाया गया कि मुन्शीराम जी की इस गृह-कलह में क्या स्थिति थी? मुन्शीराम जी शुरू से ही दृढ़ सिद्धांतवादी थे। मांस-भक्षण का प्रश्न उन के लिये सिद्धांत और आर्यत्व की रक्षा का प्रश्न था। इसके सम्बन्ध में कोई समझौता करना उनके लिये सम्भव नहीं था। पंडित गुरुदत्त जी पर किए जाने वाले कटाक्ष वे एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए उन पर किये गये कटाक्षों का उन्होंने शुरू में ही इस प्रकार उत्तर दिया, जैसे कि वे उन पर ही किये गये थे। वैसे अपने पर किये जाने वाले आक्षेपों का उत्तर देने वाले भी वे अन्तिम व्यक्ति थे। गालियों की संख्या एक सौ एक तक पहुंचे बिना वे क़लम नहीं उठाते थे। पर, जब क़लम उठती थी तब श्रीकृष्ण के

सुदर्शन का ही काम करती थी। इस लिये यह कहा जा सकता है कि पण्डित गुरुदत्त जी पर किये जाने वाले आक्षेपों में सचाई, न्याय और सभ्यता की इतनी हत्या हो चुकी थी कि मुन्शीराम जी के लिये उनका और अधिक सहन करना सम्भव नहीं था। इतने पर भी मुन्शीराम जी शुरू-शुरू में समझौते के लिये पूर्ण चेष्टा करते रहे। वे उसके लिये ही कई बार लाहौर गये और दोनों ओर के नेताओं के घरों पर भी उन्होंने कितने ही चक्कर लगाये। इस यादव-लीला का भयानक और दुःखद परिणाम उनकी आंखों के सामने था। उन्होंने कुरुक्षेत्र की लड़ाई को टालने का श्रीकृष्ण के समान ही अन्त तक सचाई के साथ पूरा यत्न किया।

सम्वत् १९४६ में गुरुदत्त जी के प्रति भ्रम पैदा करके जब साईंदास जी को उनसे दूर करने की चेष्टा की जा रही थी, तब मुन्शीराम जी केवल इस चेष्टा को विफल बनाने के लिये ही लाहौर गये थे। वहां वह पहले गुरुदत्त जी से मिले और उन पर किये जाने वाले आक्षेपों के सम्बन्ध में उनसे बात-चीत की। फिर साईंदास जी के पास जाकर उनसे कहा—"लाला जी! गुरुदत्त आपके पुत्रवत् हैं। पिता-पुत्र में लोग तो द्वेष फैलाने का यत्न करते हैं। आप क्यों नहीं स्वयं गुरुदत्त से स्पष्ट बातचीत करते?" पण्डित जी से बातचीत कराने के लिये साईंदास जी को अपने साथ उनके मकान पर भी लाये, किन्तु पण्डित जी

घर नहीं थे। मुन्शीराम जी ने लिखा है—"यदि उस दिन पंडित गुरुदत्त घर होते तो शायद आर्यसमाज का इतिहास ही बदल जाता, परन्तु वे बाहर भ्रमण को चले गये थे। मैं जालन्धर चला आया। जब दूसरी बार लाहौर गया तो रोगी गुरुदत्त मित्रों के अनुरोध पर मरी पर्वत चले गये थे।" इस प्रकार मुंशीराम जी के प्रारम्भिक यत्न सफल नहीं हो सके और आर्यसमाज के इतिहास का अगला अध्याय उनकी इच्छा के प्रतिकूल विषैली गृह-कलह की दुःखपूर्ण कहानी के लङ्का-काण्ड में परिणत हो गया।

लाहौर-आर्यसमाज के सोलहवें उत्सव से पहले, जब कि लाहौर में दो आर्यसमाज बनने के सब लक्षण साफ़ दीख पड़ने लगे, तब भी मुन्शीराम जी नवम्बर १८९२ में लाहौर गये और उन्होंने आपस की कलह को टालने का भरसक यत्न किया। कालेज वालों ने सुलह के लिये जो शर्तें पेश कीं उनका आशय यह था कि रविवार के सुबह एक दल की ओर से और शाम को दूसरे दल की ओर से अधिवेशन हुआ करे, सप्ताह के बाक़ी छः दिनों में तीन-तीन दिन बारी-बारी से समाज पर एक-एक दल का अधिकार रहे। पांच वर्ष तक मांस-भक्षण के सम्बन्ध में किसी भी ओर से कोई भाषण न हो और न किसी के विरुद्ध कोई कार्यवाही ही की जाय। लाहौर-आर्यसमाज की कुल जायदाद आधी-आधी बांट ली जाय। मुन्शीराम जी समझा-बुझा कर

मास्टर दुर्गाप्रसाद जी के दल को उक्त शर्तों को मानने के लिये तय्यार करके उनकी ओर से लाला लाजपतराय जी के पास गये। १६ नवम्बर की शाम को डा० परमानन्द के यहां मास्टर दुर्गाप्रसाद जी और ला० लाजपतराय जी का आपस में मिलना तय हुआ। पर, नियत समय पर लाला जी ने वहां न आकर कहला भेजा कि सुलह की बात-चीत न होगी। उसके बाद फिर मुन्शीराम जी लाला जी के घर पर उनसे मिले। पर, लाला जी ने उदासीनता दिखाई और मुन्शीराम जी निराश होकर १७ नवम्बर को जालन्धर लौट आये। लाहौर के दोनों दलों की फूट से दुःखी होकर उत्सव के बाद आपने जालन्धर आकर 'प्रचारक' में लिखा—'दोनों के सम्बन्ध में मैं अपनी क़लम से कुछ नहीं लिखूंगा' और लिखा भी कुछ नहीं। २७ ज्येष्ठ सम्वत् १६५१ में आपने अपने दल के लोगों को, जिसको 'महात्मा-दल' नाम दिया गया, यह सलाह दी कि 'कालेज सोसाइटी में जाने की इच्छा छोड़ दें, वेद-प्रचार-निधि में शक्ति भर चन्दा दें, स्त्री-शिक्षा में अपनी शक्ति लगावें, उपदेशकों का प्रबन्ध करें और जोधपुर के मांस-भक्षण के निर्णय को वाममार्गी निर्णय समझ कर उससे तथा मूलराज-पार्टी, कल्चर्ड पार्टी, से किनारा करके धर्मप्रचार में लग जावें।' इसी सलाह के अनुसार आपने अपने को पारस्परिक विवाद से अलग रख कर रात-दिन धर्म-प्रचार के लिये एक करके अपने दल के सन्मुख एक आदर्श भी उपस्थित किया।

कलह के बाद भी 'प्रचारक' में सुलह के लिये बराबर चर्चा की जाती रही। २९ वैशाख सम्वत् १९५२ के 'प्रचारक' में 'आर्यसमाज में नफ़ाक' शीर्षक से मुन्शीराम जी ने एक लेख लिखा, उसमें बताया कि किस प्रकार घर की फूट मिट सकती है ? आपस की फूट का दुष्परिणाम आप ने बताया कि उससे आपस का प्रेम नष्ट होगया है, समाज की प्रतिष्ठा को गहरी चोट लगी है, धर्मभाव नहीं रहा और एक-दूसरे को दबाने की बराबर चेष्टा की जा रही है। इन दुष्परिणामों का उल्लेख करने के बाद आप ने सुलह के लिये यह प्रस्ताव उपस्थित किये कि (१) मांस-भक्षण की समस्या का हल यह हो सकता है कि उसका प्रचार करना बन्द कर दिया जाय, (२) डी० ए० वी० कालेज का झगड़ा मिट सकता है यदि उसमें प्राचीन संस्कृत की पढ़ाई को स्थान दिया जाय, बोर्डिंग में ब्रह्मचर्याश्रम की पद्धति के अनुसार कार्य हो और मैनेजिंग कमेटी में दोनों दलों का प्रतिनिधित्व बराबर-बराबर हो, (३) प्रतिनिधि-सभा को रजिस्टर करा दिया जाय और तहरीरी और तक़रीरी प्रचार का योग्य प्रबन्ध किया जाय, (४) पिछली सब बातों को भुला कर परस्पर प्रेम किया जाय, (५) स्त्री-शिक्षा में भी बराबर हाथ बंटाया जाय और (६) अधिकार की लालसा को तिलांजलि दे दी जाय।

यह सचमुच बड़े दुःख का विषय है कि मुन्शीराम जी के इन सब यत्नों के बाद भी गृह-कलह शान्त नहीं हुआ और

उस का अवश्यम्भावी परिणाम समस्त आर्यसमाज-को भोगना पड़ा।

मुन्शीराम जी ने गृह-कलह के इस विषैले वातावरण में बड़ी शान्ति, सहनशीलता और संयम का परिचय दिया। अपने पर होने वाले व्यक्तिगत कटाक्षों का कभी जवाब नहीं दिया। अन्य भी कटाक्ष-पूर्ण लेखों को 'प्रचारक' में यथासम्भव कभी स्थान नहीं दिया। आपकी अनुपस्थिति में यदि कभी ऐसे लेख निकल भी गये, तो उनके लिये खेद प्रगट किया और भविष्य में सावधानी से काम लिया। सैद्धांतिक दृष्टि से मांस-भक्षण और शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में 'प्रचारक' में बहुत अधिक चर्चा हुई, किंतु इस चर्चा में भी कभी अन्याय, असभ्यता अथवा पक्षपात से काम नहीं लिया। दूसरे पक्ष के प्रति किये गये समान व्यवहार को दिखाने के लिये एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। हंसराज जी के बड़े भाई मुलखराज जी ने गोरखपुर-आर्यसमाज के मन्त्री ऊधोदास जी को आगे करके उनके ही नाम से मुन्शीराम जी को यह सिद्ध करने के लिये चैलेंज दिया कि ऋषि दयानन्द मांसाहार के विरोधी थे और एक आर्य मांसाहार करने से आर्यत्व से च्युत हो जाता है ? मुन्शीराम जी ने चैलेंज स्वीकार करते हुए उनको लिखा कि आप पन्द्रह दिन में अपना सब वक्तव्य लिख भेजें या आठ सप्ताह तक बराबर दो-दो पृष्ठ लेते चले जायें। आप का वक्तव्य समाप्त होने के बाद ही

मैं लिखना शुरू करूंगा। अथवा, आप एक ट्रैक्ट लिखें और मैं भी जवाब में उतने ही पृष्ठ का ट्रैक्ट लिखूंगा। दोनों की एक साथ एक हज़ार प्रतियां छपवा कर छः सौ समाजों में बांटी जायें और दो-दो सौ लेखक अपनी इच्छानुसार बांट लें। या, दोनों अपना-अपना ट्रैक्ट लिख कर छपवायें, उसको चाहे मुफ़्त बटवायें, या क़ीमत पर बेचें। इसमें पृष्ठों की क़ैद नहीं रहेगी। मुलखराज जी ने पहिली बात स्वीकार की और मांस-भक्षण के समर्थन में 'प्रचारक' में उनके सत्रह पत्र छपे। उनके बाद मुन्शीराम जी ने उनके खण्डन में लिखा। मुन्शीराम जी की सम्पादकीय उदारता, सज्जनता और समता को दर्शाने के लिये यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिये। सैद्धांतिक दृष्टि से मांस-भक्षण के आंदोलन में लेखनी और वाणी से पूरा भाग लेते हुए भी मुन्शीराम जी का इस सम्बन्ध में आदर्श यह था कि 'मांस-भक्षण के आंदोलन से भय नहीं करना चाहिए। धर्मानुसार आचरण करने वाले के आचरण का प्रभाव सदा ही अधिक रहता है।' धर्मानुकूल आचरण करने वाला ही आप की दृष्टि में 'आर्य' था और आर्य सभासद वह था, जो आर्य सिद्धांतों के अनुसार आचरण करना स्वीकार करे और उसके लिये सचाई के साथ यत्न भी करे। आर्यसमाज को आप हस्पताल से उपमा देते हुए कहा करते थे कि इससे वही लाभ उठा सकता है जो इसके उपचार पर विश्वास रखता है और इसकी उप-

योगिता को स्वीकार करता है। इस लिये आप की दृष्टि में मांस-भक्षण को उचित मानने वाला आर्य-सभासद् नहीं रह सकता था।

मुन्शीराम जी की इस स्थिति को देखते हुए उनको इस महायुद्ध का 'योद्धा' अथवा 'कर्णधार' नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी समझा यह जाता है कि वे 'योद्धा' ही नहीं किन्तु 'कर्णधार' भी थे। असलियत यह है कि वे वीर, साहसी, सत्य-प्रेमी, सिद्धान्तवादी, निर्भीक आन्दोलक और दृढ़ आर्य थे। इन गुणों ने ही उनको महात्मा-दल का नेता बना दिया और इस नेतृत्व के दायित्व को उन्होंने बड़ी हिम्मत, पुरुषार्थ तथा सहनशीलता के साथ पूरा किया। इस कर्तव्यपरायणता का ही यह परिणाम हुआ कि मुन्शीराम जी सिद्धान्तवादी दल के अप्रतिद्वन्द्वी नेता सहज में बन गये।

बाद में भी मुन्शीराम जी ने इस गृह-कलह से पैदा हुए दो दलों को एक करने का कई बार यत्न किया था। सम्वत् १९६६ में 'प्रचारक' में इसी दृष्टि से एक ज़ोरदार लेखमाला इस शीर्षक से शुरू की थी कि 'यदि उठती हुई इस आंधी से बचना है तो आर्यसमाज की संस्था को दृढ़ करो।' पर, विघ्न-सन्तोषी और दो दल बने ही रहने में स्वार्थ-साधन करने वालों ने इस लेखमाला का भी विपरीत ही अर्थ लगाया। फिर संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद सन् १९२५ के जुलाई-अगस्त के

महीनों में आपने प्रायः समस्त पञ्जाब का दौरा इसी निमित्त से किया था। कोई चौदह-पन्द्रह स्थानों पर आप स्वयं गये थे और देहली से निकलने वाले साप्ताहिक 'अर्जुन' में 'आर्यसमाज का संगठन' शीर्षक से एक लेखमाला भी इसी तात्पर्य से लिखी थी। इन सब यत्नों से यह स्पष्ट है कि इस गृह-कलह से आर्यसमाज की क्षीण हुई शक्ति का सन्ताप उनको आजीवन बना रहा। सन् १९०७ में सूरत में जब कांग्रेस में दो दल हुए थे तब भी आपने कांग्रेस वालों का ध्यान आर्यसमाज की इस गृह-कलह की ओर आकर्षित कर उन से ज़ोरदार अपील की थी कि वे आर्यसमाज की तरह कांग्रेस की दुर्दशा न करें और आर्यसमाज की फूट के इतिहास से कुछ तो शिक्षा ग्रहण करें।

इस गृह-कलह का सब से भद्दा और गन्दा रूप यह था कि स्त्री-शिक्षा के विषय को भी विवाद का विषय बना दिया गया था और जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय पर भी तरह-तरह के आक्षेप किये जाकर उसके विरोध में भी बहुत-से लेख लिखे गये थे। लाला लाजपतराय जी सरीखे व्यक्ति ने भी इस प्रवाह में बह कर कन्या-महाविद्यालय के विरोध में अपनी लेखनी उठाई थी। 'प्रचारक' द्वारा मुन्शीरामजी और देवराज जी ने इस विरोध का अच्छा सामना किया था। २४ आषाढ़ सम्वत् १९५१ से 'प्रचारक' के चार पृष्ठ केवल स्त्रियों की सेवा के लिये अलग कर दिये गये थे, जिनका सम्पादन देवराज जी करते थे।

स्वर्गीय लाजपतराय जी ने अपनी जीवनी में इस कलह के सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि "राय मूलराज को महात्मा-दल के और राय पेड़ाराम को कालेज-दल के लोग सरकार का भेदिया अथवा दूत समझते तथा कहते भी थे। लोगों का विचार था कि ये दोनों सज्जन सरकार के संकेत पर समाज में फूट डाल कर उसकी शक्ति को बिगाड़ रहे हैं।" लाला जी ने इसका न तो खण्डन ही किया है और न मण्डन ही। आर्यसमाज के उस समय के वर्तमान नेताओं में से किसी को अथवा आर्यसमाज के इतिहास की खोज करने वाले किसी व्यक्ति को इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालना चाहिये। आश्चर्य नहीं कि सदा ही भेद-नीति से काम लेने वाली सरकार का भी हाथ आर्यसमाज की उठती हुई शक्ति को दबाने में रहा हो और इस भेद-नीति में विफल होने के बाद ही सन् १९०६-७ में दमन-नीति से काम लिया गया हो।

७. आर्य-पथिक का बलिदान और उसका क्षणिक प्रभाव

६ मार्च सन् १८९७ को आर्य-पथिक पण्डित लेखराम जी के साथ, शुद्ध होने के बहाने से आये हुए, एक मुसलमान ने विश्वासघात किया और उन के पेट में छुरा भोंक कर उन की

हत्या कर दी। इस बलिदान का लाहौर की हिन्दू-जनता पर कुछ ऐसा असर हुआ कि हिन्दू और आर्य, सनातन और वैदिक का सब भेद-भाव भुला कर हिन्दू, जैनी, ब्राह्म और सिख सभी नगर निवासी उनकी अर्थी के साथ श्मशान भूमि तक गये। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज के दोनों दल अलग-अलग कैसे रह सकते थे? ता० ७ मार्च को श्मशान भूमि में चिता पर रखे हुए वीर लेखराम जी के शव को साक्षी रख कर दोनों ने एक होने का निश्चय किया। मुंशीराम जी अकस्मात् ही ता० ६ मार्च की शाम को लाहौर गये थे और स्टेशन पर ही दुर्घटना का समाचार सुन वहां से सीधे आर्य-पथिक के घर गये। पंडित लेखराम जी की मुन्शीराम जी के साथ वैसी ही अन्तरंग प्रीति और श्रद्धा थी, जसी कि पंडित गुरुदत्त जी की उन के साथ थी। मुन्शीराम जी ने सम्वत् १९७१, सन् १९१४, में 'आर्यपथिक लेखराम' के नाम से उनकी जो जीवनी लिखी है, उससे दोनों के इस आत्मीय सम्बन्ध का पूरा पता लगता है। श्मशान भूमि में मुन्शीराम जी ने बहुत ही ओजस्वी, मार्मिक और हृदयवेधी वक्तृता देते हुए दोनों दलों से एक होने की अपील की। परिणाम यह हुआ कि हत्या के बाद के पहले ही रविवार को आर्यसमाज-बच्छोवाली में दोनों दलों का संयुक्त अधिवेशन पांच बरस बाद हंसराज जी के सभापतित्व में हुआ। लाला लाजपतराय जी के मकान पर सुलह का रास्ता

तय किया गया। निश्चय हुआ कि "मांस-भक्षण का प्रचार न किया जाय। हंसराज जी लाहौर के समाज के पहले के समान प्रधान हों। दोनों पक्ष मिलकर आर्यपथिक के हत्यारे का पता लगावें। इस काम के लिये बनाई गई कमेटी का मन्त्री लाला जी को बनाया गया। एक पक्ष के आठ व्यक्ति जिस काम का लिखित विरोध करें और कालेज तथा प्रतिनिधि-सभा के जिस काम का एक पक्ष के पांच व्यक्ति विरोध करें, उसको नहीं किया जाय। वेदप्रचार-निधि और कालेज-फण्ड को बराबर का महत्व दिया जाय, दोनों के लिए एक साथ अपील की जाया करे।"

श्मशान भूमि में की गई यह सुलह श्मशान-वैराग्य ही साबित हुई। ऊपर से सुलह हो जाने पर भी भीतर के दिल साफ़ नहीं हुए थे। उन में सन्देह, अविश्वास और मनोमालिन्य बराबर बना हुआ था। इस सुलह के बाद भी यह भय बना हुआ था कि कहीं कोई एक दूसरे को हड़प न जाय और कुचल न डाले। १६ फाल्गुन सम्वत् १६५४ को एक करनाल-निवासी और २३ फाल्गुन को एक जानकार के इस सुलह के टूटने के सम्बन्ध में बहुत विस्तार के साथ लिखे हुए दो लेख 'प्रचारक' में प्रकाशित हुए थे, जिन में उस के कारणों पर विशेष प्रकाश डाला गया था। उन लेखों से यही पता लगता है कि मनों के भीतर का मैल दूर नहीं हुआ था। लाहौर-समाज का प्रधान-पद हंसराज जी को सौंप देने पर भी कालेज वालों ने अपनी

प्रादेशिक-सभा भंग नहीं की थी, अपना पुस्तकालय तथा काग़ज़ पत्र आदि सब अलग ही रखे हुए थे। लेखराम-मेमोरियल-फ़राड के काम में उन्होंने सहायता तो क्या करनी थी, उस में विघ्न उपस्थित किए। परोपकारिणी सभा से प्रतिनिधि सभा ने 'सत्यार्थप्रकाश' के उर्दू में अनुवाद करने का जो एकाधिकार प्राप्त किया था उसको रद्द करवाया गया और उस के छपवाने में भी बाधा पैदा की गई थी। प्रतिनिधि-सभा की ओर से छपने वाली ऋषि दयानन्द की जीवनी के सम्बन्ध में भ्रम फैलाया था। अन्तरंग सभा की स्वीकृति मिल जाने पर भी मन्दिर की रजिस्ट्री प्रतिनिधि-सभा के नाम नहीं होने दी थी, कालेज़ की मैनेजिंग कमेटी में महात्मा-दल वालों को नहीं लिया था और एक रिक्त स्थान के लिये मुन्शीराम जी का नाम पेश किये जाने पर भी उस का समर्थन नहीं किया था और 'आर्य मैसेञ्जर' तथा 'आर्य-गज़ट' में प्रतिनिधि-सभा को बदनाम किया जाता था। ऐसे बहुत से आरोप कालेज-दल पर लगाये गए थे और ऐसी ही कुछ शिकायतें भी उनके प्रति की गई थीं। परिणाम यह हुआ कि सुलह टूट गई। कुछ समय के लिए फिर पारस्परिक विरोध, आक्षेप, आलोचना आदि का बाज़ार गरम हो गया। अनारकली और बच्छोवाली में एक-दूसरे के विरुद्ध व्याख्यान होने लगे। समाचार-पत्रों में गंदगी भरे हुए असभ्य तथा अश्लील लेख निकलने लगे। आर्यपथिक के बलिदान

से पहले दोनों दलों की जो स्थिति थी वह स्थिर हो गई। दोनों सुलह की आशा छोड़ सदा के लिए एक दूसरे से अलग हो अपने अपने काम में लग गए।

८. प्रतिनिधि-सभा के प्रधान पद का दायित्व

आर्यसमाज के लिये सन् १८९२ की संकटापन्न स्थिति और उसी समय पैदा हुए लड़ाई झगड़ों की ओर संकेत करते हुए मुन्शीराम जी ने लिखा है—"पञ्जाब के समस्त आर्य-समाजों की प्रतिनिधि-सभा का वार्षिक चुनाव था, जिस में मुझे उक्त सभा का प्रधान बनाया गया। उस समय से मेरा जीवन निजी नहीं रहा। वह सार्वजनिक जीवन हो गया।" वैसे तो उस समय के बाद से मृत्यु-पर्यन्त उन का ज़ीवन सार्वजनिक ही रहा और आयु के साथ-साथ वह उत्तरोत्तर अधिक ही अधिक सार्वजनिक होता चला गया, किन्तु इस सार्वजनिक जीवन की अवधि नौ वर्ष की थी और ये नौ वर्ष पूरी तरह आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत हुए थे। वकालत भी साथ साथ चलती थी, किन्तु वकालत के लिए आर्यसमाज की सेवा कीं कभी भी उपेक्षा नहीं की गई। आर्यसमाज के लिए वकालत की उपेक्षा अवश्य होती रहती थी और अन्त में ऐसी उपेक्षा हुई कि अदालत में जाना बिलकुल बन्द हो गया।

सङ्गठन आर्यसमाज का जीवन है और प्रचार है उस जीवन का भोजन। प्रजासत्तात्मक प्रतिनिधि-शासन के सब सद्गुण आर्यसमाज के संगठन में विद्यमान हैं। प्रत्येक आर्य सभासद् उस संगठन की इकाई है और भूमण्डल के समस्त आर्यों को एक माला में पिरोना उसका आदर्श है। उस समय तक स्थानीय आर्यसमाजों के बाद केवल प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभाओं का ही संगठन हुआ था। प्रांत के आर्यसमाजियों के पास प्रांत की आर्य-प्रतिनिधि-सभा का प्रधान पद ही सबसे ऊँचा पद था, जिसे किसी विश्वासपात्र और कर्तव्यपरायण आर्य को सौंप कर उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति का परिचय देते हुए वे उसकी प्रतिष्ठा कर सकते थे। सन् १८६२ की सङ्कटापन्न स्थिति में मुन्शीराम जी को पञ्जाब के आर्य पुरुषों ने यह प्रतिष्ठा का पद देकर आपका गौरव किया था। ऐसे गौरव की रक्षा करने और अपने प्रति प्रगट किये गये जनता के विश्वास में पूरा उतरने के लिये सचाई के साथ यत्न करना शुरू से ही आपका कुछ स्वभाव-सा हो गया था। अपने को जालन्धर-समाज के प्रधान-पद के योग्य बनाने का जिस प्रकार आपने यत्न किया था, उसी प्रकार अब आप अपने ऊपर आई हुई प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद की जिम्मेवारी को निभाने में लग गये। प्रतिनिधि सभा का आज जो संगठित रूप दीख पड़ता है, उसको बनाने में मुन्शीराम जी का बहुत अधिक हिस्सा है। सब से पहिला काम आपने यह किया कि प्रतिनिधि-सभा की

आधीनता में 'वेदप्रचार-निधि' की स्थापना की। लाहौर-आर्य-समाज के सम्वत् १६५१ (सन् १८६३) के सत्रहवें उत्सव से प्रत्येक उत्सव पर 'वेदप्रचार' के लिये अपील होने लगी। प्रतिनिधि-सभा से सम्बद्ध समाज भी अपने उत्सवों पर वेदप्रचार के लिये अपील और चन्दा इकट्ठा करने लगे। सत्रहवें उत्सव की वेदप्रचार के लिये की गई पहिली अपील पर दो हजार से अधिक चन्दा इकट्ठा हुआ। लाहौर-आर्यसमाज के उत्सव पर तो मुन्शीराम जी अपील करते ही थे, प्रान्त के मुख्य-मुख्य समाजों के उत्सवों पर भी आपको जाना पड़ता था और वेद-प्रचार के लिये अपील करने का काम आपके ही सुपुर्द किया जाता था। पहिली अपील में उक्त निधि द्वारा किये जाने वाले मुख्य कार्य ये बताये गये थे—'उपदेशक रखना, पुस्तक-प्रकाशन, उप-देशक तय्यार करना, पुस्तकालय की स्थापना और लाहौर में विद्यार्थी-आश्रम खोलना।' उपदेशक रख कर वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार का कार्य विशेष रूप में संगठित ढंग से होने लगा। पहिले ही वर्ष में प्रतिनिधि-सभा के आधीन सात उपदेशक काम करने लगे। 'आर्य-पत्रिका' को भी प्रतिनिधि सभा का पत्र बना दिया गया। वह सभा की आधीनता में प्रकाशित होने लगा। लाहौर-आर्यसमाज के १८६३ के उत्सव पर होने वाले प्रतिनिधि-सभा के वार्षिक अधिवेशन में फिर भी मुन्शीराम जी ही प्रधान निर्वा-चित हुए। उस अधिवेशन में प्रचार के कार्य को और अधिक

व्यवस्थित किया गया। प्रचार के लिये पृथक्-पृथक् विभाग बना दिये गये और प्रत्येक विभाग के अधिष्ठाता भी नियत कर दिये गये। सोलह उपदेशकों की नियुक्ति करने का निश्चय किया गया। २४ दिसम्बर १८९५ को प्रतिनिधि सभा की रजिस्ट्री भी हो गई। इस प्रकार सभा को सुसंगठित करके प्रचार का भी उचित प्रबन्ध कर दिया गया। सम्वत् १९५३, सन् १८९६, के 'प्रचारक' के नये वर्ष के पहिले अंक में पिछले चार वर्षों के प्रतिनिधि-सभा के कार्य पर एक दृष्टि डाली गई है। उस में बताया गया है कि पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा के अनुकरण में दूसरे प्रांतों की प्रतिनिधि-सभाओं की ओर से भी 'वेदप्रचार-निधि' की स्थापना की गई। पञ्जाब में इन चार वर्षों में वेदप्रचार-निधि में दस हजार रुपया ख़र्च हुआ और उपदेशकों ने चार हजार स्थानों पर प्रचार किया। इस कार्य का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देवासुर-संग्राम में प्रतिनिधि-सभा को विजय प्राप्त हुई। प्रान्त के अधिकांश समाजों की सहानुभूति सभा के साथ रही और उन्होंने उसके साथ मिल कर अथवा उसकी आधीनता में रह कार्य करना स्वीकार किया। पंजाब के बाहर नैपाल, हैदराबाद और मद्रास तक से उपदेशकों की मांग आने लगी। मुन्शीराम जी को पंजाब के बाहर भी धर्मोपदेशों और व्याख्यानों के लिये जाने को बाधित होना पड़ा।

आर्यसमाज में प्रवेश करने के समय मुन्शीराम जी ने कहा था कि 'भाड़े के टट्टुओं से धर्म-प्रचार नहीं हो सकता' और 'प्रचारक' में भी वे स्वेच्छा-भाव से अवैतनिक रूप में प्रचार का कार्य करने के लिये आर्य भाइयों से प्रायः अपील किया करते थे। वैसे जालन्धर-आर्यसमाज की ओर से प्रचार-कार्य में अपने को लगा कर उन्होंने इस सचाई का परिचय भी दिया था, किन्तु अब बड़े पैमाने पर उस सचाई की परीक्षा का अवसर उपस्थित हुआ। मुन्शीराम जी उसी लगन और धुन के साथ प्रचार के विस्तृत क्षेत्र में कूद पड़े, जिसके साथ वे आज तक अपने प्रदेश दुआबा में लगे हुए थे। अहोरात्र उनको समाज की ही चिन्ता रहने लगी। तीस दिन में बीस-बीस दिन और कभी तीस के तीस ही दिन धर्म-प्रचार के लिये समाजों में लगने वाले दौरों के अर्पण होने लगे। बचा हुआ समय 'प्रचारक' के सम्पादन और आर्य पुरुषों के साथ आर्यसमाज-सम्बन्धी होने वाले पत्र-व्यवहार में लगने लगा। इन दौरों में आपके मुख्य साथी पण्डित लेखराम जी होते थे। उनको भी प्रचार की धुन थी और वे लाहौर से राजपूताना, राजपूताना से पेशावर, पेशावर से कलकत्ता, कलकत्ता से हरिद्वार तक की लम्बी दौड़ लगाया करते थे। इसी से आर्य जनता उनको उनके नाम की अपेक्षा 'आर्यमुसाफ़िर' अथवा 'आर्यपथिक' के नाम से अधिक जानती है। मुन्शीराम जी के इन दौरों का यह क्रम संन्यास-

आश्रम में प्रवेश करने के बाद भी जारी रहा। इस प्रसंग में सन् १८६१ तक के दौरों की ओर ही संकेत करना अभीष्ट है। मुन्शीराम जी इन दौरों को 'धर्म-यात्रा' कहा करते थे और इन यात्राओं में केवल व्याख्यान ही नहीं देते थे, अपितु पूरे अर्थों में प्रचार का कार्य किया करते थे। सन् १८८४ की कोटा की धर्मयात्रा की 'प्रचारक' में जो रिपोर्ट दी गई है, उससे पता चलता है कि इन यात्राओं में आप आर्यसमाजों की स्थिति का बहुत गहरा अध्ययन करते थे, अधिवेशनों की कार्यवाही की पूरी छानबीन कर उनकी कमियों को दूर करते थे, आर्य पुरुषों को व्यक्तिगत जीवन के सुधार तथा सामुदायिक जीवन की उन्नति के लिये परामर्श दिया करते थे। उनको अपनी कमज़ोरियों को दूर करने के उपाय बताते थे, वैदिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पैदा होने वाली शङ्काओं का समाधान करते थे और सार्वजनिक संस्थाओं का समालोचनात्मक वर्णन करते हुए सामाजिक बुराइयों की चर्चा विशेष रूप में करते थे। इसी वर्ष गर्मी की छुट्टियों में ३१ अगस्त को मुन्शीराम जी जालन्धर से लाहौर जाते हैं। वहां दो दिन प्रतिनिधि-सभा का काम करते हैं। ३ सितम्बर को सियालकोट में व्याख्यान देते हैं। ४ को लाहौर आ जाते हैं। ५ को लुधियाना, ६ को फ़िलौर, ७ को अम्बाला छावनी, ८ को अम्बाला शहर, ६ को करनाल-पानीपत और १० को देहली में व्याख्यान देते हैं। उसके बाद अगले वर्ष की

मुहर्रम की छुट्टियों में फिर दौरे पर जाते हैं। २२ जून को जालन्धर से चल कर २३ को वज़ीराबाद, २६ को गुजरात, २७ को गुजरांवाला, २८ को रावलपिण्डी, ३० को खुशहालगढ़, १ जुलाई को कोहाट, २ को बन्नू, ६ को डेराइस्माइलखां और ९ को मुलतान में व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आते हैं। सन १८९६ में राजपूताना की धर्म-यात्रा की, जिसमें अजमेर और शाहपुरा आदि में व्याख्यान दिये। शाहपुराधीश से भी मुलाकात की। इस दौरे का एक उद्देश्य परोपकारिणी सभा को जगाना भी था, जिसके लिये 'प्रचारक' में भी निरन्तर आन्दोलन किया जा रहा था। सन १८९८-९९ की उस महत्वपूर्ण धर्म-यात्रा का वर्णन आगे दिया जायगा, जो गुरुकुल की स्थापना के लिए तीस हज़ार रुपया इकट्ठा करने के संकल्प से की गई थी। इन धर्मयात्राओं में होने वाले धर्म-प्रचार के अलावा पञ्जाब प्रांत और बाहिर के कुछ समाजों के उत्सवों पर भी आप को जाना पड़ता था। आर्यपथिक पंडित लेखराम जी ने मृत्युशय्या पर पड़े हुए अन्तिम शब्द ये कहे थे कि "आर्यसमाज में लेख का काम बन्द नहीं होना चाहिये।" मुन्शीराम जी ने इन शब्दों को सुना था और उन के सन्देश को पूरा करने के लिए अपने पास से पैसा लगा कर उनके और अपने लिखे हुये कुछ ग्रन्थों को छपवाया भी था। अक्तूबर सन १८९८ में 'आर्यमुसाफ़िर' के नाम से उर्दू का पत्र अलग ही निकालना

शुरू कर दिया था। आप ही उस के सम्पादक थे और श्री वज़ीरचन्द्र जी विद्यार्थी सहायक-सम्पादक।

इस प्रकार वाणी और लेखनी द्वारा अहोरात्र निरन्तर प्रचार का कार्य करते रहने का अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि शरीर गिरने लगा। बीमारी ने उसको अपना घर बना लिया। सन् १८९६ में आपको उन्निद्र-रोग हो गया। सोलह दिन तक बिल्कुल नींद नहीं आई। पर्वत पर जाकर कुछ विश्राम किया तो शरीर सम्हला, किन्तु प्रचार द्वारा उस पर होने वाला अत्याचार तो निरन्तर ही जारी रहा। उससे उसको कभी छुट्टी नहीं मिली।

इन दिनों 'प्रचारक' द्वारा किये जाने वाले प्रचार के सम्बन्ध में यहां कुछ लिखना इस लिये आवश्यक है, क्योंकि उससे पता चलता है कि मुंशीरामजी ने 'प्रचारक' के अपना होते हुए भी उसे सभा का ही मुख-पत्र बना दिया था। सन् १८९६ में 'प्रचारक' के वर्षारम्भ के मुख्य लेख में आपने लिखा था कि "समाचार-पत्र हर एक धनी पुरुष छाप सकता और चला सकता है, किन्तु जनता का प्रेम-पात्र होना उसके लिये सुगम नहीं है। इस पत्र का सम्बन्ध आर्यसमाज के आन्दोलन के साथ है, इस लिये उसकी उन्नति में इसकी उन्नति, उसकी कमज़ोरी में इसकी कमज़ोरी, उसकी बीमारी में इसकी बीमारी और उसकी सेहत में इसकी सेहत है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि मुंशीरामजी ने अपने ही समान अपने पत्र को भी आर्यसमाज के प्रचार के साथ

तन्मय कर दिया था । आर्य पुरुषों से वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने की विशेष ज़ोरदार अपीलों के साथ-साथ 'प्रचारक' में उनकी व्यक्तिगत कमज़ोरियों की कड़ी से कड़ी आलोचना की जाती थी । अपने पिता की मृत्यु पर डा० परमानन्द के दाढ़ी-मूंछ मुंडवाने का सख्त प्रतिवाद किया गया। कच्ची-पक्की का झगड़ा मिटा कर जात-पांत के दायरे को तोड़ने का आर्य-पुरुषों से आग्रह किया गया। आर्य बिरादरी के निर्माण की आवश्यकता बताते हुए विवाहों की समस्या हल करने के लिये रजिस्टर खोलने का प्रस्ताव किया गया । स्त्री-शिक्षा के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा बाल-विवाह को दूर करने पर ज़ोर दिया गया। विवाह आदि के खर्चे घटाने और विधवाओं के वैधव्य-दुःख की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया । जात-बिरादरी की पंचायतों और घर की स्त्रियों के भय के नाम से मृतक-श्राद्ध आदि अवैदिक प्रथाओं में फंसे हुए आर्यसमाजियों से कहा गया कि आर्यसमाज और बुज़दिली का कोई जोड़ नहीं है। आर्यसमाजियों को बताया गया कि सिद्धान्त तो निर्जीव हैं, उनमें प्राण-प्रतिष्ठा तो तब ही होगी, जब कि आर्य पुरुष उनके अनुकूल आचरण करेंगे। आर्यसमाज के उत्सव और उसका संगठन केवल पैसा जमा करने के लिये नहीं हैं। वे आर्यसमाजियों के जीवन को उन्नत बनाने के साधन हैं। प्रत्येक आर्य सभासद को वर्ष में एक नया आर्य सभासद बना कर अपनी बिरादरी को

बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। समाज का मुख्य कार्य खण्डन नहीं, मण्डन है। खण्डन उद्देश्य नहीं, केवल साधन है। उपदेशकों को चाहिये कि खण्डन की अपेक्षा अपनी सचाई पर अधिक प्रकाश डाला करें। 'प्रचारक' द्वारा किये जाने वाले ऐसे प्रचार से यह स्पष्ट है कि मुंशीरामजी ने अपनी शक्ति, साधन तथा समय का सदुपयोग उन दिनों समाज के मण्डनात्मक अथवा रचनात्मक कार्य के लिये ही किया था और इस प्रकार प्रधान-पद के गौरवपूर्ण दायित्व को सचाई तथा ईमानदारी के साथ निभाया था। सबसे बड़ी और प्रशंसनीय बात यह थी कि प्रतिनिधि-सभा के प्रधान की हैसियत से उसका वर्षों तक इस प्रकार कार्य करते हुए भी आपने अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य अथवा धर्मयात्रा का ख़र्च सभा से कभी नहीं लिया। इससे पहिले भी समाज पर अपना किसी तरह का कोई ख़र्च नहीं डाला। 'आर्य-पत्रिका' ने प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये आने वाले सभासदों को प्रतिनिधि-सभा से मार्ग-व्यय देने का जब प्रश्न उठाया, तब 'प्रचारक' ने उसका विरोध किया। सन् १८९४ या ९५ में आपको आर्यसमाज की ओर से विदेशों में प्रचार के लिये भेजने का प्रस्ताव 'आर्य पत्रिका' ने किया। उसके लिये विशेष चन्दा भी इकट्ठा होना शुरू हो गया। पर, आपने स्पष्ट ही लिख दिया कि मुझ में इतनी योग्यता नहीं, मेरे पास समय भी नहीं और अभी अपने ही देश में कार्य पूरा नहीं हुआ है।

उस के बाद भी यह प्रश्न उठा, किन्तु आप सदा उस से उदासीन रहे।

प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद के दायित्व को इस कर्त्तव्य-परायणता के साथ पूरा करने का ही यह परिणाम था कि सन् १८९२ से चार वर्षों तक बराबर आप ही उस के प्रधान निर्वाचित होते रहे और आर्य-पथिक की हत्या के बाद जब समाज के लिए असाधारण संकट का समय आया तब फिर आप को ही प्रधान चुना गया। स्वास्थ्य और अन्य कारणों से आप बीच-बीच में इस पद से अलग होते रहे, किन्तु इन आठ-नौ वर्षों में लगभग सात-आठ बार आप ही उस के प्रधान निर्वाचित हुए। प्रतिनिधि-सभा के वर्तमान रूप का ढांचा आप का ही तय्यार किया हुआ है और उस में प्राण-प्रतिष्ठा भी आपके द्वारा ही की गई थी।

८. पण्डित गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ और मुक़दमा

कालेज-दल के लोगों ने अपनी सब शक्ति और समय कालेज को ही उन्नत बनाने में लगा दिया। प्रचार का सब काम महात्मा-दल पर आ पड़ा। मत-मतान्तरों और अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा तथा खण्डन का सब काम भी उस को

ही करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि विरोधियों के सब आक्रमण उस पर ही होने लगे। इसलिये दूसरों की दृष्टि में महात्मा-दल का अप्रिय होना स्वाभाविक था। कालेज-दल वाले दूसरों की दृष्टि में अप्रिय होने के इस कठिन मार्ग से यथा-सम्भव बचने की भी चेष्टा करते थे। संघर्ष के सब अवसरों को वे यत्नपूर्वक टालते थे। सिखों का प्रेम सम्पादन करने के लिये 'सत्यार्थप्रकाश' में से सिखों को चिड़ाने वाले प्रकरण को निकाल देने का प्रस्ताव भी एक बार उनकी ओर से किया गया था। डी० ए० वी० स्कूल अथवा कालेज द्वारा शिक्षा के उस क्रम में विरोध अथवा संघर्ष का अवसर हो कहां था, जिसमें न तो संस्कृत की शिक्षा ही अनिवार्य थी और न खान-पान तथा आचार-विचार का ही ऐसा कोई प्रतिबन्ध था। कालेज वालों ने पानी की बहती हुई धारा के साथ बहना शुरू किया। उलटी दिशा में तैरने का यत्न करने वाले महात्मा-दल को पुराण-मत-वादी हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, थियोसोफिस्टों, देव-समाजियों आदि सभी के साथ लोहा लेना पड़ा। कुछ स्वार्थ-साधकों ने संघर्ष और विवाद के ऐसे अवसर से खूब लाभ उठाया। सनातनधर्मावलम्बी जनता की मूढ़-भावना और अन्ध-श्रद्धा को धन पैदा करने का साधन बना लिया। आर्य-समाजियों को गाली देना, शास्त्रार्थ के लिये चैलेंज देना और उनके प्रतिकूल दो-चार व्याख्यान देने पर रोटी का सवाल हल

कर लेना कुछ कठिन नहीं था। कुछ लिखने और समाचार-पत्र निकालने का हुनर आने पर अपना उल्लू सीधा करना बायें हाथ का खेल था। पण्डित गोपीनाथ कुछ ऐसा ही चलता पुर्ज़ा आदमी था। अपने को वह उच्च घराने का काश्मीरी पण्डित बताता था। सनातनी लोगों में वह नेता माना जाता था। सनातनधर्म-सभा का मन्त्री, 'सनातनधर्म-गज़ट' का सम्पादक और 'अख़बार-ए-आम' का वह संचालक था। उस ने ये सब बड़प्पन आर्यसमाजियों को गालियां देकर, उन के प्रति विष फैला कर और उन के साथ शास्त्रार्थों के झूठे मोर्चे लेकर ही पैदा किया था। उस के पत्र की भाषा इतनी अश्लील, गन्दी और वाहियात रहती थी कि कुछ लोग आर्यसमाज की ओर से उस पर मुक़दमा चलाने की भी कई बार चर्चा किया करते थे। पर, मुन्शीराम जी धर्मकार्यों में क़ानून की सहायता लेने के प्रायः विरुद्ध रहते थे और ऐसा करना वे कमीनापन समझते थे। वे बहुत समय तक चुप रहे। अन्त में गोपीनाथ ने मुन्शीराम जी को ही ललकारा और गन्दगी से भरे हुए लेख द्वारा उन को शास्त्रार्थ के लिये चैलेंज दिया। मुन्शीराम जी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में ही थे। आप ने चैलेंज स्वीकार करते हुए लिखा—'लाहौर, जालन्धर, रोपड़ अथवा करतारपुर में जहां कहीं भी आप चाहें शास्त्रार्थ कर सकते हैं।' रोपड़ और करतारपुर का उल्लेख इसलिये किया गया था कि इसने अपने

चैलेंज में इन स्थानों पर आर्यसमाजियों को हराने का उल्लेख किया था। कुछ पत्रव्यवहार होने के बाद लाहौर में शास्त्रार्थ होना तय हुआ। २६ और २७, २६ और ३० नवम्बर सन १८६८, सम्वत् १६५५, को गोपीनाथ के साथ मुन्शीराम जी के लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर पहिले बच्छोवाली-समाज-मन्दिर में 'वेद किन ग्रन्थों का नाम है' विषय पर, फिर हिन्दू होटल में 'मूर्तिपूजा' पर वे सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुए, जिनका आर्यसमाज के धार्मिक इतिहास में विशेष स्थान है। इन शास्त्रार्थों में छः से दस हज़ार तक की उपस्थिति होती थी। जालन्धर-आर्यसमाज के उत्सव पर भी तारीख़ ३० और ३१ दिसम्बर को फिर मुन्शीराम जी के गोपीनाथ के साथ शास्त्रार्थ हुए। इस प्रकार गन्दगी फैलाकर बढ़ने वाला मनुष्य सदा ही फल-फूल नहीं सकता, एक न-एक दिन उसका पतन अवश्य होता है। गोपीनाथ के भी पतन के दिन शुरू होचुके थे। सम्वत् १६५६, सन् १८६६, की होली पर उसने अपने पत्र में आर्यसमाज पर रंग छिड़कते हुए 'होली के चुटकलों' में कुछ गन्दगी उंडेली थी। सरकार की ओर से उसके लिये उस पर १५३ अ, २०२ और ५०५ धाराओं के अनुसार मुक़दमे चलाये गये। दोष स्वीकार करते हुए अदालत से उसने माफ़ी मांगी और सरकारी वकील ने भी सज़ा न देकर जुर्माना और नेकचलनी के लिये दो मुचलके ले लेने की सिफ़ारिश की, किन्तु लाहौर के डिपुटी कमिश्नर ने

उन लेखों को सनातनियों तथा आर्यसमाजियों में वैमनस्य पैदा करने वाला और सनातनियों को फ़ोश तरीक़े से भड़काने वाला ठहरा कर तीन महीने और एक महीने की सख्त कैद की सज़ा दे ही दी। अपील करने पर यह सज़ा जुर्माने में परिणत हो गई थी।

गोपीनाथ को इस मुक़दमे में इतना नीचा देखना पड़ा कि वह आर्यसमाज और मुन्शीराम जी से बदला लेने की ताक में बराबर रहने लगा। उसको भड़काने वाली ऐसी ही एक घटना और हो गई। रोपड़ में सनातनधर्मावम्बिलयों ने आर्य पुरुषों के सामाजिक बहिष्कार की घोषणा की और समाचार-पत्रों में उसके सम्बन्ध में लेख भी लिखे। सीताराम जैनी का लेख 'जैनधर्म श्रावक' में और स्थानीय धर्म-सभा के मन्त्री और उप-मन्त्री के लेख गोपीनाथ के 'सनातनधर्म गज़ट' में निकले थे। रोपड़ के आर्य पुरुषों की ओर से श्री सोमनाथ और श्री इन्द्रचन्द्र ने सीताराम जैनी, स्थानीय धर्म-सभा के मन्त्री तथा उपमन्त्री और गोपीनाथ के विरुद्ध मानहानि के मुक़दमे दायर कर दिये। सीताराम जैनी ने पहिली ही पेशी पर माफ़ी मांग ली और कह दिया कि मैं आर्यों को बिरादरी से खारिज़ नहीं समझता। दूसरी पेशी पर धर्म-सभा के मन्त्री, उपमन्त्री और गोपीनाथ को माफ़ी मांगने के लिये विवश होना पड़ा। साथ में १०० रुपया हरजाना भी देना पड़ा। ४ सितम्बर सन् १९०१ को यह

मामला इस तरह निबट गया। गोपीनाथ के जले पर नमक छिड़का गया। लोगों में फैलाया गया कि इस मुक़दमे में असली हाथ मुन्शीराम जी का था। पर, वस्तुस्थिति यह थी कि रोपड़ के आर्यसमाजियों को इस बुरी तरह सताया गया था कि उनको विधर्मियों और अछूतों से भी गया-बीता ठहरा कर उनका पानी बन्द कर दिया गया था; नाई, धोबी हज्जाम, कहार तक रोक दिये गये थे; उनके यहां काम करने वाले कहारों तक को अपनी बिरादरी से ख़ारिज करा दिया गया था; गरमी में बच्चे बीमारी में तड़फते रहते थे और पानी का एक घड़ा भी किसी कुएं से भरना नहीं मिलता था। इस विकट परिस्थिति में आर्य पुरुष और क्या करते? अस्तु, इस प्रकार दो बार नीचा देखने के बाद फरवरी सन् १९०१ में 'प्रचारक' के १, ८ और १५ फरवरी १९०१ के कुछ लेखों के आधार पर लाहौर के फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट मि० क्लेवर्ट की अदालत में गोपीनाथ ने मुन्शीराम जी पर 'प्रचारक' के सम्पादक के नाते, वज़ीरचन्द जी विद्यार्थी पर सहायक सम्पादक के नाते और बस्तीराम जी पर मैनेजर के नाते मानहानि का दावा दायर कर दिया। २६ अप्रैल १९०१ को मुक़दमे की पहली पेशी हुई। रोपड़ का और यह मुक़दमा—दोनों ऊपर के शास्त्रार्थों से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इस लिये सनातनियों और आर्यों में इसकी धूम मच गई। गोपीनाथ ने अपने बयान में अपनी पारिवारिक, सामाजिक तथा सार्व-

जनिक प्रतिष्ठा का बहुत बढ़िया चित्र अंकित किया और वैसे ही गवाह भी भुगता दिये। 'सिविल मिलिटरी गज़ट' और 'कोहनूर' से माफ़ी मँगवाने के अभिमान में वह चूर था। कभी-कभी तो ऐसा ही मालूम होता था कि मुन्शीराम जी मुक़दमा हार जायंगे। पर, डुबोने वाले से तारने वाला बलवान् होता है। एक दिन शाम को सफ़ाई पेश करने की तय्यारी की गहरी चिन्ता में मग्न मुन्शीराम जी कोठी के बरामदे में टहल रहे थे कि एक अजनबी आदमी आया और चिट्ठियों का एक बण्डल उनके हाथ में देकर चला गया। सनातन-धर्माभिमानी गोपीनाथ के जीवन का वह कच्चा चिट्ठा था। 'पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट' के हिसाब की जांच-पड़ताल करने वाले आफ़िस के मुन्शी करीमबख्श को उन चिट्ठियों के आधार पर सफ़ाई की ओर से गवाह पेश किया गया। उसके विस्तृत बयान का आशय यह था—'मैं छोटी अवस्था से गोपीनाथ को जानता हूं। हम दोनों लँगोटिये दोस्त हैं। स्कूल में भी साथ-साथ पढ़े हैं। गोपीनाथ बहुत-सी वेश्याएं रखता है, जिनमें कुछ के नाम हैं बरकतजान, मुन्नीजान, नाज़, मोतीजान। मोतीजान पर गोपीनाथ मुग्ध था। अनारकली की एक यहूदिन के साथ भी उसका बुरा सम्बन्ध था। इन वेश्याओं के पास उसके और उसके पास उनके पत्र, जिनमें से कुछ अदालत में भी पेश किये गये थे, मेरी मार्फ़त आते जाते थे। गोपीनाथ ने मुझको बताया कि उसको काश्मीर से पन्द्रह हजार

रुपया मिला था। हज़ार-दो हज़ार क़ीमत की घड़ी महाराजा पूंछ से मिली थी। गोपीनाथ मुझ से कहा करता था कि रुपया मक्कारी से ही पैदा होता है। 'राम-राम जपना पराया माल अपना' की वह प्रायः मिसाल दिया करता था। सभाओं पर जाता हुआ भी औरतें साथ ले जाया करता था। गोपीनाथ को ज़िद्दी, बदमाश और चालाक कहा जा सकता है। उसने मेरे साथ और मेरे सामने 'बीफ़', गाय का मांस, कई बार खाया है। उसकी रखी हुई सब वेश्यायें मुसलमान थीं। उनके साथ वह एक ही रकेबी में खाया करता या। शराब भी पिया करता था।"

छः मास मुक़द्दमा चलने के बाद दो सितम्बर सन् १९०१ को मजिस्ट्रेट ने फैसला सुनाते हुए बस्तीराम जी को तो एकदम ही बरी कर दिया। मुन्शीराम जी और वज़ीरचन्द्र जी को बरी करते हुए मजिस्ट्रेट ने जो लम्बा फ़ैसला लिखा उस में गोपीनाथ की सब कलई खुल गई। मजिस्ट्रेट ने फ़ैसले में लिखा—"गोपीनाथ गर्टू ब्राह्मण तो क्या, काश्मीरी भी है कि नहीं, इस में भी सन्देह है। उस के पिता ने अपने खानदान की ऐसे पास के सम्बन्ध की स्त्री से विवाह किया, जिस को हिन्दू बुरा मानते हैं। 'अखबार-ए-आम' में गोकुशी पर लिखे हुए लेख उसके ही हैं और ये उस के अपने दिमाग़ की शरारत की उपज हैं, जो मुसलमानों को खुश करने के लिये लिखे

गये हैं। वह एक धोखेबाज़ आदमी है, जो अपने नफ़े के लिये हिन्दू जनता को धोखा देता रहा है। वह हर एक सार्वजनिक काम स्वार्थ या पैसे के लिये ही करता मालूम होता है। पैसा जमा करने का कोई अवसर उसने ख़ाली नहीं जाने दिया। बिना प्रयोजन अपीलें करके उसने जनता से पैसा बटोरा है और रियासतों से भी रुपया हासिल किया है। इसमें आम जनता का फ़ायदा है कि गोपीनाथ सरीखे लोगों का चाल-चलन खोल कर सब के सामने रखा जाय। सनातनधर्म-सभा और सनातनधर्म को इस मुक़दमे से यदि कोई चोट लगी है तो उसकी ज़िम्मेवारी गोपीनाथ पर है, क्योंकि उसने उनको इस मुक़दमे में घसीटा है और आज तक वह अपने को उनका दोस्त कहता रहा है।"

इस मुक़दमे की यह सफलता मुन्शीराम जी की एक असाधारण विजय थी। हज़ारों की संख्या में जनता ने अदालत में जमा हो कर इस विजय पर आपको बधाई दी और आपका अभिनन्दन किया। गोपीनाथ को लेने के देने पड़ गये। उसके पापी जीवन पर पड़ा हुआ परदा उठ गया। उस की असलियत लोगों पर प्रगट हो गई। इस मुक़दमे से पता लगता है कि आर्य पुरुषों के लिये वह समय कितना विकट था और मुन्शी-राम जी को उस विकट परिस्थिति में किस असाधारण साहस के साथ काम करना पड़ता था? 'बंगवासी' और 'वेंकटेश्वर-समाचार' आदि सनातनी पत्रों में होने वाली टीका-टिप्पणी

का जवाब भी 'प्रचारक' द्वारा मुन्शीराम जी को ही देना पड़ता था।

इन दिनों में ही सुमित्रादेवी का विवाह डा० गुरुदत्त जी के साथ जाति-बन्धन तोड़कर आपकी ही प्रेरणा से किया गया था। उस पर आर्यसमाजी-पत्रों तक ने आप पर टीका-टिप्पणी की थी। कुछ सिद्धांतवादी आप पर इस लिये खड्गहस्त हुए थे कि आप ने अपनी बड़ी पुत्री वेदकुमारी का विवाह जातिबन्धन तोड़ कर नहीं किया था। संयुक्त-प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभा का मुख-पत्र 'आर्यमित्र' तो आप पर इसीलिये रुष्ट था कि आप जात-पात तोड़ कर गुण कर्म स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था कायम करने पर ज़ोर देते थे। सिद्धांत की आड़ में आप पर रोष प्रकट करने वालों के तब मुंह बन्द हो गए, जब आपने सन् १९०१ के नवम्बर मास में अपनी दूसरी कन्या अमृतकला का विवाह डा० सुखदेव जी के साथ उन की आर्थिक अवस्था के बहुत साधारण होते हुए भी जन्मगत जात पात का बन्धन तोड़ कर, घर वालों के पूरा विरोध रहते हुए भी, कर दिया। इस की अच्छी चर्चा हुई, क्योंकि आर्यसमाज में जातिबन्धन तोड़ कर किये गये विवाहों में यह दूसरा ही विवाह था। उस समय आर्यसमाज में सिद्धांतवादियों ने एक 'आर्य-भ्रातृ-सभा' का संगठन किया था, जिसके सदस्यों ने पहली कन्या के विवाह को लेकर मुन्शीराम जी पर आलोचना की बौछार कर दी थी।

उस सभा के सिद्धांतवादी आर्य वीर नेता अबतक भी जन्मगत जात-पात के दलदल में धंसे हुए हैं। इसी से मुन्शीराम जी के उस चरित्रबल का पता लगता है, जिस का परिचय आपने सन् १९०१ में दिया था। सिद्धांत का प्रश्न उपस्थित होने पर आपने सदा इसी प्रकार उत्कृष्ट चरित्र-बल का परिचय दिया और आर्यसमाज के नेतृत्व को कभी दाग़ नहीं लगने दिया।

१०. गुरुकुल का स्वप्न

गुरुकुल मुन्शीराम जी के जीवन का बहुत पुराना स्वप्न था। एक जगह आपने लिखा था—"उस समय मैं दयानन्द एंग्लो-वैदिक-कालेज को ही पुत्रों के लिये गुरुकुल समझता था। इसलिये कन्या गुरुकुल को स्थापित करने के लिए फ़िरोज़पुर की पुत्री-पाठशाला को उन्नत करने का प्रस्ताव मैंने किया था।" इन शब्दों से दयानन्द-एंग्लो-वैदिक-कालेज के सम्बन्ध में शुरू शुरू में लोगों की जो धारणायें थीं, उन का भी पता लगता है। मुन्शीराम जी ने भी ऐसी धारणा से ही कालेज की स्थापना का समर्थन और 'प्रचारक' द्वारा उस के लिये आंदोलन किया था। समस्त आर्यजनता के साथ-साथ मुन्शीराम जी को भी कालेज से निराश होना पड़ा। न केवल कालेज की, किन्तु वर्त्तमान शिक्षा प्रणाली में ब्रह्मचर्याश्रम की पद्धति का अभाव आप को बहुत खटका करता था। कालेज के लिये स्थिर स्थान नियत

करने का प्रश्न उठने पर 'प्रचारक' में आपने लिखा था कि सरकारी कालेजों पर तो हमारा अधिकार नहीं, किन्तु अपने कालेज पर इतना अधिकार हो सकता है कि उसके लिये शहर से दूर जगह ली जाय और कालेज का स्थिर-भवन शहर में न बना कर शहर से दूर बनाया जाय ! वर्णाश्रम-पद्धति के पुनर्जीवित करने का प्रश्न उठने पर आप प्रायः 'प्रचारक' में लिखा करते थे कि 'आश्रमव्यवस्था के बिना वर्णव्यवस्था क़ायम नहीं हो सकती। आश्रमों पर ही वर्ण निर्भर हैं। जब गुरुकुल नहीं हैं, तब आश्रम-पद्धति का उद्धार कैसे हो ?' गुरुकुल के सम्बन्ध में इस प्रकार की चर्चा तो 'प्रचारक' में प्रायः शुरू के अंकों से पढ़ने को मिलती है, किन्तु उसके लिये स्पष्ट प्रस्ताव ८ आषाढ़ सम्वत् १९५३ के अङ्क में किया हुआ मिलता है। उस अङ्क से 'सन्तान को आर्य क्यों कर बना सकते हो ?' के शीर्षक से एक लेखमाला शुरू की गई थी। शहर के वातावरण के बुरे प्रभाव से पैदा होने वाली बुराइयों का उल्लेख करने के बाद आपने एक स्पष्ट योजना गुरुकुल के सम्बन्ध में पेश की थी। उसका आशय यह था कि २० आर्य पुरुष ऐसे चाहियें जो अपनी सन्तान के लिये १५ रु० प्रति-मास खर्च कर सकें। अमृतसर के पास नदी के किनारे ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य है, जहां परीक्षण के लिये गुरुकुल खोला जाय। अपने दो बालकों को उसमें भेजने का निश्चय प्रगट करके आपने अठारह और ऐसे

आर्य पुरुषों के लिये अपील करते हुए उस लेखमाला को समाप्त किया। दूसरे लेख में बताया गया था कि इस प्रकार गुरुकुल खुलने में ३००रु० महीना की आमदनी होगी। १२०रु० महीना संस्कृत के पंडित और दूसरे विषय पढ़ाने वाले अध्यापकों पर व्यय होगा। ६ रु० प्रति माह प्रति विद्यार्थी के हिसाब से १२०) भोजन-खर्च होगा। बाकी ६०) में १० विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। 'आर्य पत्रिका' ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और लिखा कि अच्छा हो यदि आर्य-सार्वभौम-प्रतिनिधि सभा का संगठन करके उसके आधीन गुरुकुल खोला जाय—तब तक आर्य सार्वदेशिक सभा की स्थापना नहीं हुई थी। आर्य-समाजी पत्रों में इस प्रस्ताव पर अच्छी चर्चा हुई। पक्ष-विपक्ष में ख़ूब लिखा जाने लगा। कालेज-दल के लोग तो इस प्रस्ताव का उपहास ही करते थे और वे कुछ द्वेषभाव से उसके विरुद्ध आन्दोलन भी करते थे, किन्तु महात्मा-दल के भी ऐसे लोग कुछ कम नहीं थे, जिनको ऐसा गुरुकुल खोलने में भारी आपत्ति थी। मुन्शीराम जी का प्रारम्भ से ही यह मत था कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा की ओर से उसकी आधीनता में गुरुकुल खोला जाय, किन्तु कुछ लोगों को भय था कि प्रतिनिधि-सभा पर गुरुकुल का भार डालने से प्रचार-कार्य में बाधा पहुंचेगी। उसकी परिमित शक्ति इतना बड़ा भार सहन नहीं कर सकेगी। कुछ लोगों का यह भी ख़याल था कि जङ्गल के एकान्त में रह

कर केवल संस्कृत पढ़ने वाले बालक नहीं मिलेंगे और वर्तमान शिक्षा के साथ संस्कृत का पढ़ाना सम्भव नहीं होगा। बालकों के चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में पूछा जाता था कि मां-बाप की अपेक्षा अध्यापक इस सम्बन्ध में क्या अधिक काम कर सकेंगे? जालन्धर में वैदिक-आश्रम और दुआबा-हाईस्कूल खोला गया था। कुछ लोग संस्कृत की पढ़ाई की आवश्यकता उनके ही द्वारा पूरी कर लेने की बात भी कहते थे। नूरमहल के श्री जगन्नाथ जी आर्य गुरुकुल के उक्त प्रस्ताव के पहले समर्थकों में से थे। उन्होंने प्रत्येक आर्यसमाजी से एक-एक रुपया गुरुकुल के मकान आदि बनाने के लिये देने की अपील की थी और २५ रु० मुन्शीराम जी के पास भेज भी दिये थे। इससे मुन्शीराम जी को इतना उत्साह मिला कि आप गुरुकुल की स्कीम तय्यार करने में लग गये। आर्यसमाज-गोविन्दपुर के उपप्रधान श्री विशनदास जी ने ज़िला गुरुदासपुर में गुरुकुल या उसकी शाखा खुलने पर उसके लिये ज़मीन और एक हज़ार रु० एकसाथ देने का वायदा किया। लाला मोहनलाल जी ने अपने गांव में दो घमाऊं ज़मीन और ५० रु० वार्षिक देने की घोषणा की। दोनों आर्य पुरुषों ने अपने एक-एक बालक को भी गुरुकुल में भेजना स्वीकार कर लिया। बरार प्रान्त के अकोला ज़िले के पातूर-निवासी श्री शिवरत्नसिंह जी वर्मा ने अपने चचेरे भाई श्री गोविन्दसिंह जी वर्मा मन्सफदार की ओर से सूचित किया कि यदि आर्यसमाज प्राचीन पद्धति

पर गुरुकुल क़ायम करे तो वे इस लोकहितकारी काम में दस हज़ार रुपया देने का वायदा करते हैं। साथ वे अपने प्रिय पुत्र धर्मसिंह को भी वहां भेजेंगे। ३ आश्विन सम्वत् १९५४ के 'प्रचारक' में "आश्रम-व्यवस्था और उसकी बुनियाद" शीर्षक से इस सम्बन्ध में जो लेख निकला था, उसका अंश यहां दिया जाता है। इससे 'प्रचारक' की अपनी उस विशेष भाषा का भी पता चल जायगा जो उसकी एक विशेषता थी। उस लेख में लिखा गया था—"यह मुबारक तहरीक पण्डित गुरुदत्त जी की जीवनी में ही शुरू हो गई थी। उन की मृत्यु के बाद कुछ समय की ख़ामोशी के बाद फिर इस मज़मून पर तहरीरी काम शुरू हो गया था। सन् १८९५ के दौरे में हमने अकसर जगहों में धार्मिक आर्य भाइयों से बातचीत की। अकसर उन्होंने अपनी सन्तान को गुरुकुल में भेजना स्वीकार किया। बहुत से सज्जन आर्थिक सहायता करने को भी तैयार हैं। लेकिन दूसरे कार्यों का बोझ इतना रहा कि उस समय कोई तरीक़ा बरामद न हुआ। पर, सुलगी हुई धर्म की यह अग्नि बुझी नहीं। चुनांचे लाला जगन्नाथजी बजाज नूरमहल ने अपने कारख़ाने में कुछ हिस्सा गुरुकुल का क़ायम किया और एक साथ २५ रु० पेशगी उसमें से भेज भी दिये। इसके बाद पं० लेखरामजी आर्यमुसाफ़िर के धर्म पर बलिदान होते ही अन्य कामों के बोझ ने आ दबाया। फिर भी हम इस

सवाल पर बराबर विचार करते रहे। इसमें शक़ नहीं, कि हम भी सुस्त हो चले थे, लेकिन निराशा को पाप समझते हुए हमने आशा नहीं छोड़ी थी और कुछ समय तक इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच में श्रीगोविन्दपुर के आर्य भाइयों ने अजीब धार्मिक जोश दिखाया और उसके बाद ही बाबू शिवरत्नजी वर्मा ने कुमार गोविन्दसिंह जी मन्सफदार का साहसपूर्ण निश्चय ज़ाहिर किया। ये दोनों निश्चय यदि पूरे हो जायं तो गुरुकुल का खुलना कुछ भी मुश्किल नहीं है। अलबत्ता श्रीगोविन्दपुरी भाइयों की शर्त ठीक नहीं है। मगर, हमको यक़ीन है कि लाला विशनदास और लाला मोहन-लालजी आदि भाई कभी भी अपनी इस शर्त पर हठ नहीं करेंगे और हर एक फ़ैसले को आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब पर छोड़ देंगे। आर्य-प्रतिनिधि-सभा का नाम सुन कर हमारे पाठक आश्चर्य करेंगे। पर, उनको मालूम हो कि जो अपील वेद-प्रचार-फ़ण्ड के लिये सभा के प्रधान और मन्त्री की ओर से प्रकाशित हुई थी उसमें गुरुकुल खोलने की ओर इशारा मौजूद है। इस समय जब कि आर्यप्रतिनिधि-सभा की अन्तरङ्ग-सभाने आर्य-विद्यार्थी-आश्रम लाहौर को ग़ैर-ज़रूरी ठहरा दिया है, तब पूरी आशा बंध जाती है कि सभा गुरुकुल को अपनी आधीनता में खोलने को तैयार हो जायगी। हमने इरादा कर लिया है कि श्रीगोविन्दपुर आर्यसमाज के जलसे में, जो कि ३ और ४

अक्तूबर सन् १८६७ को होगा, शामिल होंगे और उस समय अपने भाइयों को प्रेरित करेंगे कि वे अपना दान नक़द देवें, जिससे उन सज्जनों के दिलों को ढारस मिले, जो कि गुरुकुल के लिये मुद्दत से व्याकुल हो रहे हैं।" लेख के अन्त में आर्य भाइयों से तन, मन, धन से इस पवित्र काम में सहायता करने की ज़ोरदार अपील करते हुए लिखा गया था—"इस तहरीक से हमदर्दी रखने वाले आर्य-भाई श्रीगोविन्दपुर के जलसे में शरीक हों और जो कुछ भी इस यज्ञ में प्रारम्भिक भेंट करना चाहते हैं, साथ में लावें। अगर न आ सकें तो अपनी हमदर्दी और मदद के वायदे की सूचना पत्र से दें। जिन सज्जनों के पुत्र १२ वर्ष से कम आयु के हैं वे अपने पुत्रों को धर्म के अर्पण करने की प्रतिज्ञा करें, ताकि उनके किये हुए हौसले से उत्साहित होकर श्रीगोविन्दपुर से ही आर्य-प्रतिनिधि-सभा की सेवा में एक निश्चित निवेदन-पत्र भेजा जा सके। पढ़ाई के काम के लिये हमने दो धार्मिक पुरुषों को तैयार किया है। पाठ-विधि महर्षि दयानन्द स्वयं तैयार कर गये हैं। हमें सिर्फ़ उन विषयों का सिलसिला बांधना होगा और अन्य भाषाओं विशेषतः व्यावहारिक विद्याओं का उन में समावेश करना होगा, जो आर्यसमाज के विद्वान धार्मिक सभासदों की सहायता से प्रतिनिधि-सभा तय्यार कर सकेगी।" इतने लम्बे उद्धरण को यहां इसलिये दिया गया है कि पाठकों को पता लग सके कि

मुन्शीरामजी के जीवन के सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य का बीजारोपण किस प्रकार किन कठिन परिस्थितियों में किया गया था और उसके लिये आर्य जनता का कितना विश्वास, प्रेम, सहृदयता तथा सहायता उनको प्राप्त हुई थी ? इससे यह भी स्पष्ट है कि अपने द्वारा किये जाने वाले इस महान कार्य के सम्पन्न करने का सब श्रेय वे आर्यसमाज को ही देना चाहते थे । उनके लिये यह कुछ कठिन नहीं था कि दस-पांच प्रभावशाली पुरुषों की एक कमेटी बना कर गुरुकुल खोल लेते। गुरुकुल तो खुल जाता, किन्तु वैसा करना आर्यसमाज के संगठन के प्रतिकूल होता। अपने को संगठन के आधीन कर देना और उसके सामने अपने व्यक्तित्व को भुला देना मुन्शीरामजी के जीवन का एक बहुत बड़ा सद्गुण है। इसलिये गुरुकुल खोलने का आन्दोलन करते हुए उनका सब ज़ोर इस बात पर था कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा उसके खोलने का निश्चय करे और उसकी ही आधीनता में उसका संचालन हो।

श्रीगोविन्दपुर आर्यसमाज के उत्सव पर ता० ३ अक्तूबर सन् १८९७ की रात को ९ बजे आर्य भाइयों की सभा हुई, जिस में बहुत से बाहिर से आये हुए आर्य भाई भी सम्मिलित हुए। गुरुकुल के सम्बन्ध में बहस हुई। सर्वश्री मुन्शीराम जी, रामभजदत्त जी चौधरी, सीताराम जी लाहौर-निवासी, केसरीमल जी दीनानगरी, मुन्शी मुकुन्दराम जी श्रीगोविंदपुरी

आदि ने बहस में भाग लिया। सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि "आर्य पुरुषों की यह कान्फ्रेन्स श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब की सेवा में यह निवेदन करना अत्यन्त आवश्यक समझती है कि गुरुकुल शीघ्र ही खोला जाय।" इस प्रस्ताव को सभा के पास भेजने का अधिकार मुंशीराम जी को दिया गया। इस के बाद समाचारपत्रों में इस विषय की विशेष चर्चा होने लगी। प्रतिनिधि-सभा के उस समय के उत्साही मन्त्री श्री जयचन्द्र जी ने यह विचार उपस्थित किया कि गुरुकुल खोलने का आंदोलन करने के लिये १५–२० आर्य पुरुषों की एक कमेटी बनाई जाय, समाचार-पत्रों में गुरुकुल खोलने की आवश्यकता के सम्बन्ध में ज़ोरदार लेख निकला करें, डेपुटेशन द्वारा २०–२५ हज़ार रुपया जमा किया जाय। आर्यसमाज मुकेरियां के श्रद्धा-सम्पन्न मन्त्री श्री मुंशीराम जी ने अपील करते हुए लिखा कि प्रत्येक प्रतिनिधि-सभा को अपने-अपने प्रांत में गुरुकुल खोलना चाहिये और पञ्जाव-प्रतिनिधि-सभा के आधीन प्रत्येक समाज को कम से कम सौ-सौ रुपया इकट्ठा करके सभा के पास भेजना चाहिये। आपने बताया कि १७५ आर्यसमाजें इस प्रकार पौने दो लाख रुपया सहज में इकट्ठा कर सकती हैं। इस प्रकार गुरुकुल के सम्बन्ध में उत्साहजनक चर्चा होने लगी। आर्य पुरुषों की इस तय्यारी और उत्साह के बाद प्रतिनिधि-सभा चुप कैसे रह सकती थी?

ता० २६ नवम्बर सन् १८६८ के स्मरणीय अधिवेशन में प्रतिनिधि-सभा ने गुरुकुल खोलने और ऋषि दयानन्द के अधूरे वेद-भाष्य को पूरा करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकृत किये और निश्चय किया कि दोनों कार्यों के लिये आठ-आठ हज़ार रुपया जमा हो जाने पर ये काम शुरू किये जायेंगे। गुरुकुल की योजना तय्यार करने का काम मुंशीराम जी के सिपुर्द किया गया। आपने शीघ्र ही योजना सभा को सौंप दी। सभा की ओर से उस को प्रचार के लिये छपवाया गया। यह सब होने के बाद भी काम में ढील होते देख कर मुंशीराम जी से नहीं रहा गया। उन्होंने आषाढ़ सम्वत् १९५६, अगस्त १८६८, के 'प्रचारक' में यह घोषणा कर दी कि जब तक गुरुकुल के लिये ३० हज़ार रुपया इकट्ठा न कर लेंगे, घर में पैर नहीं रक्खेंगे। आर्य पुरुषों में उत्साह तो पूरा था, किंतु देश की अवस्था अनुकूल नहीं थी। चारों ओर दुर्भिक्ष फैला हुआ था। समाचार-पत्र पढ़ने वालों के अलावा गुरुकुल का नाम भी किसी ने नहीं सुना था और गुरुकुल की स्पष्ट कल्पना तो बहुत ही कम लोगों के सामने थी। ऐसी विपरीत और कठिन अवस्था में ऐसी प्रतिज्ञा कर के उसको पूरा करना आप का ही काम था।

इन नौ मास के लम्बे दौरों की कथा बहुत बड़ी, रोचक और शिक्षाप्रद है। उस सब को विस्तार के साथ यहां देना सम्भव नहीं है। २५ भाद्रपद सम्वत् १८५६, २६ अगस्त सन

१८९८ को जालन्धर से इस भीष्म प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये निकलते ही पहला कटु अनुभव यह हुआ कि पिछले चार-पांच वर्षों से गुरुकुल के लिये जो लोग लम्बी-लम्बी बातें बनाया करते थे, वे सब ढीले दीख पड़े। पंडित रामभजदत्त चौधरी ने पूरा साथ देने का विश्वास दिलाया और साथ दिया भी। पं० पूर्णचन्द्र जी और मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी भी अच्छे सहायक सिद्ध हुए। नबीबख्श बैरागी और पं० शिवनाथ जी जालन्धर से ही साथ हुए और अन्त तक साथ रहे। सभी जगह स्थानीय आर्य पुरुषों ने पूरे उत्साह का परिचय दिया, यथाशक्ति स्वयं सहायता की और दूसरों से भी कराई। दौरे के पहले हिस्से का कुछ विस्तृत विवरण देने से सारे दौरे का विशद चित्र पाठकों के सामने स्वयं अंकित हो जायगा। ता० २६ अगस्त को जालन्धर से विदा होकर उसी दिन शाम को ६ बजे गुरुकुल-भिक्षा-मण्डली गुजरानवाला पहुंची। वहां मुन्शीराम जी के ता० २६ और २७ को दो व्याख्यान हुए और ५९२ रु० जमा हुए। २८ को लालामूसा से ३६ रु० ८ आ० मिले। २९ को लूनमियांनी पहुँचे, जहां ३० को लाला ज्वाला-प्रसाद जी की वह ज़मीन देखी, जो उन्होंने गुरुकुल के लिये देने का वायदा किया था। वहां से रावलपिंडी होते हुए ३१ को पेशावर गये। वहां से आर्य पुरुषों ने अभी न आने के लिये तार दिया था, किंतु वह तार मुन्शीराम जी को मिला न था।

एक तो मद्रास-प्रचार के लिये उसी समय वहां १००० रु० इकट्ठा हो चुका था, दूसरे वहां दुर्भिक्ष की भी शिकायत थी। इस पर भी वहां १६५५ रु० इकट्ठे हुए। पांच सौ से कुछ अधिक स्कूल के लिये जमा किया गया था, वह इसी फ़गड में दे दिया गया। ५ सितम्बर को रावलपिंडी आये। यहां के श्री खुशीरामजी ने पांच हज़ार देने का वायदा किया था, किंतु यहां पहुँचने से पहिले ही उनका आकस्मिक देहावसान होगया था। ६ को कोह-मरी और ८ को फिर रावलपिंडी में मुक़ाम हुआ। दोनों स्थानों से १८५० रु० की प्राप्ति हुई। १० को गुजरात से ८४२ रु० प्राप्त हुए। ११ को लालामूसा और १४ को वज़ीराबाद होते हुए १६ को सियालकोट पहुँचे, जहां से ६५० रु० की भिक्षा प्राप्त हुई। इसी बीच में जम्मू से रामभजदत्त जी २५३ रु० कर लाये थे। १८ को वज़ीराबाद से ५०० रु० हुआ। १८ से २२ तक लायलपुर, सांगला, अकालगढ़, रामनगर आदि में कार्य किया गया। २२ को लाहौर होते हुए २३ को भिक्षा-मण्डली जालन्धर आगई। इन दौरों में जालन्धर आने पर मुन्शीराम जी दुआबा-हाई-स्कूल या समाज-मन्दिर में ही ठहरा करते थे। एक दिन जालन्धर में विश्राम लेकर २४ सितम्बर को शिमला जाने का विचार था, किंतु वहां जाना स्थगित करके अम्बाला और सहारनपुर होते हुए २४ की रात को आप अकेले ही हरिद्वार गये। हरिद्वार जाने का उद्देश्य गुरुकुल के लिये कोई उपयुक्त स्थान

ढूंढना था। इसी उद्देश्य से आप ने हरिद्वार के आस-पास विशेष कर गंगा के ऊपर ऋषिकेश की तरफ़ बहुत-सी ज़मीन देखी। पर, आप को गङ्गा के पार चण्डी पहाड़ के नीचे की ही जगह अधिक पसन्द आई। उस जगह में हरिद्वार से मिलने वाले सब लाभ तो प्राप्त थे, किंतु उससे होने वाली हानियों से वह जगह सुरक्षित थी। हरिद्वार आने वाले तीर्थ-यात्रियों को गुरुकुल की ओर आकर्षित करने का ध्यान मुन्शीराम जी को उस समय मे ही था। दूसरे दिन रामभजदत्त जी भी हरिद्वार पहुँच गये। उनको एक दिन के लिये वहां छोड़ कर आप देहली चल दिये। २६ सितम्बर की रात को यहां पहुंचे। पहुंचते ही आर्य-पुरुषों ने निराशा का चित्र खींचना शुरू कर दिया। पर, मुन्शीराम जी इस प्रकार निराश होने वाले नहीं थे। दूसरे दिन ग्वालियर से पं० पूर्णानन्द जी, पं० गंगादत्त जी, पं० सूरजप्रसाद जी और हरिद्वार से पं० रामभजदत्त जी भी आ गये। यहां टाउनहाल में भी व्याख्यान हुए। स्थानीय आर्य पुरुषों की निराशा में भी ७७८ रु० नक़द इकट्ठा होगया और ८०० रु० के लगभग के वायदे हो गये। यहां ५ अक्तूबर तक काम हुआ। लगभग ५ सप्ताह की इस यात्रा में ८ हज़ार रुपया मिलने की सूचना 'प्रचारक' में दी गई थी। इस यात्रा में एक-दो अच्छी मनोरञ्जक घटनायें हुईं। रावलपिंडी जाने के लिये टांगा किराये पर किया गया। टांगे के अड्डे वाले ने टांगे के किराये की रसीद 'गुरुकुल' के नाम से

काटी। उसे ठीक करने के लिये जब उससे कहा गया तब भी उसके लिये अपनी भूल का मालूम करना कठिन था। मुन्शीराम जी को वह गुरुकुल के ही नाम से जानता था। समझाने पर उसको मालूम हुआ कि मुन्शीराम जी और गुरुकुल में क्या भेद है? रावलपिंडी में आर्य भाई तक कहने लगे कि लोग तो गुरुकुल का नाम तक नहीं जानते, वे उसके लिये पैसा क्या देंगे?

दूसरी यात्रा का आरम्भ लाहौर से १६ अक्तूबर को हुआ। इस यात्रा में लायलपुर, मुलतान, डेराइस्माइलखां, मुजफ़्फ़रगढ़, सांगला, उसके आसपास के बहुत से स्थानों और अमृतसर में काम हुआ। मुलतान में कालेज-दल वालों ने पर्याप्त विघ्न डाले और गुरुकुल के सम्बन्ध में तरह-तरह के भ्रम भी फैलाये। फिर भी वहां से १५०० नक़द और ६०० रु० के वायदे हुए। अमृतसर में अच्छा काम हुआ। वायदों के साथ २००० रु० का चन्दा हुआ। लाहौर-आर्यसमाज का उत्सव आ जाने से अमृतसर का काम बीच में ही छोड़ना पड़ा। उत्सव पर व्याख्यानों द्वारा गुरुकुल के सम्बन्ध में अच्छा प्रचार हुआ।

इस यात्रा में यह अनुभव हुआ कि गुरुकुल के सम्बन्ध में किस प्रकार का भ्रम फैलाया जाता है। सब से बड़ा भ्रम यह था कि गुरुकुल के लिये लड़के कहां से आवेंगे? अपने लड़कों

को गुरुकुल भेजने का वायदा केवल पिताओं ने किया है, माताओं ने नहीं। २५ वर्ष की आयु तक लड़कों को ब्रह्मचारी नहीं रखा जा सकता। माना कि लड़कों का मन, आत्मा और शरीर दृढ़ होगा, किंतु वे गुरुकुल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद करेंगे क्या ? अपना राज्य हुए बिना गुरुकुल की स्कीम सफल नहीं हो सकती। जब दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक-कालेज के लोगों ने चन्दा जमा करके समाजों को धत्ता बता दिया है तब इसका क्या प्रमाण है कि गुरुकुल वाले भी ऐसा नहीं करेंगे ? ये तो कुछ ऐसे भ्रम थे जिनमें सभ्यता की सीमा का अतिक्रमण नहीं किया गया था, किन्तु ऐसे बेहूदा और निराधार भ्रम भी फैलाये जाते थे जो केवल उपहास की सामग्री होते थे। इस भ्रमपूर्ण और विरोधी वातावरण में मुन्शीराम जी कभी निरुत्साहित नहीं हुए। अढ़ाई मास में ११ हज़ार नक़द जमा हुआ। वायदों की रक़म मिलाकर २० हजार से ऊपर हुआ होगा।

तीसरी यात्रा भी पञ्जाब में ही हुई। चौथी यात्रा में हैदराबाद दक्षिण और कांग्रेस के अवसर पर लखनऊ भी जाना हुआ। हैदराबाद-दक्षिण में बीमार हो जाने से कुछ अधिक काम नहीं हुआ, किन्तु लखनऊ कांग्रेस पर प्रचार बहुत अच्छा हुआ। लाहौर के बैरिस्टर श्री रोशनलाल जी, जो उस समय आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के मन्त्री थे, और श्री जीवनदास जी की सलाह से लखनऊ कांग्रेस, सन् १८९८, पर गुरुकुल के प्रचार की

दृष्टि से ही मुन्शीराम जी ने जाने का निश्चय किया और उनके साथ आप २२ दिसम्बर को जालन्धर से चल दिये। श्री गंगा-प्रसाद जी वर्मा और श्री विशननारायण जी दर के उद्योग से ता० २६ दिसम्बर को कांग्रेस-पण्डाल में कांग्रेस समाप्त होते ही लखनऊ के रईस श्री श्यामनारायण जी के सभापतित्व में गुरुकुल के सम्बन्ध में मुंशीराम जी का व्याख्यान हुआ। उपस्थिति बारह सौ से ऊपर थी। गुरुकुल की योजना की छपी हुई १५०० प्रतियां बांटी गईं। सोशियल-कान्फ्रेंस में भी आप सम्मिलित हुए। वहां भी गुरुकुल के सम्बन्ध में अच्छी चर्चा हुई। गुरुकुल की स्कीम की प्रतियां समाप्त हो गईं थीं। मांग अभी बहुत थी। स्टेशन पर मिलने वाले लोगों ने भी आप से उस की मांग की। इस चर्चा से बड़ा लाभ हुआ। भारत के दूर दूर प्रांतों से आये हुए लोगों तक और उनके द्वारा उनके प्रांतों तक गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का सन्देश पहुंच गया। लखनऊ में चन्दे के लिये अपील जान बूझ कर नहीं की गई थी, क्योंकि संयुक्त-प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभा भी गुरुकुल खोलने का विचार कर रही थी।

इन यात्राओं का विवरण 'प्रचारक' तथा दूसरे समाचार-पत्रों में भी बराबर निकला करता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि दूर-दूर से गुरुकुल के लिये पैसा आने लगा। अफ्रीका-प्रवासी भाइयों ने विशेष उत्साह का परिचय दिया। उनके

पास से ५००, १००० और १६०० रु० तक की रक़में प्राप्त हुईं। लखनऊ जाने से पहिले २० हज़ार रुपया जमा हो चुका था। गुजरानवाला के वैदिक-आश्रम में उन लड़कों को लेना शुरू कर दिया गया था, जो गुरुकुल खुलने के समय तक वहां ही रह कर गुरुकुल में भरती होने की तय्यारी करते थे। सन् १८६८ के दिसम्बर शुरू में मुन्शीराम जी ने अपने दोनों पुत्रों—हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र—को भी आश्रम में भेज दिया था। ११ दिसम्बर को पंडित गंगादत्त जी आश्रम के आचार्य हुए, उनकी देख-रेख में ३४ विद्यार्थियों ने ब्रह्मचर्य की पद्धति के अनुसार जीवन बिताते हुए गुरुकुल के लिये तय्यारी करनी शुरू कर दी थी।

८ अप्रैल सन् १६०० को मुन्शीराम जी की भीष्म-प्रतिज्ञा पूरी होगई और ३० हज़ार से भी अधिक, लगभग ४० हज़ार, रुपया नक़द जमा होगया। लाहौर-आर्य-समाज में इस संकल्प की पूर्ति के उपलक्ष में विशेष उत्सव मनाया गया। मुन्शीराम जी का जलूस निकाला गया और समाज-मन्दिर में आपका अभिनन्दन किया गया। उस दिन आर्य भाइयों की प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। जिस प्रिय वस्तु का स्वप्न देख कर वे मुग्ध हुआ करते थे, उसका मूर्त रूप अब उनकी आंखों के सामने नाचने लगा। गुरुकुल की स्थापना को पागलपन कहने वालों को भी पता लग गया कि जिसको वे पागलपन समझ रहे थे, वह एक सचाई थी और उस सचाई के पीछे श्रद्धा, लगन तथा तपस्या की भावना

काम कर रही थी। इस प्रकार घर के सब काम-काज का त्याग कर, फलती-फूलती हुई वकालत को लात मार कर, संसार की मोह-माया से ऊपर उठ कर केवल गुरुकुल की स्थापना के स्वप्न के पीछे गांव-गांव घूमने वाले मुन्शीराम जी को समाज ने 'महात्मा' पद से विभूषित किया। एक साध के पीछे सर्वस्व न्योछावर करने वाले महापुरुष ही वस्तुतः 'महात्मा' हैं। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के समय तक 'मुन्शीराम जी' की अपेक्षा 'महात्मा जी' के नाम से ही लोग आपको अधिक जानते रहे। लिखने-बोलने में आपके लिये इस नाम का ही अधिक उपयोग होता था। महात्मा मुन्शीराम जी की इस तपस्या ने दूसरे प्रान्तों की प्रतिनिधि-सभाओं में भी हलचल पदा कर दी। उनका ध्यान भी गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ। संयुक्तप्रान्तीय-प्रतिनिधि सभा ने भी २० हजार रुपया जमा करके गुरुकुल खोलने का निश्चय किया।
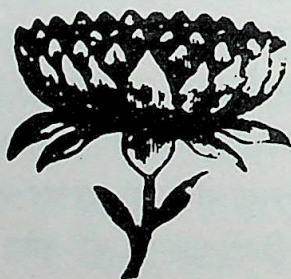
तीसरा भाग

वानप्रस्थ

क.

गुरुकुल

१. सर्वमेध-यज्ञ, २. कांगड़ी में गुरुकुल, ३. विस्तार, ४. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, ५. लोकप्रियता, ६. भ्रम और विरोध, ७. गुरुकुल और प्रकाश-पार्टी, ८. सरकार की तिरछी नज़र, ९. आकर्षण और विशेषतायें, १०. गुरुकुल में महात्मा गांधी, ११. प्रसिद्ध स्वप्न, १२. गुरुकुल से जुदाई।

१. सर्वमेध-यज्ञ

गुरुकुल की स्थापना के सम्बन्ध में 'जो बोले सो कुण्डा खोले' की कहावत महात्मा मुन्शीराम जी पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ने शिक्षा की जिस पुरातन आर्ष पद्धति को पुनर्जीवित करने पर अपने ग्रन्थों में ज़ोर दिया है, उस के लिये महात्मा जी के हृदय में कुछ ऐसी स्फूर्त्ति पैदा हुई कि वे उस के पीछे भिखारी बन गये। गुरुकुल की स्थापना का प्रस्ताव आपने ही आर्य जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। उस प्रस्ताव को मूर्त्त रूप देने के लिये आप को ही गांव गांव घूम कर गले में भिक्षा की झोली

डाल कर चालीस हज़ार रुपया जमा करना पड़ा और घर-बार त्याग कर स्वयं भी गुरुकुल में आकर बसेरा डालना पड़ा। उस के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता होकर उस को पालने-पोसने और आदर्श शिक्षणालय बनाने का सब काम भी आप को ही करना पड़ा। हृदय के दो टुकड़े—दोनों पुत्र—शुरू में ही गुरुकुल के अर्पण कर दिये गये थे। फलती-फूलती हुई वकालत का हरा पौधा भी गुरुकुल के ही पीछे मुरझा गया था। पहले ही वर्ष, सम्वत् १९५९ में, आपने अपना सब पुस्तकालय गुरुकुल को भेंट किया। सम्वत् १९६४ में लाहौर-आर्यसमाज के तीसवें उत्सव पर 'सद्धर्म-प्रचारक' प्रेस भी, जिस की क़ीमत आठ हज़ार से कम नहीं थी, गुरुकुल के चरणों पर चढ़ा दिया। तीस हज़ार से अधिक लगा कर खड़ी की गई जालन्धर की केवल एक कोठी बाक़ी थी। उस को भी सम्वत् १९६८ में गुरुकुल के दसवें वार्षिकोत्सव पर गुरुकुल पर न्यौछावर कर दिया। सभा ने उस को बीस हज़ार में बेच कर वह रक़म गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा की। यह सब उस हालत में किया गया था जब कि सिर पर हज़ारों का ऋण था और गुरुकुल से निर्वाहार्थ भी आप कुछ नहीं लेते थे। कोठी दान करते हुए सभा के प्रधान के नाम लिखे एक पत्र में आपने लिखा था—"मुझे इस समय ३६०० रु० ऋण मद्धे देना है, वह मैं अपने लेख आदि की आय से चुका दूंगा। इस मकान

आचार्य्य मुन्शीराम जी

(गुरुकुल-विश्वविद्यालय के आचार्य के वेश में)

से उस ऋण का कोई सम्बन्ध नहीं है।" इस पर भी छिद्रान्वेषी लोगों के ये आक्षेप थे कि आप अपने पुत्रों के लिये कुछ भी न छोड़कर पीछे उन पर क़र्ज़ का भार लाद जायेंगे। मुन्शीराम जी ने वह सब ऋण उतार कर और सन्तान को गुरुकुल की सर्वोच्च शिक्षा से अलंकृत करके ऐसे सब लोगों के मुंह बन्द कर दिये थे। इस प्रकार तन, मन, धन सर्वस्व आपने गुरुकुल को अर्पण कर दिया। अध्यापकों एवं कर्मचारियों पर भी इस का इतना असर पड़ा कि प्रायः सब ने अपने वेतन में कमी कराई और एक-एक मास का वेतन गुरुकुल को दान में दिया। अन्त में आप ने अपना स्वास्थ्य भी गुरुकुल के पीछे मिट्टी कर दिया। सम्वत् १९६५ में आप को लाहौर में 'हरनिया' का आपरेशन तक कराना पड़ा। पर, वह कष्ट सदा के लिये ही बना रहा। पेटी बांधने पर भी वह कष्ट कभी-कभी उग्र रूप धारण कर लेता था। कई बार पांच-पांच, छः-छः मास के लिए डाक्टर बाधित करके आप को क्वेटा, कसौली आदि पहाड़ी स्थानों पर भेजते थे, पर आप को दो-एक महीने में ही गुरुकुल की चिन्ता वहां से वापिस लौटा लाती थी। गुरुकुल के लिये चन्दा इकट्ठा करने के लिये जो दौरे आपको करने पड़ते थे, उनसे स्वास्थ्य को बहुत धक्का लगता था। सम्वत् १९६७, ६८ और ६९ में गुरुकुल से विद्यार्थियों का शुल्क हटा दिया गया था। उन वर्षों में आपको बजट की पूर्त्ति के लिए जो कठोर परिश्रम करना पड़ा, उस का

स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। सम्वत् १९७१ में आपने गुरुकुल के लिये १५ लाख की स्थिर निधि जमा करने को कठिन परिश्रम शुरू किया ही था कि स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। मानो, अपने स्वास्थ्य की ही आपने उस सर्वमेध-यज्ञ में अन्तिम आहुति दी थी, जिसका अलौकिक अनुष्ठान आपने अपने जीवन रूपी यज्ञकुण्ड में किया था। आप ने अपने को गुरुकुल के साथ इस प्रकार तन्मय कर दिया था कि आप के व्यक्तित्व और गुरुकुल के अस्तित्व को एक दूसरे से अलग करने वाली किसी स्पष्ट रेखा का अंकित करना सम्भव नहीं था। वैसे मुन्शीराम जी के हृदय में इस सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान की भावना बहुत पहले ही पैदा हो चुकी थी। सम्वत् १९४७, सन् १८९१, की पंजिका के ५ पौष, १२ जनवरी, के पृष्ठ में लिखा हुआ है—"मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिये बड़े तप-युक्त आत्मसमर्पण की आवश्यकता है। बार-रूम में वकील भाइयों के साथ इस पेशे के धर्माधर्म विषय में बातचीत हुई। मैं बार बार अपने आत्मा से प्रश्न कर रहा हूं कि वैदिक धर्म की सेवा का व्रत धारण करते हुए क्या मैं वकील रह सकता हूं? मार्ग क्या है? कौन बतलाएगा? अपने स्वामी परम पिता से ही कल्याण-मार्ग पूछना चाहिये। यह संशयात्मकता ठीक नहीं। अपने देश तथा धर्म की सेवा के लिये पूरा आत्म-समर्पण करना चाहिये। परन्तु परिवार भी एक बड़ी रुकावट है। सन्दिग्ध

अवस्था में हूं। कुछ निश्चय शीघ्र होना चाहिये। कृष्ण भगवान् ने कहा है—'संशयात्मा विनश्यति'। पिता! तुम ही पथ-प्रदर्शक हो।" यही नहीं, एक वर्ष पहिले सम्वत् १६४६ के १५ माघ की पंजिका में भी लिखा हुआ है—"गृहस्थ मुझे अन्तरात्मा की आवाज़ सुनने से रोकता है, नहीं तो बहुत काम हो सकता। फिर भी जो कुछ कर सकता हूं, उसके लिये परमात्मा को धन्य-वाद है।" ऐसे उद्धरण और भी दिये जा सकते हैं और उनकी समर्थक कुछ घटनायें भी, किन्तु इतने ही से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुन्शीराम जी, गृहस्थ और वकालत दोनों के बन्धन काट कर, देश और धर्म की वेदी पर पूरे आत्म-समर्पण अथवा सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान की तय्यारी बहुत पहिले ही से कर रहे थे। इसी लिये पतिव्रता पत्नी के असामयिक देहावसान के बाद पैंतीस-छत्तीस वर्ष की साधारण आयु, छोटे-छोटे बच्चों के लालन-पालन की विकट समस्या और मित्रों व सम्बन्धियों का सांसारिक प्रलोभनों से भरा हुआ अत्यन्त आग्रह होने पर भी मुन्शीराम जी फिर से गृहस्थ में फंसने का विचार तक नहीं कर सकते थे। निवृत्ति के मार्ग की ओर मुंह किये हुए महात्मा के लिये प्रवृत्ति के मार्ग का अवलम्बन करना सम्भव नहीं था। इसी से गुरुकुल की सेवा में आत्म-समर्पण करने का अवसर उपस्थित होने पर फलती-फूलती वकालत भी रुकावट नहीं बन सकी। राज-भवन की मोह-माया और ममता के सब बन्धन एक साथ तोड़

कर घोर तपस्या के लिये जङ्गल का रास्ता पकड़ने वाले बुद्ध के समान मुन्शीराम जी ने भी, वेद की इस वाणी को हृदयङ्गम करते हुए कि 'उपव्हरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत' चण्डी पहाड़ की तराई में हरिद्वार की गंगा के उस पार विकट जंगलों का रास्ता पकड़ा। कहते हैं, त्यागी दयानन्द ने भी सन १८२४ के कुम्भ के बाद सर्वत्यागी हो कर केवल लँगोटी रख तपस्या को पूर्णता तक पहुंचाने के लिये इन्हीं जंगलों का रास्ता पकड़ा था। गुरुकुल की वह भूमि, मुन्शीराम जी के सर्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान की यज्ञभूमि होने से, प्राचीन ऋषि-मुनियों की दण्डकारण्य की भूमि के समान ही आप के लिए 'तपोभूमि' बन गई। उठती हुई आयु के वैभव-सम्पन्न होने के जीवन के सर्वश्रेष्ठ भाग को उस बीहड़ जंगल में गुरुकुल के रूप में पूर्ण-स्वतन्त्र-उपनिवेश बसाने में लगा देने के कारण उस भूमि को आपकी 'कर्मभूमि' कहना चाहिये। गंगा की धारा के प्राकृतिक कोप के प्रतिकूल एक नयी सृष्टि की रचना करने वाले महात्मा मुन्शीराम जी ही उस भूमि के ब्रह्मा थे। उस भूमि का छोटे से छोटा परिवर्तन भी आपकी आंखों के सामने हुआ था। गुरुकुल की वाटिका में लगाये गये एक-एक पौदे और उसमें बखेरे गये एक-एक बीज को आपका आशीर्वाद प्राप्त था। उस भूमि में खड़े किये गये मकानों की नींव तक में भरी हुई एक-एक रोड़ी और उस रोड़ी पर जमाई गई एक-एक

ईंट में आपके त्याग की भावना कुछ ऐसी समाई हुई थी, जैसे आप ने अपने हाथों से ही उन को चुना था। घूमने की सड़कें, खेलने के मैदान और आश्रम तथा विद्यालय के दालान, सारांश यह कि गुरुकुल की सब की सब रचना आपके महान व्यक्तित्व की जीती-जागती निशानी थी। ब्रह्मचारी और कर्मचारी ही नहीं, उस भूमि के पशु, पक्षी, वनस्पति और जंगम सृष्टि तक में आपके सर्वस्व अर्पण की स्पष्ट छाया दीख पड़ती थी। मुन्शीराम जी के लिये यह सर्वस्व-अर्पण अथवा सर्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान 'एक विस्तृत गृहस्थ का बोझ' था। आपके सार्वजनिक जीवन के जिस भाग को इस जीवनी में 'वानप्रस्थ' का नाम दिया जा रहा है, उसके लिये आप कहा करते थे—'मैं अधिकतर गृहस्थ में फँस गया हूं।' आपका यही विस्तृत गृहस्थ 'गुरुकुल कांगड़ी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२. कांगड़ी में गुरुकुल

महात्मा मुन्शीराम जी के सर्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान के लिये यजमान भी आपको आपके ही सरीखे एक उदाराशय महानुभाव सहज में मिल गये। उन्होंने इस यज्ञ को सफल बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी। हरिद्वार के पार चण्डी पर्वत की तराई का स्थान मुन्शीराम जी को कुछ ऐसा जंच गया था कि पंजाब में

कई स्थानों पर मुफ़्त मिलने वाली भूमि भी उसकी तुलना में आप को नहीं जँचती थी। आप के ही आग्रह को मानते हुए २६ जुलाई सन् १६०० को आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग-सभा ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि हरिद्वार के पास गुरुकुल के लिये ज़मीन ख़रीद कर मकान आदि बनाये जायें। प्रथम अधिष्ठाता मुन्शीराम जी नियुक्त किये गये और ज़मीन ख़रीदने, मकान बनवाने तथा अध्यापकों आदि की नियुक्ति का सब काम भी आप पर ही छोड़ा गया। पर, यहां वैसी अनुकूल भूमि का मिलना इतना सहज नहीं था। जो भूमि पसन्द की जाती थी, उसकी क़ीमत इतनी चढ़ा-बढ़ा कर मांगी जाती थी कि उसका सौदा पटना कठिन हो जाता था। नजीबाबाद के रईस स्वनामधन्य चौधरी मुन्शी अमनसिंह जी के मन में कुछ ऐसी पवित्र भावना पैदा हुई कि उन्होंने लगभग उसी स्थान पर, जो मुन्शीराम जी के मन में बैठ चुका था, अपना कांगड़ी-गांव और उस के आस-पास की सब १२०० बीघा भूमि उस पवित्र कार्य के लिये अर्पण करने का सङ्कल्प कर लिया। पहिले जब यह समाचार मुन्शीराम जी तक पहुँचाया गया, तब आपने समझा कि पड़ी हुई जंगली ज़मीन के पैसे खड़े करने को ही यह प्रस्ताव किया गया है। फिर चौधरी जी ने नजीबाबाद-आर्यसमाज के मार्फ़त आर्य-प्रतिनिधि-सभा-पंजाब को अपने शुभ-सङ्कल्प की सूचना दी। इस पर २२ अक्तूबर सन् १६०१ को सभा में यह

स्वर्गीय श्री मुन्शी अमनसिंह जी

आपने भी गुरुकुल-विश्वविद्यालय-कांगड़ी के लिये अपना गांव और सर्वस्व अर्पण कर दिया था

अन्तिम निश्चय किया गया कि चौधरी जी की उदारता के लिये उनको धन्यवाद दिया जाय और उनकी दी हुई भूमि में मकान आदि बनाकर आगामी होली की छुट्टियों में २१, २२, २३ और २४ मार्च सन् १९०२ को गुरुकुल का उद्घाटनोत्सव किया जाय। २० नवम्बर को मुन्शीराम जी ने कनखल पहुँच कर नजीबाबाद वालों की कोठी में डेरा जमा लिया। हिंसक तथा भयानक जानवरों से घिरे हुए, दिन में भी मनुष्यों के लिये दुर्गम, जंगल को साफ़ करा-कर फूंस की कच्ची झोपड़ियां खड़ी की जाने लगीं और उद्घाटनोत्सव की तय्यारियां बड़े उत्साह के साथ होने लगीं। ऐसा अनुमान किया गया कि उत्सव पर कम से कम एक हज़ार यात्री अवश्य पहुँचेंगे। इसलिये उत्सव के खर्च के लिये दो हज़ार रुपए की अपील की गई। रुपया आना शुरू होगया और वर्षों की आशा को मूर्त रूप में देखने की उत्सुकता से प्रेरित आर्य-पुरुष होली की छुट्टियों के दिन अंगुलियों पर गिनने लगे। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार इस उत्सव पर भी एक बड़ा विघ्न आ उपस्थित हुआ। हरिद्वार में प्लेग फैल गया। १९ जनवरी सन् १९०२ को अन्तरङ्ग-सभा को विवश होकर यह निर्णय करना पड़ा कि उद्घाटन का उत्सव सार्वजनिक रूप में न करके निजी तौर पर किया जाय; उत्सव के लिये आया हुआ रुपया दाताओं को लौटा दिया जाय और यदि वे स्वीकार करें तो ब्रह्मचारियों को गुजरांवाले से कांगड़ी

लाने का खर्च उस रुपये से पूरा किया जाय। अन्तरङ्ग-सभा के इसी अधिवेशन में ब्रह्मचारियों को गुजरांवाले से कांगड़ी लाने का भी निश्चय किया गया। समाचारपत्रों में यह सूचना दे दी गई कि किसी को भी निजी तौर पर निमन्त्रण नहीं दिया जायगा और किसी के ठहरने का प्रबन्ध भी नहीं किया जा सकेगा। जो कोई भी आवे, अपने कष्ट का ध्यान रख कर आवे और अच्छा हो यदि स्त्रियों तथा बच्चों को साथ में न लाया जाय।

गुरुकुल के चौदहवें वार्षिक-उत्सव पर अपील करते हुए महात्मा मुन्शीराम जी ने उस दृश्य का उत्साहप्रद वर्णन किया था, जब कि ३४ बालकों के साथ उन्होंने हिंस्र पशुओं से घिरे हुए इस सघन वन में पहिली बार प्रवेश किया था। उस दृश्य की कल्पना ही कितनी मधुर, सुन्दर और उत्साहप्रद है ? जिन को उस दैवी दृश्य को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे सचमुच धन्य हैं। गुजरांवाले से रेल के रिज़र्व डब्बे में सब ब्रह्मचारी आचार्य पंडित गंगाप्रसाद जी के साथ विदा होकर फाल्गुन बदी १० सम्वत् १६५८, २ मार्च सन् १६०२, को मध्यान्ह के बाद लगभग शाम को ४ बजे हरिद्वार स्टेशन पहुँचे। मुन्शीराम जी और उनके उन दिनों के अन्यतम साथी, गुरुकुल में 'भण्डारी' के नाम से प्रसिद्धि पाये हुए, श्री शालिग्राम जी जालन्धर से मण्डली के साथ होगये थे। आगे आगे ऋषि दयानन्द का बड़ा

चित्र और 'ओ३म्' का झण्डा था। ब्रह्मचारी पंक्ति बांधे हुए वेद मन्त्रों का पाठ करते हुए हरिद्वार के कुछ भाग और कनखल के मुख्य बाज़ारों में से होते हुए निकले। लोगों ने समझा कि दयानन्दियों का भी यहीं कहीं कोई अखाड़ा खुलने वाला है, गुरुकुल की उनको कुछ भी कल्पना नहीं थी। सब बालकों और उनके साथ के कार्यकर्ताओं में बड़ा उत्साह था। चार मील चलने के बाद भी किसी ने थोड़ी सी भी थकान अनुभव नहीं की। गुरुकुल-भूमि पहुँच कर सब ने गंगा में स्नान किया और बड़े आनंद के साथ भोजन किया। वस्तुतः इसी दिन गुरुकुल की स्थापना हुई थी। उस समय वहां केवल थोड़ी-सी झोपड़ियां थीं, जो किसी प्राचीन ऋषि-आश्रम की याद दिलाती थीं। आंधी और वर्षा का इतना प्रकोप था कि कोई भी दिन शांति से नहीं बीतता था। जंगल भी ऐसा भयानक था कि गुरुकुल से जिस कांगड़ी गाँव को पहुँचने में अब केवल पांच मिनट लगते हैं, उस समय डेढ़ घंटा से कम न लगता था। गंगा के उस पवित्र तट पर, जिस पर पीछे दिन-रात ब्रह्मचारी खेला और घूमा करते थे, शाम की अँधियारी के बाद अकेले जाना उस समय एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य था।

इस प्रकार स्थापना हो जाने पर भी उद्घाटन का उत्सव होली की छुट्टियों में २१, २२, २३ और २४ मार्च को हुआ। बिलकुल निजी तौर पर किये जाने और किसी भी सज्जन को

निमन्त्रण-पत्र न भेजने पर भी उत्सव पर पांच सौ आर्य स्त्री-पुरुष पहुँच ही गये थे। पहिले तीनों दिन सवेरे होम और मध्यान्होत्तर सत्संग होता रहा। चौथे दिन फाल्गुन पूर्णमासी को ४५ ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ-संस्कार हुआ और चैत्र बदी प्रतिपदा को नियमपूर्वक पढ़ाई शुरू होगई। चारों दिन के होम में एक सौ रुपया ख़र्च हुआ और वेदारम्भ संस्कार के बाद ६०० रुपया भिक्षा में प्राप्त हुआ। आर्य-प्रतिनिधि-सभा के उस समय के प्रधान श्री रामभजदत्त चौधरी, स्वामी दर्शनानन्द, वज़ीरचन्द जी विद्यार्थी आदि के व्याख्यान और प्रवीणसिंह जी तथा बृजलाल जी के भजन हुए। धर्मवीर स्वर्गीय पंडित लेखराम जी की वीर पत्नी ने दो हज़ार रुपये दान में दिये। इस रक़म के अलावा चार सौ और भी जमा हुआ। जो संस्था आज विश्व-विद्यालय के रूप में देश की स्वतन्त्र शिक्षण-संस्थाओं में प्रमुख मानी जा रही है, जिस ने शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परीक्षण को सफल कर दिखाया है, जिस ने शिक्षा-कला के विशेषज्ञ लोगों के विचार तथा आदर्श को भी बदल दिया है और जो अमर-शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के हृदय की सन्तान होने से—'हृदयादधिजायसे'—उनका एकमात्र वंशधर-स्मारक है, उसके प्रारम्भ, स्थापना अथवा उद्घाटन की कहानी इतनी-सी ही है। संसार में सभी शुभ कार्यों का प्रारम्भ प्रायः बहुत छोटे से होता है। गुरुकुल इस समय जितना विशाल अथवा महान दीख

पड़ता है उसका प्रारम्भ उतना ही अल्प अथवा छोटा था। हज़ारों को अपनी शीतल छाया का स्वर्गीय सुख पहुँचाने वाले बट वृक्ष का बीज कितना छोटा होता है ? आज बटवृक्ष से भी अधिक फैले हुए गुरुकुल का बीज उसके बीज से भी छोटा था।

बाद में मुन्शी अमनसिंह जी ने भी गुरुकुल के लिये सर्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर डाला और अपनी जमा की हुई सब रक़म भी गुरुकुल की भेंट कर दी। वह रक़म ग्यारह हज़ार रुपया थी।

३. विस्तार

गुरुकुल के विस्तार की कहानी बहुत रोचक, विस्तृत, शिक्षा-प्रद और महत्वपूर्ण है। गुरुकुल का विस्तार और उस का इस समय का रूप स्वतः ही एक ग्रन्थ हैं। उस ग्रन्थ को इस जीवनी के कुछ पृष्ठों में देना सागर को गागर में भरने के समान दुःसाहस-मात्र है। इन पृष्ठों में उसका केवल परिचय दिया जा सकता है। उस नवजात शिशु के समान गुरुकुल बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ता चला गया, जिस का लालन-पालन माता-पिता द्वारा बड़ी सावधानी और तत्परता के साथ किया जाता है। किसान अपनी खेती और माली अपने बग़ीचे के लिये जितनी कड़ी मेहनत करता है, उससे कहीं अधिक कड़ी मेहनत गुरुकुल के लिये उस के संचालकों ने की थी। पहिले ही वर्ष में झोंप-ड़ियों के साथ-साथ कच्चे मकान बनाने शुरू कर दिये गए थे।

जो स्थान बाद में दुमंज़िला मकान बनने पर 'लाल किले' के नाम से मशहूर हुआ था, उसी स्थान पर गुरुकुल का मुख्य द्वार बना कर उसके उत्तर की ओर मुख्याधिष्ठाता, डाक्टर, सन्ध्या-हवन, पानी, औषधालय, आश्रम आदि के लिए कमरे बनाए गए थे और दूसरी ओर पढ़ाई के कमरे, स्टोर-रूम, भोजन-भण्डार, रसोई आदि के बनाने का विचार किया गया। शुरू-शुरू में इन इमारतों पर ७५०० रु० लगाया गया था। बाद में बीचो-बीच यज्ञशाला बनाई गई। स्थापना के समय की झोंपड़ियों के बाद गुरुकुल की पहिली इमारतों का इतना ही घेरा था। ब्रह्मचारियों की संख्या और आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ इमारतें भी बढ़ती चली गईं। सात-आठ वर्षों में ही यह घेरा केवल आश्रम के लिये छोड़ दिया गया और विद्यालय (पढ़ाई) के लिये दूसरी इमारतें खड़ी की गईं। विक्रमी सम्वत् १९६५ में महा-विद्यालय की स्थापना होने पर उसकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये महाविद्यालय के विशाल भवनों का निर्माण किया गया। महाविद्यालय का आश्रम भी अलग बनाया गया। आचार्य जी का बँगला, परिवार-गृह, बढ़ईखाना, गोशाला, उत्सव के लिये टिन-शड, व्यायामशाला, बगीचा, बगीचे में स्नानगृह आदि की क्रमशः ऐसी वृद्धि होती गई कि 'गुरुकुल' की अपने में पूर्ण, स्वायत्त और स्वतन्त्र उपनिवेश-सरीखी एक नयी ही बस्ती बस गई। महात्मा जी के एक मित्र-मजिस्ट्रेट मि०

हावर्ट चिट्ठी के पते पर आपको 'गवर्नर आफ गुरुकुल-कालोनी' लिखा करते थे।

सम्वत् १९६४ में अधिकारी-परीक्षा का सूत्रपात हो कर १९६५ में गुरुकुल में महाविद्यालय-विभाग की स्थापना हुई। गुरुकुल की परीक्षाओं में अधिकारी परीक्षा ही सब से अधिक कठिन समझी जाती है। सम्वत् १९६८ में गुरुकुलने विश्वविद्यालय का रूप धारण किया, जब कि दो स्नातकों को 'विद्यालंकार' की पदवी से विभूषित कर उनको प्रमाणपत्र दिया गया। गुरुकुल का दीक्षान्त-संस्कार भी गुरुकुल की एक विशेषता है। जब आचार्य स्नातकों को विदाई का सन्देश देता है, तब उत्सव के निमित्त पधारे हुए वहां उपस्थित दस-पन्द्रह हजार स्त्री-पुरुषों की आंखों से अश्रुधारा बह निकलती है। पहले दीक्षान्त-संस्कार पर दिये गये महात्मा जी के भाषण की कुछ पंक्तियां यहां दी जाती हैं। इन पंक्तियों से पाठकों को ब्रह्मचारियों के प्रति आचार्य की ममत्व की भावना और गुरुकुल के सम्बन्ध की उच्च आकांक्षा का भी परिचय मिलेगा। उस भाषण में आचार्य जी ने कहा था—"यज्ञरूप परमात्मा धन्य है, जिसकी अपार कृपा से आर्य-समाज के रचे हुए इस ब्रह्मचर्य-आश्रम-रूपी महान्-यज्ञ का पहिला चरण आज समाप्त होता है। आर्य जाति का कौन ऐसा सभासद है, जिसे सहस्रों वर्षों से लुप्त हुए इस दृश्य का आज पुनः प्रदर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो। गुरुकुल के स्नातको!

तुम गुरुकुल रूपी वृक्ष के पहले फल हो। सारे सभ्य संसार की आंखें तुम पर लगी हुई हैं। परमात्मा आशीर्वाद करें कि तुम संसार में धर्म और शान्ति फैलाने के साधन बन कर अपने कुल के यश को सारे संसार में फैलाओ। तुम्हारा कर्तव्य इस कारण भी अधिक है कि पीछे आने वाले स्नातक तुम्हारा अनुकरण करेंगे। उनके लिये केवल तुम ही आदर्श होगे। मैं जानता हूं कि तुम को बड़ी कठिनाई होगी, जब कि तुम्हारे लिये इस समय कोई जीवन आदर्श नहीं है। परन्तु मुझे पूर्ण आशा है कि तुम्हारे आचार्य और उन के दूसरे सहकारियों ने जो जो प्रयत्न तुम्हारी शिक्षा को पूर्णतया फलदायक बनाने के लिये किये हैं, वे अवश्य अत्युत्तम फल लावेंगे और तुम पीछे आने वाले स्नातकों के लिये एक अत्युच्च आदर्श बनोगे। मैं आज आर्यसमाज को भाग्य-शाली समझता हूं, जिसके लगातार यत्नों को सफलता प्राप्त हुई है। आर्यसमाज के जिन सभासदों और सेवकों ने कठिन से कठिन आंधियों का भी सामना करते हुए अपने विश्वास को दृढ़ रखा, उन्हें आज अपना सिर परमात्मा के सामने धन्यवाद के साथ झुका देना चाहिये। इस यज्ञमण्डप में उपस्थित देवियों और सभ्य पुरुषों से मेरी प्रार्थना है कि वे सब एकत्रित होकर इन स्नातकों को आशीर्वाद दें, जिस से वे अपने धर्म और अपने देश के यश को देश-देशांतरों में पहुंचाने में कृतकार्य हों। हे करुणामय दयालु पिता! तुम वीर्य और ज्योति के भण्डार

हो। हम सब को बल दो कि हम वीर्यवान् होकर उस तेज को धारण करें जिस के दृश्य-मात्र से सब दुख हम से दूर हो जांय।" कितने मार्मिक, हृदयस्पर्शी और भावपूर्ण शब्द हैं! जिस दीक्षांत-संस्कार पर महात्मा जी ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे, उस के हृदयग्राही दृश्य की कल्पना करना कुछ कठिन नहीं है।

सम्वत् १९६७ में कांगड़ी-गांव का गुरुकुल का वह स्थान बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिये इतना अपर्याप्त जंचने लग गया था कि कुछ श्रेणियों को दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये दूसरे स्थान की खोज की जाने लगी थी, किन्तु शाखा-गुरुकुलों के खुलने का उपक्रम शुरू हो जाने से वह प्रश्न बिना किसी कठिनाई के हल हो गया।

४. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

गुरुकुल का प्रबन्ध शुरू से ही पञ्जाब की आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग-सभा के आधीन है। पर आंतरिक प्रबन्ध की सब जिम्मेवारी मुख्याधिष्ठाता पर है और शिक्षा का प्रबन्ध आचार्य के आधीन है। सम्वत् १९६६ में अध्यापक-सभा और उपाध्याय-सभा की स्थापना की गई। इन सभाओं से न केवल प्रबन्ध और पढ़ाई की व्यवस्था में ही सहायता मिलती थी, किन्तु गुरुकुल के लिये चन्दा इकट्ठा करने के काम में भी

समय-समय पर अच्छी सहायता मिलती रहती थी। छोटे से छोटे अध्यापक ही नहीं, साधारण से साधारण कर्मचारी से लेकर ऊपर तक सब के सब एक ही भावना से प्रेरित होकर अपने कर्त्तव्य-पालन में लगे रहते थे। एक बड़े परिवार की तरह गुरुकुल का काम चलता था। मशीन के पुर्ज़ों की तरह सब अपने अपने कर्त्तव्य-पालन में दत्तचित्त रहते थे। झाड़ू लगाने वाला मेहतर और चपरासी भी गुरुकुल को अपना समझता था। बात यह थी कि महात्मा जी की आंतरिक भावना का सब पर ऐसा ही असर पड़ता था, जैसे कि सूर्य के प्रकाश से अन्य सब नक्षत्र प्रकाशित होते हैं। सत्तरह वर्ष तक महात्मा जी ही गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य रहे। आप की तपस्या, त्याग, सेवा और कर्त्तव्य-पालन की भावना छोटे से छोटे कर्मचारी में भी समाई हुई थी।

मुख्याधिष्ठाता के नीचे प्रत्येक श्रेणी पर दिन-रात चौबीस घण्टों के लिये एक अधिष्ठाता रहता है, जो कि थोड़ा-बहुत पढ़ाई का काम भी करता ही है। यह अधिष्ठाता मुख्याधिष्ठाता का ऐसा प्रतिनिधि होता है कि प्रत्येक ब्रह्मचारी अपने को मुख्याधिष्ठाता के ही आधीन समझता है। सात-आठ वर्ष की आयु में माता-पिता को छोड़ कर शहरों से दूर उस जङ्गल में जाकर रहना, दो-चार दिन में ही माता-पिता आदि सब को भूल जाना और उनके अभाव को कभी स्वप्न में भी अनुभव न करना

उस पितृ-प्रेम का ही परिणाम समझना चाहिये, जो उनको गुरुकुल में मुख्याधिष्ठाता के प्रतिनिधि अधिष्ठाताओं से मिलता है। अधिष्ठाताओं का अपने शिष्यों के प्रति स्नेह, ममता और अपनापन गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की अन्तरात्मा है। महात्मा मुन्शीराम जी तो उस प्रेम, ममता और अपनेपन की साक्षात् प्रतिमा थे। छोटे-छोटे बालकों के साथ वे बालकों की तरह ही मिलते और उनमें जाकर अपने को भी भूल जाते थे। बड़े ब्रह्मचारियों के साथ ही नहीं, छोटों के साथ भी गेंद, कबड्डी, कोटला-छपाकी आदि खेलना आपको अपने बड़प्पन के प्रतिकूल नहीं मालूम होता था। गुरुकुल के उत्सव पर प्रायः सभी ब्रह्मचारियों के संरक्षक-सम्बन्धी उनसे मिलने के लिये गुरुकुल आते हैं। सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी संरक्षक के न आने से एक बार बड़ा उदास हो गया। महात्मा जी ने यह समाचार मालूम होते ही उसको अपने पास बंगले पर मिलने के लिये बुलाया। ब्रह्मचारी बहुत हँसता हुआ लौट कर आया और आकर अपने साथियों से बोला—'हम भी अपने पिता जी से मिल आये।' ऐसी अनेक घटनाएं प्रायः घटती रहती थीं। इस पितृ-प्रेम का ही यह परिणाम हुआ कि स्नातक होने के बाद भी ब्रह्मचारी आपको 'पिता जी' के नाते से ही पत्र लिखते थे और अपने को 'आपका पुत्र' लिखने तथा कहने में विशेष गर्व अनुभव करते थे। हवन-सन्ध्या, भोजन, स्नान, खेल

आदि ब्रह्मचारियों के सब दैनिक व्यवहार का वे स्वयं ही निरीक्षण किया करते थे। विशेष अवसरों पर होने वाले खेलों का निरीक्षण और संचालन तक स्वयं करते थे। विजयदशमी पर होने वाले तीन-चार दिन के सब खेलों में आप बराबर उपस्थित होते थे। बाहिर से किसी टीम के गुरुकुल आने पर अथवा गुरुकुल की टीम के कहीं बाहर जाने पर आपका हृदय ब्रह्मचारियों की जीत का समाचार जानने के लिये बराबर उत्सुकता रहता था। अपने खिलाड़ियों की हिम्मत का आपको यह [illegible] गर्व था कि वे कहीं हार नहीं सकते।

आधीरात को उठ कर भी सब आश्रम का एक चक्कर आप अवश्य लगाया करते थे। ब्रह्मचारियों को अपने हाथ से भोजन कराने और भोजन के समय बराबर उपस्थित रहने में विशेष आनन्द अनुभव करते थे। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र से भी अधिक ज़िम्मेवारी का है। महात्मा जी इस ज़िम्मेवारी को जिस तत्परता के साथ निभाते थे, उसी का यह परिणाम होता था कि अधिष्ठाताओं तथा अध्यापकों को भी उसके निरीक्षण में सदा तत्पर रहना पड़ता था। एक बहुत पुराने अधिष्ठाता कर्तव्यनिष्ठ होते हुए भी केवल इस लिये गुरुकुल से अलग किये गये कि वे ब्रह्मचारियों को बेजा पीटते थे और बार-बार कहने पर भी उन्होंने अपने इस स्वभाव को नहीं बदला। एक दूसरे अधिष्ठाता को ब्रह्मचारियों के भोजन पर अनावश्यक प्रतिबन्ध लगा

कर कठोर व्यवहार करने के कारण पृथक् किया गया था। प्रतिनिधि-सभा में उनके पृथक करने का प्रश्न उपस्थित होने पर महात्मा जी ने इन कारणों को प्रगट करने में संकोच नहीं किया।

एक निजी पत्र में आप ने अपनी गुरुकुल की दिनचर्य्या के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था—"मुझे एक पल का भी अवकाश नहीं है। प्रातः ५॥ बजे लिखना आरम्भ करता हूं। ११॥ बजे तक लिखने, डाक देखने और उत्तर लिखवाने में लगा रहता हूं। इसी बीच में दो घण्टे पढ़ाता हूं। भोजन करके आध घण्टा आराम करके फिर ५ बजे तक वही मेज पर बैठ कर काम। ५ बजे से फिर मिस्तरी-ख़ाना, इमारत, वाटिका, खेलों इत्यादि का निरीक्षण करता हूं। रात के ६ बजे तक यही सिलसिला रहता है। यह एक वार लिखता हूं। इसलिये नहीं कि शिकायत है, प्रत्युत इसलिये कि निजू पत्र न लिखने के कारण समझ में आजावें।" सच कहा जाय तो गुरुकुल में महात्मा जी का निजू जीवन कुछ था ही नहीं। कई वार रात को उठ कर घण्टों गुरुकुल के सम्बन्ध में विचार करते रहते थे और कभी कभी आप की आंखों से आंसू तक बहने लग जाते थे।

किसी ब्रह्मचारी को कभी कोई कड़ी सज़ा देने का अवसर नहीं आता था। कभी एक-आध-वार ऐसा कोई अवसर आया भी तो आप को उसके लिये मर्मान्तक वेदना होती थी। ब्रह्म-

चारी को सज़ा क्या देते थे, साथ में अपने को भी सज़ा दे लेते थे। सब से बड़ी सज़ा यह होती थी कि ब्रह्मचारी अनुभव करे कि उसने अपराध किया है और भविष्य में वैसा अपराध न करने का वह संकल्प करे।

किसी ब्रह्मचारी के बीमार पड़ने पर महात्मा जी के लिये रात को सोना भी दूभर हो जाता था। उसके पीछे रात-दिन एक कर देते थे। सम्वत् १९६५ में गुरुकुल में टाइफ़ाइड की बीमारी फैली। ब्रह्मचारी नवीनचन्द्र का उसी बीमारी में देहांत भी होगया। अन्य कई ब्रह्मचारियों की अवस्था भी चिन्ताजनक होगई थी। ४ भाद्रपद सम्वत् १९६५ के 'प्रचारक' में गुरुकुल-समाचार के शीर्षक में ब्रह्मचारी नवीन की मृत्यु का जो दुःखपूर्ण समाचार लिखा गया था, उसकी कुछ पंक्तियों से पता चलता है कि ऐसी बीमारी के दिनों में महात्मा जी कितने चिन्तित रहते थे। वे स्वयं लिखते हैं—"१३ अगस्त के दिन को उसे, ब्रह्मचारी भीष्म को, दस्त लगे। मैं पहिली रात का जगा हुआ अभी दो घंटे ही सोया था कि फिर बुलाया गया। रात भर फिर जागते व्यतीत हुए। एक और ब्रह्मचारी को दस्त थे और दर्द कभी इधर कभी उधर। डाक्टर सुखदेव जी, जो ६० रातों के जागे हुए थे, बड़े ही कष्ट में रहे।"

एक बार ब्रह्मचारी परमानन्द पहाड़ी पर जंगल में वृक्ष से गिर पड़ा। उसकी अवस्था इतनी अधिक चिन्ताजनक होगई कि

उसके बचने की आशा नहीं रही। उसके लिये आप ने कितनी ही रातें जाग कर बिताईं। इसी प्रकार चीते के शिकार में ब्रह्मचारी महेन्द्र घायल होगया। उसकी अवस्था भी बहुत चिन्ताजनक होगई। उसको औषधोपचार के लिये लाहौर भी भेजना पड़ा। उसके लिये आप ने न मालूम कितने दिन एक सरीखी चिन्ता में बिताये थे? लाहौर से उसके सर्वथा निरोग होने का समाचार आने पर गुरुकुल में उत्सव मनाया गया था। वह उत्सव महात्मा जी के महीनों बाद चिन्तामुक्त होने की निशानी था।

तीन सौ ब्रह्मचारियों में आप प्रत्येक का नाम तो जानते ही थे, उनमें से प्रत्येक के स्वास्थ्य और उसकी पढ़ाई की सब रिपोर्ट भी आपकी जिव्हा पर उपस्थित रहती थी। ब्रह्मचारियों से इतना अधिक परिचित रहते थे कि उनके संरक्षकों के गुरुकुल आने पर उनकी चाल अथवा सूरत से ही उनको पहचान लेते थे और परिचय देने से पहिले ही पूछ लेते थे कि क्या आप अमुक ब्रह्मचारी से मिलने आये हैं?

ब्रह्मचारियों को खतरों से खेलने का आदी बना कर साहसी बनाने का आप विशेष ध्यान रखते थे। आस-पास की दुर्गम पहाड़ियों की एक-एक चट्टान से ब्रह्मचारी परिचित थे। चारों ओर के घने जंगलों का एक-एक पत्ता ब्रह्मचारियों ने छाना हुआ था। गंगा की धारा-उपधाराओं की चप्पा-चप्पा गहराई-चौड़ाई ब्रह्मचारियों ने नापी हुई थी। जंगलों और पहाड़ों में घूमते हुए

कितनी ही बार ब्रह्मचारियों का सामना शेर-हाथी आदि से हुआ। पर, वह घूमना कभी बन्द नहीं किया गया। बरसाती बाढ़ की गंगा की तेज़ धारा में तैरते हुए कई बार ब्रह्मचारी डूबते-डूबते बचे। कभी-कभी मगरमच्छों से भी मुक़ाबला हुआ। पर, वह तैरना बराबर जारी रहा। मछलियों के समान तैरना ब्रह्मचारियों के लिये स्वाभाविक था। उसको सिखाने के लिये न कोई प्रबन्ध था और न कोई यत्न ही करना पड़ता था। दसवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी सत्यपाल बाढ़ के दिनों में बढ़ती हुई धारा के पार तो हो गया, पर लौट न सका। रात को नौ बजे सोने के समय बिस्तर ख़ाली देख कर उस की खोज की गई। पता चला कि ब्रह्मचारी पार ही रह गया है। महाविद्यालय के कुछ तैराक ब्रह्मचारी उसी समय पार गये और सत्यपाल को खोज लाये। इधर किनारे पर आते ही महात्माजी ने ब्रह्मचारीके सत्साहस के लिये उसकी पीठ ठोकी। चण्डी पहाड़ के ऊपर से शहतीरों के बेड़े बना कर तैरते हुए आने का ब्रह्मचारियों को विशेष शौक़ था। कभी-कभी दिन भर ब्रह्मचारी पानी में ही तैरते रहते थे। कई बार बाढ़ का भय इतना बढ़ जाता था कि गुरुकुल का जीवन संकटापन्न हो जाता था। ब्रह्मचारी मिट्टी की टोकरियां और फावड़े लिये हुए रातों जाग कर पानी का सामना करते थे। गुरुकुल के आस-पास के गांव फूंस के बने होने से उन में प्रायः आग लग जाती थी। कभी-कभी आधी रात को भी ऐसी

दुर्घटना हो जाती, तो ब्रह्मचारी 'एलार्म बैल' के बजते ही इकट्ठे हो कर उस गांव में जा पहुंचते थे। गुरुकुल में भी ऐसी दुर्घटनाएं कई बार हुईं। ऐसे अवसरों पर ब्रह्मचारी जान पर खेल कर भीषण अग्निकाण्ड का दमन बड़े साहस के साथ करते थे। एक समय नजीबाबाद के जंगलों में डाकुओं ने अड्डा आ जमाया। चारों ओर 'त्राहि-त्राहि' मच गई। गुरुकुल के पास से ही हो कर वे हरिद्वार और कनखल पर भी हाथ साफ़ कर आया करते थे। गुरुकुल आने का उन्हें कभी साहस नहीं हुआ। एक बार सुनने में आया कि कांगड़ी-गांव डाकुओं ने लूटना शुरू कर दिया है। बात की बात में महात्मा जी ब्रह्मचारियों का एक दल साथ लेकर वहां जा पहुंचे। संकट के ऐसे किसी भी समय में ब्रह्मचारियों को कमरों में बन्द करके सुरक्षित रखने का आपने विचार तक नहीं किया, अपितु ऐसे अवसरों को संकट का सामना करते हुए ब्रह्मचारियों में सत्साहस पैदा करने का साधन बनाते रहे। सांप-बिच्छू तो गुरुकुल के कोने-कोने में बिखरे हुए थे। बिच्छू डसने की दुर्घटनायें प्रायः होती रहती थीं। ज़हरीले से ज़हरीले महा भयानक काले फणी नाग कितने ही ब्रह्मचारी पकड़ते और मारते थे, कई बार अजगर भी पकड़े और मारे गये, पर गुरुकुल के समस्त जीवन में कभी एक भी दुर्घटना सांप के डसने की नहीं हुई। न कोई कभी पानी में डूबा, न जङ्गल में किसी हिंस्र पशु के आक्रमण का कभी कोई शिकार हुआ और न कभी ऐसी कोई

दूसरी ही दुर्घटना हुई। सब कुल-वासी इसको महात्माजी की तपस्या का पुण्य-प्रताप समझते थे। निःसन्देह, महात्माजी के व्यक्तित्व, आत्म-विश्वास और श्रद्धा का ऐसा ही कुछ अनहोना प्रभाव था कि गुरुकुल ऐसे सब सङ्कटों से बराबर बचा रहा। अठारह वर्ष में तीन सौ ब्रह्मचारियों में केवल दो मृत्यु हुईं। एक ब्रह्मचारी नवीन की, टाइफाइड़ की बीमारी से और दूसरी ब्रह्मचारी भीम की, टिहरी की यात्रा में पहाड़ पर से फिसल कर २५० फीट नीचे आ गिरने से। संकटों से घिरी हुई ऐसी जगह में ऐसा निरापद जीवन बिताने का अभिमान सिवा गुरुकुल के और किस संस्था को है ?

५. लोकप्रियता

गुरुकुल के वार्षिक उत्सव गुरुकुल की बढ़ती हुई लोकप्रियता की साक्षी हैं। सन् १९०३ में १० मार्च से १३ मार्च तक गुरुकुल का पहिला उत्सव हुआ था। उस में चार हज़ार स्त्री-पुरुष उपस्थित हुए थे, २० हज़ार चन्दा हुआ था और १९ ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार। दूसरा उत्सव २८ फरवरी से २ मार्च तक सन् १९०४ में हुआ था, जिस में पचास हज़ार की उपस्थिति थी, २१ हज़ार चन्दा और २१ नये ब्रह्मचारी भरती हुए थे। छठे उत्सव पर पचास हज़ार की उपस्थिति और ५४५०० रुपये का चन्दा हुआ था। सातवें पर साठ हज़ार

यात्री आये और ३ लाख २८ हज़ार रुपया जमा हुआ था। प्रत्येक उत्सव पर इस उपस्थिति तथा चन्दे में साधारणतया वृद्धि ही होती रही और वैसे भी दानी-मानी सज्जन गुरुकुल की आवश्यकताओं की निरन्तर पूर्ति करते रहे। इन उत्सवों की भी कुछ विशेषतायें हैं जिन का सम्बन्ध गुरुकुल के ही साथ है। इन उत्सवों का प्रबन्ध भारत के स्वराज्य का छोटा सा चित्र है। ५०-५० हज़ार की भीड़ का प्रबन्ध पुलिस की सहायता के बिना ऐसा सुन्दर और सन्तोषजनक होता है कि किसी की सुई तक चोरी नहीं जाती। अस्तेय-भाव इस उत्सव के अवसर पर लोगों में कुछ ऐसा जागृत होता है कि सोने-चांदी के आभूषण, बटुए आदि गिरे हुए या कहीं छूटे हुए भी किसी को मिलते तो वह कार्यालय में पहुंचा देता। एक बार एक व्यक्ति ने रिपोर्ट दी कि उस का ५०० रुपये का एक नोट, दस गिन्नी और पांच-पांच के दो नोट कहीं गिर गये हैं। थोड़े समय बाद दूसरा आया और वह सब रक़म कार्यालय में जमा करा गया। सतयुग की साक्षी देने वाली ऐसी कितनी ही घटनायें प्रति वर्ष उत्सव के अवसर पर प्रायः देखने और सुनने में आती थीं। पुस्तकों और खाद्य पदार्थों के अलावा कोई दूसरी चीज उत्सव पर नहीं बिक सकती। पुस्तकों के लिये भी कुछ नियम हैं। अश्लील, भ्रष्ट और गन्दा साहित्य गुरुकुल की सीमा में आना वर्जित है। खाद्य पदार्थों में विदेशी चीनी के सामान की दुकान नहीं आ सकती

और सब सामान का निर्खनामा भी गुरुकुल की ओर से नियत किया जाता है। गुरुकुल के उत्सव इस की स्पष्ट साक्षी हैं कि गुरुकुल का उत्सव आर्यसमाज के लिये कुम्भ का पर्व है और गुरुकुल आर्यसमाज की विद्या एवं बुद्धि का केन्द्र है।

गुरुकुल के उत्सव के ऐसे प्रबन्ध की प्रशंसा महात्मा गांधी ने सन् १९२४ में बेलगांव-कांग्रेस के सभापति के अन्तिम भाषण में करते हुए उस को कांग्रेस के लिए आदर्श बताया था। आपने कहा था—"मेरी राय में प्रतिनिधियों के खाने और रहने के खर्च के बारे में स्वामी श्रद्धानन्द जी से नसीहत लेनी चाहिये। मुझे याद है कि उन्होंने अपने गुरुकुल के सन् १९१६ के उत्सव पर आने वाले मिहमानों के लिये जिस तरह के फूस के छप्पर डलवाये थे, उस में दो हज़ार से अधिक खर्च नहीं हुआ था। भोजन के लिये दुकानें थीं। रहने के लिये किसी से कुछ भी खर्च नहीं लिया था। इस तरह कोई ४० हज़ार लोग गुरुकुल के मैदान में विना दिक्कत और प्रायः बिना किसी खर्च के रह सके थे। चाहे कांग्रेस उसकी हरफ़ बे-हरफ़ नकल न करे, किन्तु उस को ही सामने रख कर बेहतर और ज्यादह सस्ता इन्तज़ाम करना निहायत ज़रूरी है।"

उत्सवों से तो गुरुकुल के प्रति आर्य-जगत् के बढ़ते हुए प्रेम और आकर्षण का सामुदायिक परिचय मिलता है, किंतु ऐसी घटनायें भी कुछ कम नहीं हैं जिनसे लोगों के व्यक्तिगत प्रेम और

आकर्षण की साक्षी मिलती है। सम्वत् १९६८ के वैशाख मास में महात्मा जी को मुरादाबाद से महाशय लक्ष्मीनारायण जी का पत्र आया कि—"मुझ बूढ़े को यहां आकर दर्शन दीजिये और साथ ही कुछ भेंट भी ले जाइये।" महात्मा जी वहां पहुंचे तो वृद्ध महाशय ने तीन हज़ार का चैक उनके चरणों में गुरुकुल की भेंट चढ़ा दिया। इसी वर्ष २ ज्येष्ठ को आगरा के पेंशनर डिपुटी कलेक्टर ईश्वरीप्रशाद जी गुरुकुल पधारे। गुरुकुल का निरीक्षण करने के बाद महात्मा जी से कहा—"मुझे कुछ दान करना था। भारतवर्ष के सब विद्यालयों की रिपोर्ट आदि देखीं, किंतु कहीं भी वेदों की पढ़ाई का प्रबन्ध देखने में नहीं आया। यहां मेरा सन्तोष हो गया। बतलाइये किस काम में थोड़ा सा दान दूं, जो वेद पढ़ने वाले छात्रों के काम आवे?" थोड़ी बातचीत के बाद ही आप ने महात्मा जी के सामने ५१०० रुपए के पाउण्ड, नोट आदि का ढेर लगा दिया। ऐसे श्रद्धासम्पन्न सात्विक दानों की कितनी ही साक्षियां यहां दी जा सकती हैं। कितनी ही विधवा देवियों ने अपने भरण-पोषण की कुछ भी परवा न कर गुरुकुल को हज़ारों रुपया एक समय एक हाथ से दिया है। बाद में लाख-लाख की रक़म देने वाले और अपने अनुपम दान से गुरुकुल की एक-एक शाखा खुलवाने वाले भी कितने ही दानी पैदा होगये, पर फिर भी गुरुकुल आम जनता की संस्था है। सर्व-साधारण के भरोसे पर चलने वाली इतनी बड़ी कोई

दूसरी संस्था भारत में नहीं है। बढ़ते-बढ़ते गुरुकुल का ख़र्च प्रति वर्ष लाख-सवा लाख तक पहुँच गया, किंतु उस सब की पूर्ति के लिये आम जनता की उदारता का ही सहारा रहा है। गुरुकुल को अन्य संस्थाओं के समान न सरकारी कोष से कभी कोई सहायता प्राप्त हुई, न किसी नरेश को 'राजर्षि' का मान देकर गुरुकुल ने उससे लाखों की याचना की और न किसी लखपति अथवा करोड़पति की थैली का मुँह ही गुरुकुल के लिये खुला। सर्व-साधारण पर निर्भर करते हुए लाखों के ख़र्च को पूरा करना गुरुकुल की ऐसी विशेषता है, जो उसको अन्य सब संस्थाओं से ऊपर उठाये हुए है। यही विशेषता उसकी लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण है। इस लोकप्रियता की और भी अधिक उत्कृष्ट साक्षी यह है कि गुरुकुल के लिये जब भी कभी किसी सामान की ज़रूरत होती थी, 'प्रचारक' में सूचना देने पर वह सामान गुरुकुल पहुँच जाता था। थाली, लोटे, कटोरे और कपड़े तक की आवश्यकता की सूचनायें 'प्रचारक' में प्रायः पढ़ने में आती हैं। गुरुकुल सर्वसाधारण का है, इसीलिये उसको सर्वसाधारण के सामने अपनी छोटी से छोटी आवश्यकता को भी उपस्थित करने में कभी संकोच नहीं हुआ। इस प्रकार आवश्यकता-पूर्ति होने का एक दृष्टांत बहुत मनोरंजक है। सम्वत् १९५८ में, गुरुकुल की स्थापना के पहिले ही वर्ष में, गुरुकुल के लिये योग्य डाक्टर की आवश्यकता थी। 'प्रचारक'

में किसी ने लिख दिया कि यदि कोई डाक्टर अपनी सेवायें स्वेच्छाभाव से अर्पण नहीं कर सकता तो आर्य डाक्टरों को अपनी आमदनी में से डाक्टर का वेतन पूरा करना चाहिये। बस, पच्चीस-पच्चीस रुपये प्रति वर्ष देने के लिये कई डाक्टर तय्यार होगये।

गुरुकुल की शाखाओं से भी उसकी लोकप्रियता का पता लगता है। सब से पहिले मुलतान में वहां के रईस चौधरी रामकृष्ण जी की उदारता के फल-स्वरूप १३ फ़रवरी सन् १९०९ को गुरुकुल की पहली शाखा की स्थापना महात्मा मुन्शीराम जी के कर-कमलों द्वारा की गई। चौधरी जी ने ५० हज़ार की ज़मीन, २५ हज़ार का बाग़, ५ हज़ार की कोठी और ३ हज़ार नक़द इस शाखा के लिये दिया था। इसलिये उनके गांव के नाम पर इस का नाम 'शाखा-गुरुकुल-देवबन्धु' रखा गया था। दो-तीन वर्ष बाद चौधरी जी का मन बदल गया। इसलिये शहर से तीन मील की दूरी पर ताराकुंड के समीप ६५॥ बीघा भूमि लेकर शाखा का प्रबन्ध किया गया। पहिले दसवीं श्रेणी तक की पढ़ाई का वहां प्रबन्ध था। अब केवल आठवीं श्रेणी तक है।

दूसरी शाखा कुरुक्षेत्र में सम्वत् १९६९ की पहिली वैशाखको स्थापित हुई, इसकी आधारशिला की स्थापना भी महात्मा मुन्शी-रामजी ने ही की थी। यह थानेसर के रईस स्वर्गीय ज्योतिप्रसाद

की शुभ कामना का सुफल था। उन्होंने इस कार्य के लिये दस हज़ार नक़द और १०४८ बीघा भूमि देने की उदारता की थी। एक वर्ष बाद ही उनका देहांत होगया। वे अपने लगाये हुए पौदे को बढ़ता और फलता-फूलता हुआ नहीं देख सके। यह गुरुकुल भी आठ श्रेणियों तक का ही है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यहां का जल-वायु अत्युत्तम है। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद दिल्ली रहते हुए जब भी कभी विश्राम की आवश्यकता अनुभव होती थी, तब महात्मा जी यहां ही चले आते थे। उनको इस शाखा से कुछ विशेष प्रेम था। 'आदिम-सत्यार्थप्रकाश' और 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने का उपक्रम यहां ही बांधा गया था। एक यूरोपियन महिला ने आप को सौ रुपये यह कह कर दिये थे कि आप वह रक़म अपनी किसी प्रिय संस्था को दे दें। आप ने वे सौ रुपये इसी शाखा-गुरुकुल को दिये थे।

तीसरी शाखा गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ के नाम से सम्वत् १९७० में देहली से बारह मील की दूरी पर स्थापित की गई थी। स्वर्गीय दानवीर सेठ रग्घूमल जी ने अपने भाई की स्मृति में एक लाख की रक़म प्रदान कर इसकी स्थापना महात्मा जी के ही हाथों से करवाई थी। यह शाखा एक पहाड़ी पर स्थित है। ऐसा सुन्दर विशाल हवादार एकान्त आश्रम सम्भवतः किसी और शिक्षण-संस्था के पास नहीं है। ११०० बीघा गुरुकुल की अपनी भूमि है। इस शाखा को देहली-निवासी आर्य पुरुषों का गुरुकुल

कहा जाता है। यहां केवल मध्यम-विभाग, अर्थात् छठी से दसवीं श्रेणी तक, की पढ़ाई होती है।

चौथी शाखा गुरुकुल-मटिण्डू के नाम से हरियाणा-प्रदेश के रोहतक ज़िले में मटिण्डू गांव के पास जमुना नहर की एक शाखा के किनारे अत्यन्त रमणीक और एकान्त स्थान में स्थित है। इसकी आधार-शिला की स्थापना सम्वत् १९७२ में महात्मा जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद रखी थी। यह संस्था स्वर्गीय चौधरी पीरूसिंह के दान, वहां के आर्य पुरुषों के उत्साह और गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री निरञ्जनदेव जी विद्यालंकार के सतत-परिश्रम का शुभ परिणाम है। यहां शिक्षा निश्शुल्क दी जाती है। संरक्षकों से किसी भी प्रकार का कोई ख़र्च नहीं लिया जाता। अपने ढंग की यह निराली संस्था है।

पांचवीं शाखा गुरुकुल-रायकोट लुधियाना ज़िले में है। आश्विन बदी द्वादशी सम्वत् १९७६ को संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद महात्मा जी ने ही इसकी आधार-शिला रखी थी। यह स्वामी गङ्गागिरी जी महाराज के अध्यवसाय का सुफल है। यहां केवल चार श्रेणियों की पढ़ाई का प्रबन्ध है। साथ में उपदेशक-विद्यालय भी है।

गुजरात-प्रान्त में स्थित गुरुकुल-विद्यामन्दिर-सूपा गुरुकुल की बढ़ती हुई लोकप्रियता का सब से अधिक उज्ज्वल और

स्पष्ट साक्षी है। माघ शुक्ला त्रयोदशी सम्वत् १६८० तदनुसार १८ फरवरी १६२४ को महर्षि दयानन्द की जन्मशताब्दि की स्मृति में, गुजरात की प्रसिद्ध सरिता पूर्णा के तीर पर, सूपा नामक ग्राम के समीप, महात्मा जी ने ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद इसकी स्थापना की थी। यहां दशवीं श्रेणी तक की पढ़ाई का प्रबन्ध है। गुजरात के उत्साही आर्य पुरुषों विशेषतः श्री दयालजी लल्लुभाई, श्री झीणाभाई देवाभाई और गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक डा० ईश्वरदत्त जी विद्यालंकार के अनथक परिश्रम और उत्साह की साक्षी यह संस्था है।

इसके अलावा भटिण्डा, झज्झर (रोहतक), कमालिया (मिण्टगुमरी) आदि में भी गुरुकुल की शाखायें खुल चुकी हैं।

इस समय देहरादून में स्थित कन्या-गुरुकुल भी गुरुकुल की शाखा है। उसकी स्थापना दानवीर स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी के एक साथ एक लाख और प्रति मास पांच सौ देने का संकल्प करने पर २३ कार्तिक सम्वत् १६८० तदनुसार ८ नवम्बर १६२३ को दीवाली के शुभ दिन देहली में दरयागंज में एक कोठी किराये पर लेकर महात्मा जी द्वारा ही की गई थी। संस्था के दुर्भाग्य से सेठ जी का शीघ्र ही देहान्त हो गया और उन द्वारा उनके संकल्प के अनुसार संस्था को सहायता प्राप्त नहीं हुई। अब तक भी संस्था को आवश्यक स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकी है। फिर भी उक्त संस्था द्वारा आदर्श कार्य हो रहा है

और स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाली अपने ढंग की यह अकेली ही संस्था है।

इस प्रकार गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति परीक्षण की सीमा पार कर सफलता प्राप्त कर चुकी है। स्वतन्त्र रूप में भी देश में दर्जनों गुरुकुल चल रहे हैं। गुरुकुल के परीक्षण की इस सफलता और विस्तार का अथ से इति तक का सब श्रेय महात्मा जी के अनथक श्रम, अपूर्व साहस और अटूट धैर्य को ही है।

सम्वत् १९८० में गुरुकुल की पच्चीसवीं वर्ष-गांठ मनाई गई थी। उस समय तक २० लाख ७५ हज़ार रुपया गुरुकुल के लिये व्यय हो चुका था। ३४ ब्रह्मचारियों से शुरू होने वाले गुरुकुल में उस समय शाखाओं सहित कोई एक हज़ार बालक और बालिकायें शिक्षा ग्रहण कर रहीं थीं। इस समय तक २२५ से अधिक स्नातक गुरुकुल से निकल चुके हैं, जिनमें से अधिकांश देश-सेवा के ही काम में लगे हुए हैं और उन्होंने धर्म-प्रचार, समाज-सुधार, राजनीतिक-प्रगति, शिक्षा के विस्तार, साहित्य की उन्नति और पत्रों के सम्पादन आदि के क्षेत्रों में यश सम्पादन कर गुरुकुल के नाम को गौरवान्वित किया है। गुरुकुल के सम्बन्ध में तो महात्मा जी का स्वप्न पूरा नहीं हो सका था, किंतु यह बिना संकोच के कहा जा सकता है कि स्नातकों ने देश, धर्म और समाज की सेवा करते हुए अपने त्यागमय उच्च चरित्र से महात्मा मुन्शीराम जी अथवा स्वामी श्रद्धानन्द

जी को अपने सम्बन्ध में निराश नहीं किया। अधिकतर कुलपुत्रों के लिये उन को इतना गौरव और अभिमान था, जितना कि किसी भी पिता को अपने पुत्र के सफल जीवन के लिये हो सकता है।

६. भ्रम और विरोध

अल्प रूप में आरम्भ किये गये इस महान् कार्य को सफलता तक पहुँचाने के लिये महात्मा जी को आदि से अन्त तक बराबर विरोधी परिस्थितिमें से ही होकर गुज़रना पड़ा था। एक तो गुरुकुल को कालेज-दल वालों ने अपने मुक़ाबले में खड़ी की गई संस्था समझ कर उसके सम्बन्ध में भ्रम फैलाने और उसका विरोध करने में कोई बात उठा नहीं रखी। गुरुकुल की स्थापना होने के बाद पहिले ही वर्ष में पंजाब में कुछ इस प्रकार की निराधार बातें फैलाई गई थीं कि गुरुकुल में भोजन का ठीक प्रबन्ध नहीं है, मकानों में नमी बहुत अधिक है, बीमारों की देखरेख का कोई प्रबन्ध नहीं है, सब ब्रह्मचारियों के पेट फूल आये हैं, दस ब्रह्मचारियों की मृत्यु हो चुकी है और ७५ सैंकड़ा इस वर्ष में काल के ग्रास हो जायेंगे। ऐसी निराधार बातों का निराकरण 'प्रचारक' द्वारा निरन्तर किया जाता रहा। उनसे हानि तो अवश्य हुई, किंतु ऐसी हानि नहीं हुई जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती थी।

विरोधी दल वालों की अपेक्षा अपने ही दल के लोगों द्वारा विरोध निस्सन्देह ऐसा था, जो गुरुकुल की उन्नति और उसके विकास के लिये वास्तव में बाधक साबित हुआ। कुछ लोग तो सभी स्थानों में ऐसे होते हैं, जिनको भले कार्यों का विरोध किये बिना सन्तोष नहीं होता। सम्भवतः ऐसे ही कुछ लोगों ने गुरुकुल की स्थापना होते ही उसके मार्ग में कांटे बखेरने शुरू कर दिये थे। महात्मा जी पर ग़बन और कई रक़में बेजा खर्च करने का भी दोष लगाया गया था। सन् १९०५ तक के प्रतिनिधि-सभा और गुरुकुल के आय-व्यय को लेकर सन्देह, भ्रम तथा विरोध का इतना बड़ा तूफ़ान खड़ा किया गया कि २७ मई १९०५ की प्रतिनिधि-सभा में सभा के प्रधान होते हुए भी उनके प्रतिकूल इस आशय के प्रस्ताव उपस्थित किये गये कि—"सात प्रतिनिधियों द्वारा पेश की गई निम्नलिखित बातों के लिये जांच-कमेटी नियुक्त की जाय—(१) लाला मुन्शीराम इस योग्य नहीं हैं कि उन पर सार्वजनिक कामों के लिये दान में दिये जाने वाले रुपये के सम्बन्ध में विश्वास किया जा सके, क्योंकि उन्होंने आर्य-प्रतिनिधि-सभा के १४ हज़ार रुपये का ग़बन किया है; और (२) न लाला मुन्शीराम किसी धार्मिक-संस्था के ज़िम्मेवार और विश्वसनीय पद के अधिकारी बनाये जाने के योग्य हैं, क्योंकि अपने विरोधी सज्जनों पर झूठे दोष लगाने तथा उनको गढ़ने की उनकी आदत है, जिससे सर्व-

साधारण में उनके विरोधियों की कुछ प्रतिष्ठा न रहे।" पर प्रतिनिधि सभा में विरोधियों की दाल नहीं गली। ४४ के विरुद्ध १७ सम्मतियों से यह प्रस्ताव गिर गया! इसके बाद विरोधियों ने समाचार-पत्रों में गन्दगी फैलाना और पैम्फलेट छाप कर वंटवाना शुरू किया। विरोधियों की हरकतें जब अति पर पहुंच गईं, तब महात्मा जी ने 'दुखी दिल की पुरदर्द दास्तान' के नाम से कोई छः सौ पृष्ठ की पुस्तक लिख कर उस विरोध के तूफ़ान को शान्त किया। इन विघ्न-सन्तोषी लोगों का दल बाद में धवन-पार्टी की त्रिमूर्ति के नाम से मशहूर हुआ, जो 'आर्य-पत्रिका' द्वारा समय-समय पर गुरुकुल पर प्रायः धावा बोलता रहा।

विरोध और भ्रम पैदा करने वालों में ऐसे लोग भी कुछ कम नहीं थे, जो गुरुकुल से किसी कारणवश पृथक् किये गये थे। ऐसे अलग किये हुए कई अध्यापकों तथा अधिष्ठाताओं ने कन-खल-हरिद्वार में महीनों डेरा जमा कर गुरुकुल की जड़ों को उखाड़ने का यत्न किया। पर, वे भी अपने यत्नों में सफल नहीं हो सके। महीनों महात्मा जी की गोद में बच्चों की तरह पलने वाले, आर्यसमाज की शरण में आकर मियां से आर्य बनने वाले अब्दुलगफ़ूर उर्फ़ 'धर्मपाल' ने भी गुरुकुल के विरुद्ध कुछ कम उपद्रव नहीं मचाया। आर्यसमाज में उसने जो गन्दगी फैलाई थी, उसमें कमीनेपन की हद कर दी गई थी। गन्दगी

और कमीनेपन का वैसा उदाहरण कहीं ढूंढने पर भी मिलना सम्भव नहीं। गुरुकुल से गबन के अपराध में निकाले गये गोबिन्दराम, अपनी ही करतूतों से मौकूफ़ हुए नारायणदास और सरदार गुरुबख्शसिंह आदि को शिखण्डी बना कर धर्मपाल ने अपने पत्र 'इन्द्र' 'पतीन्द्र' और 'अर्जुन' द्वारा गुरुकुल पर काले बादलों का घटाटोप पैदा करने में कोई कसर नहीं रखी, किन्तु महात्मा जी ने बरसने से पहिले ही इस घटाटोप को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

इस प्रकार किये जाने वाले अधिकांश आक्षेप मनोरंजन की ही सामग्री होते थे, किन्तु उनके भी निराकरण के लिये महात्मा जी को 'प्रचारक' के कई पृष्ठ काले करने पड़ते थे। सम्वत् १९६५ में ऐसे आक्षेप किये जाते थे कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी मूछ-दाढ़ी मुंडवाते और बाल सँवारते हैं, उनको घोड़ों की सवारी सिखाई जाती है, वे साबुन लगाते हैं, उनको अंग्रेज़ी पढ़ाई जाती है, वे अंग्रेज़ी ढंग के खेल खेलते हैं, उनको इतिहास तथा भूगोल पढ़ाया जाता है, साइन्स की पढ़ाई पर अधिक खर्च किया जाता है, अध्यापक ही परीक्षा लेते हैं और शिक्षा मुफ़्त नहीं दी जाती। इन आक्षेपों के उत्तर में महात्मा जी को सम्वत् १९६५ के ८ श्रावण के 'प्रचारक' में कोई ५ पृष्ठ का लेख लिखना पड़ा था। वैसे भी प्रत्येक वर्ष में एक बार तो उनको विरोधियों के प्रतिकूल खड्गहस्त होना ही पड़ता था।

जिस लेख की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उस के आरम्भ में महात्मा जी ने लिखा था—"आर्यसमाज के अन्दर ही ऐसे विश्वासघाती पुरुष विद्यमान हैं, जिन्होंने अपने आप को गुरुकुल का हितैषी प्रसिद्ध करते हुए उस को जड़ से उखाड़ने का बीड़ा उठा लिया है। स्वार्थ ने ऐसे पुरुषों को अन्धा कर दिया है।" सम्वत् १९६७ के माघ मास में 'प्रचारक' में १५ पृष्ठ का लेख ऐसे ही आक्षेपों के निराकरण के लिये लिखा गया था, जिस का शीर्षक था—"बड़े से बड़े जत्थों के आक्रमण से भी परमात्मा ने गुरुकुल की रक्षा की है", और उसका आरम्भ किया गया था 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' की वैदिक प्रार्थना से, जिस से पता लगता है कि उस समय ये आक्षेप सभ्यता की मर्यादा का भी अतिक्रमण कर गये थे। उस लेख की प्रारम्भिक पंक्तियां ये थीं—"ब्रह्मचर्याश्रम के उद्धार के लिये जिस दिन गुरुकुल की पाठविधि तथा उस के प्रबन्ध सम्बन्धी नियम हाथ में लेकर सेवकों ने काम करना आरम्भ किया था, उसी दिन से गुरुकुल पर वज्र-प्रहार शुरू हो गये थे। अपनों और बेगानों, आर्यों और अनार्यों—सभी प्रकार के पुरुषों ने उस को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न किये। किंतु जब गंगा-तट पर पहुंच कर ब्रह्मचारियों के समूह ने इस जंगल को वेदमन्त्रों की ध्वनि से गुंजाना शुरू किया, तब से तो आक्रमणों की कुछ गिनती ही

नहीं रही । हर तीसरे महीने गुरुकुल की समाप्ति-सूचक विचित्र भविष्यवाणियां सुनने में आती रहीं । जत्थों पर जत्थे इसको गिराने के लिये बने, आक्रमणों पर आक्रमण हुए, जिन से न केवल इस के सेवकों के ही बदन चलनी-से बन गये, प्रत्युत उन चोटों के निशान गुरुकुल की संस्था और उस के प्रबन्ध पर भी अब तक लगे हुए हैं।" इन उद्धरणों से पता लगता है कि किस विरोधी परिस्थिति में लङ्का में विभीषण की तरह महात्मा जी को गुरुकुल के संचालन का काम करना पड़ता था। यह उन के ही धैर्य और हिम्मत का काम था कि ऐसे विरोध में भी वे इतने वर्षों तक अपने कर्त्तव्य-पालन में बराबर लगे रहे।

७. गुरुकुल और प्रकाश-पार्टी

इस धैर्य और हिम्मत के सामने तब सहसा ही सिर झुक जाता है, जब यह देखने में आता है कि गुरुकुल की स्वामिनी प्रतिनिधि-सभा और उस की प्रबन्धकारिणी अन्तरंग-सभा भी महात्मा जी के लिये उतनी सहायक सिद्ध नहीं हुई, जितनी कि होनी चाहिये थी। गुरुकुल की समर्थक लाहौर की प्रकाश-पार्टी की भी गुरुकुल के प्रति प्रायः टेढ़ी ही दृष्टि रही। गुरुकुल का काम करते हुए यह शिकायत महात्मा जी को बराबर रही कि प्रतिनिधि-सभा अथवा अन्तरंग-सभा गुरुकुल को यथेष्ट समय

नहीं दे सकतीं। २८ वैशाख सम्वत् १९६८ के 'प्रचारक' में 'गुरुकुल के साथ सच्चे प्रेम का प्रमाण दीजिये' शीर्षक से लिखे गये लेख में आपने लिखा था—"जो माता शरद् ऋतु में बिछौना गीला हो जाने पर बच्चे का रोना सुन उसके मुंह, नाक, कान को कपडों से बन्द कर के उस को छाती से जकड़ कर उस का गला घोंट देती है, उसे भी तो बच्चे से अगाध प्रेम होता है; किंतु उस का प्रेम बच्चे में जीवन डालने के स्थान में उसका काम ही तमाम कर देता है।............अब गुरुकुल प्रतिनिधि-सभा की अन्य कार्यवाहियों के साथ एक पुछल्ला-सा बना हुआ है। प्रतिनिधि की अंतरंग-सभा प्रचारादि अन्य विषयों के विचार में जितना समय लगाती है, उस का चौथाई समय भी गुरुकुल सम्बंधी बड़े से बड़े गम्भीर विषय के विचार के अर्पण नहीं कर सकती। सभा के सभासद इस त्रुटि को जानते हैं किन्तु गुरुकुल के साथ उनका इतना अगाध प्रेम है कि वे उस को अपने से थोड़े काल के लिये भी जुदा करने को तय्यार नहीं, भले ही इस थोड़े समय की जुदाई से उन के प्यारे गुरुकुल को शुद्ध वायु के सेवन से बल मिलने तथा स्वस्थ होने की ही सम्भावना क्यों न हो। प्रतिनिधि की अन्तरंग-सभा को वैदिक धर्म के प्रचार, शुद्धि, शास्त्रार्थ आदि विषयों पर बहुत ध्यान देना है, उस को न शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिये समय ही मिलता है और न वह उन पर ठीक प्रकार विचार ही कर सकती

है।............मेरी सम्मति में सभा के सभासद केवल अविद्या के कारण इस समय अपने कर्त्तव्य-पालन से गिरे हुए हैं।" इस से भी बड़ी शिकायत महात्मा जी को यह थी कि प्रतिनिधि-सभा और अन्तरंग-सभा के सभासद लाख-सवा-लाख का बजट तो पास कर देते हैं, किन्तु उस की पूर्ति के लिये कभी कोई भी सदस्य सचाई और ईमानदारी से यत्न नहीं करता। इस शिकायत या कठिनाई को दूर करने के लिये आपने सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि प्रतिनिधि-सभा के ही आधीन गुरुकुल के प्रबन्ध के लिये एक अलग प्रबन्धकर्त्री-सभा नियत की जाया करे, जो गुरुकुल के विषय में सोचा तथा काम किया करे। उस सभा में प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों, संरक्षकों, स्नातकों और दानदाताओं आदि के प्रतिनिधि तथा वैदिक-साहित्य आदि विषयों के मर्मज्ञ विद्वान् रखने का आपका प्रस्ताव था। वह सभा एक प्रकार से विद्या-आर्य-सभा ही होती, जो गुरुकुल की प्रबन्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ प्रतिनिधि-सभा के आधीन शिक्षा-सम्बन्धी सभी संस्थाओं का प्रबन्ध किया करती। इस प्रस्ताव की उपयोगिता के सम्बन्ध में महात्मा जी ने कितने ही लेख लिखे थे। दस-बारह वर्षों से भी अधिक लम्बे समय तक यह प्रस्ताव प्रतिनिधि-सभा के विचाराधीन प्रस्तावों की फ़ाइल में पड़ा रहा। ईस्वी सन् १९११ की २७ मई की प्रतिनिधि-सभा के वार्षिक-अधिवेशन में उस पर केवल

एक बार वाद-विवाद हो हुआ था, सम्मतियां उस अधिवेशन में भी नहीं ली गईं थीं।

उक्त अधिवेशन में हुआ वह विवाद कई दृष्टियों से बड़ा मनोरञ्जक है और महात्मा जी के मार्ग की कठिनाइयों पर भी उससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। श्री पण्डित विश्वम्भरनाथ जी बी० ए० ने, जो महात्मा जी के संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता नियुक्त हुए थे, उस विवाद में कहा था—"प्रतिनिधि-सभा का प्रथम उद्देश्य वेद तथा अन्य प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के लिये विद्यालय खोलना है। इसमें गुरुकुल को एक शिक्षणशाला (एजूकेशनल इन्स्टीट्यूशन) कहा गया है, ऐसी किसी भी शिक्षणशाला के खोलने का अधिकार इस सभा को नहीं है।.........यह याद रखना चाहिये कि विद्या का फैलाना प्रतिनिधि सभा का कोई उद्देश्य नहीं है।" महाशय कृष्ण जी बी० ए० ने ऊपर की बातों का समर्थन करते हुए कहा था—"गुरुकुल के अधिकारी गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, यह बहुत बुरा है और सभा के उद्देश्यों के सर्वथा बाहर है।" लाला काशीराम और महता जैमिनी आदि ने भी ऊपर के विचारों का समर्थन किया था। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि अन्तरङ्ग-सभा का एक दल, जिसको इसी विवाद में महाशय कृष्ण जी ने 'प्रकाश पार्टी' का नाम दिया था, गुरुकुल को केवल वेद पढ़ाने की छोटी-सी चटशाला बनाये

रखना चाहता था। उसको महाविद्यालय अथवा विश्व-विद्यालय बनाने के वह विरुद्ध था। महात्मा जी ने इसी विवाद में बहुत साफ़ शब्दों में कह दिया था—"गुरुकुल जिस मार्ग पर चल रहा है, उससे वह एक विश्वविद्यालय ही बनेगा। अब तक भी वह बहुत कुछ उसी ओर बढ़ा है। वेदों और वेदांगों की पढ़ाई के मुख्य रहने पर भी वहां अन्य विद्याओं की पढ़ाई को स्थान दिया जायगा। कारण इसका यह है कि सब अन्य विद्यायें वेदों के समझने के लिये साधन-रूप हैं। गुरुकुल में कृषि-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, रसायन तथा अन्य सब कलायें एवं विज्ञान सिखाये जायेंगे और सिखाये जाते हैं। यदि प्रति-निधि-सभा इसे अपने उद्देश्यों के प्रतिकूल समझती है, तो उसे इसी समय वर्तमान गुरुकुल को बन्द कर देना चाहिये। जो सज्जन कार्यकर्ताओं पर यह दोष लगाते हैं कि वे भविष्य में गुरुकुल को यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिये कि इस समय भी गुरुकुल यूनिवर्सिटी ही बन रहा है।"

गुरुकुल को संस्कृत की चटशाला अथवा विविध विषयों के अध्ययन के लिये एक आदर्श शिक्षणालय बनाने के दृष्टिकोण में भेद बढ़ता चला गया। समाचार-पत्रों में भी उस दृष्टिभेद की चर्चा होने लगी। 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्य के सम्बन्ध में महाशय कृष्ण जी ने कई लेख लिखे। 'प्रचारक' में 'प्रकाश और

गुरुकुल' के शीर्षक से लिखे गये लेखों में उनका उत्तर दिया गया और महाशय कृष्ण जी के आन्दोलन के तरीक़े को 'भयानक प्रकार' बताया गया, किन्तु उनका यह 'भयानक प्रकार' लगातार कई वर्षों तक जारी रहा। २२ कार्तिक सम्वत् १९६८ के 'प्रकाश' में गुरुकुल के उद्देश्यों के विषय में कई एक काल्पनिक परिभाषायें घड़ कर गुरुकुल के कार्यकर्ताओं पर रोष भी प्रगट किया गया और यह भय भी प्रगट किया गया कि गुरुकुल ब्राह्मण न पैदा कर के वैश्य पैदा करने में लग रहा है। उसी समय 'प्रचारक' में लिखा गया था—"प्रकाश के सम्पादक महाशय कृष्ण जी गुरुकुल की स्वामिनी श्रीप्रतिनिधि-सभा के सभासद् हैं, गुरुकुल की प्रबन्धकारिणी अन्तरंग-सभा के भी वे सदस्य हैं और इससे भी बढ़ कर आप उसके उपमन्त्री हैं। यदि गुरुकुल के विषय में आपको कोई शिकायत है और यदि गुरुकुल के वर्तमान कार्यकर्ताओं की किन्हीं चेष्टाओं से आप रुष्ट हैं तो आपके लिये कई रास्ते खुले हैं और वे कई रास्ते इस वर्तमान रास्ते से बहुत प्रिय, बहुत लाभदायक और बहुत सुलभ हैं।" पर, प्रकाश-सम्पादक ने प्रिय, लाभदायक और सुलभ मार्ग का अवलम्बन न करके 'प्रकाश' के कालमों का अप्रिय, हानिकारक तथा जटिल मार्ग ही पकड़े रखा। सम्वत् १९७१ के माघ मास में फिर 'प्रकाश' में यह भय प्रगट किया गया कि गुरुकुल वेद की पढ़ाई को अप्रधान बना कर लुहारी-तरखानी

के काम में कहीं न लग जावे। इस भयावह कल्पना के आधार पर एक भयानक चित्र खींच कर सर्वसाधारण को भ्रम में डालने की निन्दनीय चेष्टा की गई थी। इस पर महात्मा जी ने सम्वत् १९७१ के २ फाल्गुन के 'प्रचारक' में लिखा था—"मुझे आश्चर्य है कि यदि महाशय कृष्ण जी को गुरुकुल की वर्तमान गति में कुछ सन्देह है तो स्वामिनी-सभा के मन्त्री होते हुए, उन्होंने उस सभा द्वारा संशोधन कराने के स्थान में समाचार-पत्र की शरण क्यों ली?" इसके बाद महात्मा जी ने लिखा था—"मैं महाशय कृष्ण तथा आर्य जनता को निश्चय दिलाता हूं कि यदि वैदिक-धर्म के पुनरुज्जीवन का काम मेरी दृष्टि में गौण बन जायगा तो मैं इस गुरुकुल में एक पल भी ठहरना पाप समझूंगा।" इसी लेख में आपने एक बार फिर आयुर्वेद, कृषि-व्यापार और लुहारी-तरखानी आदि की पढ़ाई का समर्थन करते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी—"पहिली पाठविधि के अनुसार, जिसका प्रामाणिक खण्डन प्रतिनिधि-सभा ने मेरे ज्ञानमें नहीं किया, कृषि-महाविद्यालय खोलना भी गुरुकुल का कर्तव्य है। मैं दो वर्षों से उसके लिये विशेष परामर्श करता रहा हूं और अब समय आया है कि कृषि का काम आगामी वर्ष के आरम्भ से शुरू किया जायगा। उसके साथ 'लुहारी-तरखानी' का कारखाना भी खोला जागया, जिसका कुछ सामान तीन वर्षों से आया पड़ा है। यदि इसके सम्बन्ध में मन्त्री जी अथवा अन्य

किन्हीं सभासदों को गुरुकुल अपने उद्देश्य से गिरता दिखाई दे तो सभा में इस प्रश्न को रख कर पहले ही इसका निश्चय करा लें।" महात्मा जी के इतने स्पष्ट लेखों के बाद भी 'प्रकाश' के सम्पादक और उनकी पार्टी की यह शिकायत बराबर रही कि 'उपदेशक नहीं मिलते।' सम्वत् १९७३ के श्रावण मास में 'प्रकाश' ने यहां तक लिखा था कि "न पंजाब में और न संयुक्तप्रान्त में कोई ऐसी पाठशाला है, जहां उपदेशक तय्यार किये जा रहे हों। ऐसी हालत में सवाल तो क़ाबिल-ग़ौर यह है कि उपदेशक कहां से आयें ?" पाठक यह समझ सकते हैं कि इस लेख में संयुक्त-प्रान्त का उल्लेख करके गुरुकुल पर चोट की गई थी। इस प्रकार सदा ही 'प्रकाश' और उसके दल की गुरुकुल पर बक्र दृष्टि रही, जिसका परिचय कभी-कभी आज-कल भी मिल जाता है। इस प्रकरण को इतना खोल कर इस लिये लिखा गया है कि इसका सम्बन्ध चरितनायक की जीवनी के साथ कई जगह आता है और गुरुकुल की उन्नति तथा उसके विस्तार में यदि कोई सब से बड़ी बाधा थी तो यही थी कि उसके संचालकों और मालिकों की दृष्टि में गुरुकुल के उद्देश्य की पूर्ति के साधनों में पूर्व-पश्चिम का-सा भेद था। इस भेद को लेकर कई वर्षों तक समाचार-पत्रों में जो चर्चा हुई, वह उसके लिये और भी अधिक बड़ी बाधा सिद्ध हुई।

८. सरकार की तिरछी नज़र

इस सब बाधा-विरोध के रहते हुए एक और बाधा गुरुकुल के मार्ग में सरकार की सन्देहास्पद दृष्टि थी। गुरुकुल का सरकार से बिलकुल स्वतन्त्र होना ही उसके सन्देह के लिये पर्याप्त था। आर्यसमाज पर राजद्रोही होने का जो सन्देह था, उस से भी गुरुकुल के सम्बन्ध में इस सन्देह को विशेष पुष्टि मिली। उस सन्देह की उत्पत्ति के इतिहास में न जाकर यहां एक गुप्त सरकारी लेख की पंक्तियां इसलिये दी जाती हैं, जिस से उस सन्देह का रूप पाठकों के सामने आ जाय। उस लेख में लिखा गया था—"आर्यसमाज के संगठन में अभी जो महत्व-पूर्ण विकास हुआ है वह वास्तव में सरकार के लिये बहुत बड़े संकट का स्रोत है। वह विकास है गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली। इस प्रांत में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा, किन्तु आर्यसमाज की धर्म के रूप में आलोचना करते हुए भी उस की ओर निर्देश करना आव-श्यक है। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों, किन्तु भक्तिभाव और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तय्यार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है, क्योंकि यहां आठ बरस की ही आयु में बालकों को माता-पिता के प्रभाव से भी बिलकुल दूर रखकर

त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायुमण्डल में उन के जीवन को कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार ढाला जाता है, जिस से उन के रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की सीधी देख-रेख में बालकों की उस सत्रह वर्ष की आयु तक बराबर जारी रहा, जो कि मनुष्य के जीवन में सब से अधिक प्रभावग्राही समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तय्यार होंगे, वे सरकार के लिये अत्यन्त भयानक होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं हैं। उन में पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धांत के लिये कष्ट-सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर प्राणों तक को न्यौछावर कर देना, साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव डालेगा। इससे उन को अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे, जो उन के मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिये कि उन का उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसे जाति-धर्म की स्थापना करना होगा, जिस से सारे हिन्दू एक भ्रातृभाव की शृंखला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन, मन, धन—सर्वस्व को देश हित के लिए अर्पण कर दो।"

इस लेख की अगली पंक्तियों का सीधा सम्बन्ध गुरुकुल कांगड़ी के साथ है। वे पंक्तियां ये हैं—"सरकार के लिये सब से अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्यसमाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख़ होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उस का आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी, जिस का जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उन के प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौता और भय की गन्ध भी न होगी और सर्वसाधारण के हृदय पर उसका सीधा असर पड़ेगा।" गुरुकुल के सम्बन्ध में पैदा हुए सन्देह को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये इस लेख का लेखक कहां तक पहुंचा था, इस का पता अगली पंक्तियों से लगता है, जिनमें उस दौरे का उल्लेख किया गया है, जिस में महात्मा जी ने गुरुकुल के लिये तीस हज़ार रुपया जमा किया था। लेखक लिखता है—"पञ्जाब की पुलिस की रिपोर्टों में यह दर्ज है कि सन् १८९९ में जब लाला मुन्शीराम अमृतसर के पंडित रामभजदत्त के साथ गुजरात, सियालकोट और गुजरांवाला का दौरा करते हुए धन संग्रह कर रहे थे, तब उन्होंने सरकार की निन्दा शरारत से भरे हुए शब्दों में अन्य बातों के साथ यह कहते हुए की थी कि सिपाही कितने मूर्ख हैं जो सत्रह-अठारह

रुपयों पर भरती होकर अपना सिर कटवाते हैं। गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसा करने वाले आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।" गुरुकुल के जिन उत्सवों का पीछे कुछ वर्णन किया गया है, उन के सम्बन्ध में इस लेख में लिखा गया है—"कांगड़ी में मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कोई साठ-सत्तर हज़ार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठा होते हैं। कई दिनों तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्यरक्षा आदि का सब प्रबन्ध गुरुकुल के अधिकारी स्वयं करते हैं। बंगाल में मेलों पर जिस प्रकार स्वयंसेवक सब प्रबन्ध करते हैं, वैसे ही यहां ब्रह्मचारी स्वयंसेवकों का सब काम करते हैं। संगठन की दृष्टि से यह काम बिलकुल त्रुटि-रहित है। उत्सव पर इकट्ठा होने वाले लोगों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं और अच्छी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियां आभूषण तक देती है।" गुरुकुल के उद्देश्य की मीमांसा करते हुए उस के तपस्वी, कठोर, संयमी और निर्भीक जीवन का रोना रोते हुए फिर लिखा गया है—'विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध रहेगा? इस सम्बन्ध में गुरुकुल की, महाशय रामदेव की लिखी हुई, एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उस के अन्त में लिखा है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों

का बाइबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिस से ब्रह्मचारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त हो। उन में उपदेश और उदाहरण दोनों से देश के लिये उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासियों का दल तय्यार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिये भयानक संकट पैदा कर देगा।" इसी प्रकार एक गुप्तचर ने अपनी डायरी में गुरुकुल के सम्बन्ध में ये पंक्तियां लिखी थीं—"गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुए हैं, जिन में अंगरेज़ी-राज से पहले की भारत की अवस्था और अंगरेज़ों के कलकत्ता आने की अवस्था दिखाई गई है। लखनऊ के सन् १८५७ के राज-विद्रोह के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मि० ऐफ० फोर्ड ने जोन आफ़ आर्क का भी वह बड़ा चित्र गुरुकुल में लगा हुआ देखा था, जिसमें वह अंगरेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।"

इस प्रकार गुरुकुल की हर एक दीवार के पीछे से सरकारी लोगों को राजद्रोह की गंध आती थी। यज्ञशाला के नीचे उन की दृष्टि में एक तहखाना बना हुआ था, जिस में उन की समझ के अनुसार गोला-बारूद बनाने की ब्रह्मचारियों को शिक्षा दी जाती थी। सरकारी गुप्तचरों का गुरुकुल में तांता बंधा रहता

था। वे संन्यासी, साधु, बाबू आदि के वेश में छिपे हुए भेद लेने की सदा कोशिश किया करते थे। जब ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्रा पर गुरुकुल से बाहर जाते थे, तब भी गुप्तचरों की एक सेना उन के आगे पीछे चक्कर काटा करती थी। साधारण गुप्तचरों की बात ही क्या है, बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी भी लुक-छिप कर गुरुकुल का भेद लेने की बराबर चेष्टा करते रहे। एक डिपुटी कलेक्टर गुरुकुल में अपने को वकील बताकर इसी नीयत से आए थे। महात्मा जी को उन के इस प्रकार आने का पहले ही पता लग गया और उन के पीछे गुरुकुल के गुप्तचर छोड़ दिये गये। आधी रात को वे छद्मवेशी वकील उस घिरे हुए अहाते में जा पहुंचे, जहां ब्रह्मचारियों को गतका-फरी आदि के खेल सिखाए जाते थे। महात्मा जी भी पता लगते ही उनके पीछे वहां पहुंच गए और वहां पहुंच कर आपने उन से पूछा—'क्या आप ने हमारे सब भेदों का पता लगा लिया?' बेचारे डिपुटी कलेक्टर पानी-पानी हो गये। उन्होंने स्वीकार किया कि गुरुकुल में सन्देह की कोई बात नहीं है। बिजनौर के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की कहानी भी बहुत रोचक है। उन्होंने गुरुकुल आकर ब्रह्मचारियों के कुरते उतरवा कर छाती और भुजाओं के पुट्ठों की परीक्षा की। इस परीक्षा के बाद उन के चेहरे के भाव देखने ही लायक़ थे। उन से यह कहे बिना न रहा गया कि "मुझ को बताया गया था कि आप

के ब्रह्मचारी धनुर्विद्या में प्रवीण हैं और आप का मुख्य उद्देश्य उन को पहलवान बनाना है। मुझ को पता लग गया कि यह सब झूठ है। निस्सन्देह खुली वायु में रहने के कारण उन का डील डौल बाहर के स्कूलों के लड़कों की अपेक्षा अच्छा है। मुझ को यह भी बताया गया था कि वे बहुत कुशल घुड़सवार हैं और आकाश में ऊंचे उड़ते हुए पक्षी को अचूक निशाना मार कर नीचे गिरा देते हैं।"

इंगलैण्ड के वर्तमान प्रधान-मन्त्री और समस्त संसार के राजनीतिज्ञों के अग्रणी समझे जाने वाले मि० रेम्जे मेकडानल्ड का इस सम्बन्ध का वह लेख बहुत ही सुन्दर है, जो उन्होंने सन १९१४ में गुरुकुल देखने के बाद भारत से विलायत लौट कर वहां के 'डेली क्रानिकल' में लिखा था। लेख को उन्होंने इन पंक्तियों से ही प्रारम्भ किया था—"भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है उन्होंने गुरुकुल नाम अवश्य सुना होगा, जहां कि आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किये जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिये गये हैं। इसी लिये सरकार की इस पर तिरछी नज़र है, पुलिस अफ़सरों ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकांश एंगलो-इण्डियन लोगों ने

इसकी निन्दा की है।" सरकार की तिरछी नज़र के कारणों की मीमांसा करते हुए उस लेख में गुरुकुल का बहुत ही सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। उसमें लिखा गया है—"सरकारी लोगों के लिये गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज़ नहीं है। अंग्रेज़ी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिये पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी यहां काम में नहीं लाई जातीं. सरकारी विश्व-विद्यालय की परीक्षा के लिये यहां से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधियां दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुए सरकारी अधिकारी के मुंह से इसके लिये पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राज-द्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में मैकाले के सम्मति प्रकट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहां तक मुझको मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।" लेख के अन्त में उन्होंने लिखा था—"मैं स्वप्न में किसी को यह कहते हुए सुन रहा हूं—हम केवल यह चाहते हैं कि शान्ति से हम को ईश्वर

का भजन करने दो। क्या यही राजद्रोह है?" मि० मेकडानल्ड का यह लेख सम्भवतः **गुरुकुल** के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों में सर्वोत्तम है।

इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध पत्र 'दि न्यू स्टेट्समैन' के २० जून सन् १९१४ के अङ्क में आर्यसमाज के सम्बन्ध में लिखे गये लेख में गुरुकुल के लिये लिखा गया था—"दयानन्द-ऐंगलो-वैदिक कालेज से भी अधिक प्रसिद्ध हरिद्वार का गुरुकुल सम्भवतः समस्त संसार में शिक्षा के क्षेत्र में सब से अधिक मनोरंजक परीक्षण है। गंगा के मनोहर दृश्यों के बीच, हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के नीचे, सांसारिक वातावरण से बहुत दूर एक आश्रम बना हुआ है। केवल जीवन-निर्वाह पर आचार्य, उपाध्याय और सब अध्यापक काम करते हुए स्वेच्छा से ग़रीबी का जीवन बिताते हैं, यद्यपि उनमें से बहुत से बाल-बच्चों वाले गृहस्थी हैं। सात वर्ष की आयु में बालकों को लिया जाता है और २५ वर्ष तक रखा जाता है। वे बीच में एक बार भी घर नहीं जा सकते। न वे किसी स्त्री का दर्शन कर सकते हैं और न कोई स्त्री ही उनको देख सकती है। वे दिन-रात अपने अध्यापकों के निरीक्षण और संगति में रहते हैं। पहिले सात वर्ष तक उनको केवल संस्कृत और वैदिक-साहित्य की शिक्षा दी जाती है। फिर दूसरी भाषायें तथा विज्ञान सिखाया जाता है। हिंदी में ही सब शिक्षा दी जाती है।

२५ वर्ष की आयु में समझा जाता है कि वे देश के पूरे सेवक बन गये हैं। भारतीय दृष्टि से उक्त संस्था की सब से अधिक महत्वपूर्ण विशेषता जात-पात के भेद-भाव को मिटाना है। उसमें ३०० बालकों में ब्राह्मण से लेकर मेहतर तक सभी जातियों के बालक हैं। सब का एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन है। जात-पात का भेद भारत में खूब गहरी जड़ पकड़ा हुआ है। पश्चिम की शिक्षा और आदर्शों के सहारे भी उसकी जड़ों को खोदना कठिन है। परन्तु यहां गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गई हैं, पश्चिम के नाम पर उसके अनुकरण में नहीं किन्तु पूर्व के पुराने और सुन्दर आदर्शों को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से। आर्यसमाज के शिक्षा के कार्य का यह नमूना है और शिक्षा का यह कार्य उस महान् समाज-सेवा के कार्य का छोटा-सा हिस्सा है, जो आर्यसमाज उत्तरीय भारत में कर रहा है। आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से प्रायः रहित प्रतिभाशून्य बृटिश अधिकारी एकाएक घबरा जाते हैं। वे नहीं समझ सकते कि ये लोग क्या कर रहे हैं? इसलिये वे उसमें 'राजद्रोह' का सन्देह करने के आदी होगये हैं।"

इसके बाद सरकारी अधिकारियों का रुख गुरुकुल के सम्बन्ध में बदलता है। उसके बदलने में दीनबन्धु ऐण्डरूज़ का बहुत अधिक हाथ था। उस समय के संयुक्तप्रान्त के लैफ्टिनेण्ट-गवर्नर

सर जोन ह्यूवेट ने महात्मा जी को मिलने के लिये देहरादून बुला कर कहा कि गुरुकुल के सम्बन्ध में उनका सब सन्देह दूर हो गया है। उनके बाद के लैफ्टिनेण्ट-गवर्नर सर (इस समय के 'लार्ड') जेम्स मेस्टन १९१३, १९१४ और १९१६ में चार बार गुरुकुल आये। सन् १९१३ में गुरुकुल की ओर से दिये गये मान-पत्र के उत्तर में आपने कहा था—"न केवल इस प्रान्त में किन्तु समस्त भारत में गुरुकुल एक बिलकुल मौलिक और कुतूहलपूर्ण परीक्षण है। मैं यहां आकर उन लोगों से भी मिलना चाहता था, जिनको सरकारी रिपोर्टों में निस्सीम, अज्ञात और भयानक आपत्ति का स्रोत बताया गया है।" इसके बाद कर्मचारियों के त्याग तथा सेवा की भावना, प्रबन्ध तथा शिक्षा की व्यवस्था और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य की प्रशंसा करते हुए आपने कहा था—"एक आदर्श विश्व-विद्यालय के लिये मेरा आदर्श गुरुकुल है।"

लखनऊ के 'एवोडकेट' के संचालक स्वर्गीय राव बहादुर बाबू गंगाप्रसाद जी वर्मा ने सन् १९१३ के अप्रैल मास में संयुक्तप्रान्तीय-लेजिस्लेटिव-कौंसिल में सर जेम्स मैस्टन के गुरुकुल पधारने पर जो भाषण दिया था, उससे भी पता लगता है कि सरकारी अधिकारियों की गुरुकुल के प्रति कैसी धारणा थी? उन्होंने उस भाषण में कहा था—"मैं श्रीमान् को उस राजनीतिपूर्ण और साहसपूर्ण कार्य के

लिये बधाई देना चाहता हूं, जो आपने उन देशभक्त शिक्षकों को दर्शन देकर किया है, जो महात्मा मुन्शीराम जी के नेतृत्व तथा संरक्षकता में राष्ट्रीत ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं और जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयों को पूर्वीय आदर्शों के साथ एक कर दिया है। मैं श्रीमानों के गुरुकुल पधारने को इस लिये साहसपूर्ण कार्य कहता हूं, क्योंकि मुझको मालूम है कि इस प्रान्त के अधिकतर अफ़सर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय में यह सन्देह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शान्त विकास में विघ्न पैदा करने वाले लोगों के पैदा करने में लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहां की गई घोषणा से आशा है ऐसे लोगों के विचार गुरुकुल के सम्बन्ध में बदल जायंगे। आपने उन लोगों को सचमुच प्रोत्साहन दिया है, जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे हुए हैं। इससे वे लोग गवर्नमेण्ट के अधिक समीप आजायंगे, जिनके हृदय मातृभूमि को फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हो रहे हैं।" इस भाषण में वर्मा जी ने गुरुकुल के आदर्श का चित्र भी बहुत सुन्दर शब्दों में अंकित किया था।

सन् १९१६ में २१ अक्तूबर को उस समय के वायसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड भी लेडी चेम्सफ़ोर्ड, सर जेम्स मेस्टन और अन्य सरकारी अधिकारियों के साथ गुरुकुल पधारे थे।

आपने गुरुकुल की शिक्षा, प्रबन्ध और ब्रह्मचारियों के स्वास्थ्य पर पूर्ण सन्तोष प्रकट किया।

कहा जाता है कि उच्च अधिकारियों के इस प्रकार गुरुकुल में आने का एक कारण यह था कि किसी प्रकार गुरुकुल को सरकार की सुनहरी ज़ंजीरों में जकड़ा जाय। यदि गुरुकुल के संचालकों की ओर से कुछ थोड़ा-सा भी संकेत मिलता तो जो सरकारी सहायता दूसरी संस्थाओं को नाक रकड़ने और हाथ-पैर जोड़ने पर भी नसीब नहीं होती, वह अनायास ही गुरुकुल को मिल जाती। पर, गुरुकुल अपने आदर्श पर दृढ़ रहा और उसके संचालक, विशेषतः महात्मा जी, उस जाल से बचे रहे। उन्होंने महाराणा प्रताप का भूख-प्यास का जङ्गली जीवन पसन्द किया और स्वाभिमान को खोकर मानसिंह के भोग-विलास के जीवन की ओर आंख भी नहीं फेरी। सम्भवतः इसी ओर संकेत करते हुए महात्मा जी ने लिखा था—"गुरुकुल अपने जन्म-दिन से अब तक, नौकरशाही के जाल से बचा हुआ, अपना काम करता आया है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये? जिन सुनहरी ज़ंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया, मन लुभाने वाली वे ज़ंजीरें न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।" सरकारी अधिका-

रियों का रुख बदलने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि गुप्तचरों की सन्देह-दृष्टि से गुरुकुल की कुछ समय के लिये रक्षा हो गई और उस के अधिकारी एवं संचालक संशयात्मक-वृत्ति से ऊपर उठ कर सर्वतोभावेन गुरुकुल की सेवा में लग गये।

६. आकर्षण और विशेषतायें

गुरुकुल एक ऐसा परीक्षण था, जिस की कृतकार्यता और सफलता पर शुरू से ही सन्देह प्रगट किया जाता था। श्रीयुत रेम्ज़े मैकडानल्ड की पीछे दी हुई सम्मति बिलकुल ठीक है कि मैकाले के १८३५ के उस सुप्रसिद्ध लेख के बाद, जिस द्वारा भारत में वर्तमान नैतिकता-शून्य सरकारी शिक्षा का सूत्रपात हुआ था, केवल गुरुकुल ही एक परीक्षण है जो उस के प्रतिकूल किया गया है। धारा के ठीक विपरीत तैरने वाले की सफलता पर किस को विश्वास हो सकता है? गुरुकुल की भी ऐसी ही स्थिति थी। जंगल में माता-पिता से अलग सोलह वर्ष तक बालकों के रहने की कल्पना तक लोगों के लिये विश्वास से बाहर की बात थी। पर, महात्मा मुन्शीराम जी की श्रद्धा, विश्वास और तत्परता ने गुरुकुल की सफलता के रूप में असम्भव को भी सम्भव बना कर दिखा दिया। उस की जिस लोकप्रियता का पीछे उल्लेख किया जा चुका है वह उस की सफलता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है। इस प्रसंग में

उस की सफलता की एक और साक्षी दी जायगी और वह है गुरुकुल का आकर्षण। इस आकर्षण से आर्य जनता तो गुरुकुल की ओर ऐसी खिंचती चली गई कि गुरुकुल उस के लिये ऐसा तीर्थ बन गया, प्रति वर्ष उत्सव के समय जिस के दर्शन करना आर्य जनता अपना कर्त्तव्य समझती है। आर्य जनता के अलावा कट्टर सनातनी, ईसाई, मुसलमान, यूरोपियन—न केवल अंग्रेज़ किन्तु अमेरिकन, फ्रेंच, जर्मन आदि भी—गुरुकुल की ओर आकर्षित होते गये हैं। समाज-सुधार, मातृ-भाषा हिन्दी के पुनरुद्धार और मौलिक शिक्षा के विस्तार आदि की दृष्टि से गुरुकुल निस्सन्देह आदर्श संस्था है, इसलिये ऐसे लोगों का उस की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है; किन्तु ऐसे लोग भी गुरुकुल की ओर आकर्षित हुए, जिन का गुरुकुल के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था।

अलीगढ़-मुस्लिम-यूनिवर्सिटी का कमीशन गुरुकुल आया और उस पर मुग्ध हो गया। डाक्टर अन्सारी और बैरिस्टर आसफ़अली सरीखे निष्पक्ष मुसलमान गुरुकुल गये और उस पर लट्टू हो गये। जो मुसलमान गुरुकुल को साम्प्रदायिक संस्था समझते हुए यह सोचते थे कि उनको वहां अपने बर्तन में कोई पानी तक नहीं पिलायेगा, जब ब्रह्मचारियों और अध्यापकों ने उनके साथ बैठ कर भाई-भाई की तरह भोजन किया तब उनकी आंखें खुलीं और गुरुकुल ने उनके हृदयों में घर

कर लिया। कलकत्ता-यूनिवर्सिटी कमीशन के प्रधान मि० सैडलर और श्री आशुतोष मुकर्जी गुरुकुल आये; उन पर गुरुकुल का जो असर हुआ, वह सैडलर कमीशन की रिपोर्ट में दर्ज है। मि० सैडलर ने गुरुकुल का खूब गहरा अवलोकन करने के बाद कहा था—"मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।" माननीय श्रीनिवास शास्त्री सरीखे नरम से नरम, लाला लाजपतराय जी सरीखे गरम से गरम, पंडित मोतीलाल जी नेहरू सरीखे उग्रतम राजनीतिज्ञ, पंडित मदनमोहन जी मालवीय सरीखे फूंक-फूंक कर आगे क़दम वढ़ाने वाले और गुरुकुल से भी बड़ी संस्था के संस्थापक, सेठ जमनालाल बजाज सरीखे श्रद्धासम्पन्न साधु-स्वभाव महानुभाव, भारतकोकिला श्रीमती सरोजिनी नायडू सरीखी महिला, शान्तिनिकेतन (बोलपुर) के संस्थापक विश्व-विख्यात श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे महापुरुष और जगद्बन्द्य महात्मा गांधी सरीखे सन्त आदि सब को ही, भिन्न-भिन्न रुचि और भिन्न-भिन्न स्वभाव रखते हुए भी, गुरुकुल ने अपनी ओर आकर्षित किया और सब के हृदयों में अपने लिये एक-सा स्थान बनाया। ज़िले के मजिस्ट्रेट, प्रान्त के गवर्नर और भारत के वायसराय के लिये भी गुरुकुल में कुछ आकर्षण था। रुड़की के ज्वाइएट मजिस्ट्रेट मि० आर. सी. हावर्ट ने ठीक ही लिखा था—"गुरुकुल एक अद्भुत संस्था है, जिसका प्रबन्ध अत्युत्तम है।

इसको देख कर मुझको चेस्टर-हाउस का अपना विद्यार्थी-जीवन सहसा याद आगया। गुरुकुल में अपनी मौलिक पद्धति के साथ विलायत के सार्वजनिक स्कूलों की अच्छाई का मिश्रण किया गया है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी है और जनता की आम भाषा ही शिक्षा का वास्तविक माध्यम है। मैंने भारत में कहीं और ऐसे स्वस्थ और प्रसन्न बालक नहीं देखे। अध्यापक निःस्वार्थी हैं और अपने शिष्यों के चरित्र-गठन का पूरा ध्यान रखते हैं।" सरकारी अधिकारियों की ऐसी सम्मतियों से गुरुकुल की सम्मति-पुस्तक भरी पड़ी है।

विलायत से भारत के सुप्रसिद्ध स्थानों की यात्रा के लिये आने वाले विदेशी यात्री गुरुकुल अवश्य आते थे। यूरोप के कई समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि मि० नेविन्सन ने विलायती पत्रों में गुरुकुल की इतनी प्रशंसा की थी कि कितने ही विदेशी यात्री उनके लेख पढ़ने के बाद ही गुरुकुल आये थे। अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा-विज्ञ विद्वान्-वकील मि० मायरन एच० फल्प्स ने गुरुकुल की प्रशंसा में इलाहाबाद के 'पायोनियर' में बहुत से विस्तृत पत्र लिखे थे। वे इतने प्रभावशाली पत्र थे कि 'पायोनियर' का वही सम्पादक लेखमाला के अन्त में गुरुकुल की प्रशंसा करने के लिये बाध्य हुआ, जो पहिले उनको प्रकाशित तक करने में संकोच करता था। फेल्प्स गुरुकुल के साथ इतने तन्मय होगये थे कि उनका नाम गुरुकुल में पं० दयानारायण रख

लिया गया था। वे धोती-कुरता के वेष में पूरे काश्मीरी पंडित ही जान पड़ते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि यदि मेरा कोई लड़का होता तो मैं उसको गुरुकुल में भरती करता अथवा मैं ही यदि आठ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकता तो गुरुकुल में भरती हो जाता। विलायत के 'डेलीमेल' के प्रतिनिधि मैक्सवेल, इङ्गलैंड की सार्वजनिक-सदाचार-समिति के प्रमुख सदस्य एवं सदाचार की समस्या के अध्ययन के लिये ही समस्त संसार की यात्रा पर निकले हुए जी० एन० फ़ौक्सपिट, इंगलैंड की लिबरल-क्लब के सदस्य तथा सुप्रसिद्ध लेखक विलियम आर्थर, भारतभक्त दीनबन्धु मि० एराड्रूज़ और उनके साथी मि० पियरसन, मि० ऐच० हालैंड, इस समय के इंगलैंड के प्रधान-मन्त्री मि० रैम्ज़े मैकडानल्ड, लार्ड इसलिंगटन, सर थियोडोर मारिसन, मि० स्काट, मि० एफ० टी० ब्रुक, जर्मनी के मि० बे, हालैंड के मि० केरीयर, जापान के प्रोफ़ेसर किमूरा इत्यादि कितने ही विदेशी यात्री गुरुकुल आये और उसकी प्रशंसा के गीत गाते हुए वापिस लौटे। मि० हालैंड ने 'मार्डन रिव्यू' में गुरुकुल को न केवल भारत किन्तु समस्त संसार की आशा का केन्द्र लिखा था। मि० मैकडानल्ड की सम्मति पीछे दी जा चुकी है। गुरुकुल में दिये व्याख्यान में भी आप ने कहा था—"गुरुकुल का उद्देश्य भारतीयों को सरकारी यूनिवर्सिटियों की तरह दोगले अंगरेज़ न बना कर सच्चे भारतवासी बनाना है।" लार्ड इसलिंगटन भारत

में सन १९१३ में आये हुए रायल कमीशन के सभापति थे। आप ने अपने भाषण में गुरुकुल को बहुत मनोरंजक संस्था कहा था और कहा था कि पश्चिमीय सभ्यता नगरों से उत्पन्न हुई है और पूर्वीय सभ्यता जंगलों से। आप यहां जंगलों में बैठे हुए मृतप्राय पूर्वीय सभ्यता में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा कर रहे हैं। जापान के प्रसिद्ध विद्वान और वहां के विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री किमुरा गुरुकुल से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने कहा था—"थोड़े से समय के निवास में ही मैंने यहां से अनेक शिक्षायें प्राप्त की हैं, जो मेरे देश के लिये भी बिलकुल नवीन हैं। आशा है, भविष्य में जापान के बहुत से विद्यार्थी यहां आकर भारत की प्राचीन संस्कृति का अध्ययन किया करेंगे।"

इस प्रकार गुरुकुल पश्चिमीय लोगों को भी अपनी सफलता और विशेषताओं पर मुग्ध करने में कृतकार्य हुआ। वहां का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि बाहिर के लोग उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। गुरुकुल ने एक फैल्स को ही पंडित दयानारायण नहीं बनाया, किन्तु कितनों के ही जीवन और विचारों में गुरुकुल ने क्रांति पैदा की थी। मि० एण्ड्रूज़ का मांसाहार छुड़ा कर उन को शाकाहारी बनाने का गौरव गुरुकुल को ही प्राप्त है। महात्मा जी के साथ मि० एण्ड्रूज़ का इतना अपनापन था कि दोनों का आपस का पत्र-व्यवहार 'माई डियर राम' तथा 'युअर डियर

चार्ली' और 'माई डियर चार्ली' तथा 'युअर डियर राम' के शब्दों में होता था। वह इतना उपयोगी और विस्तृत पत्र-व्यवहार है कि यदि अब भी जितना प्राप्त है उतना ही प्रकाशित किया जा सके तो एक शिक्षाप्रद पुस्तक का काम दे सकता है। उस पत्र-व्यवहार से यह प्रगट होता है कि भारत को ईसाई बनाने के सुख-स्वप्न देखने वाले पादरियों के गिरोह में से एण्ड्रूज को निकाल कर उनको भारतभक्त और दीनबन्धु बनाने का श्रेय भी गुरुकुल एवं महात्मा जी को ही है। श्रीयुत एण्ड्रूज संसार के किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को बराबर पत्र लिखते रहे। प्रिटोरिया (दक्षिण अफ्रीका) से एक पत्र में दीनबन्धु ने महात्मा जी को लिखा था—"मुझको इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृभूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीया माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूंगा। मैं पिता जी से मिलने के लिये इंगलैंड जा रहा हूं और वहां अपनी माता की क़बर पर फूल चढ़ाऊंगा। परन्तु उसकी आत्मा तो वहां न होगी वह तो भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी।" शिमला से महात्मा जी को लिखे हुये एक पत्र में लिखा है:—"यहां आने पर मुझको मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से विशप और दूसरे लोग मुझ से बहुत

असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा ईसाई बन गया हूं। यही मैं बनना चाहता था। इंगलैंड से भी इस सम्बन्ध में बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिता जी का पत्र सब से अधिक दुःखपूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका तो हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिये दुःखी हूं। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझको आप के अन्यतम प्रेम का पूरा भरोसा है।" डरविन से भी इसी आशय का लिखा हुआ एक पत्र है। गुरुकुल के सम्बन्ध में आप सदा ही चिन्तित रहते थे। इंगलैंड से आप ने एक पत्र में लिखा था—"श्रीयुत गोखले से मिलकर मुझको बड़ी चिन्ता हुई। उनको भय है कि गुरुकुल पर पुलिस की नज़र है और वहां तलाशी आदि होने की सम्भावना है। सर वेलेण्टाइन शिरोल ने भी इस ओर संकेत किया है। मैंने उससे कुछ विस्तार में जानना चाहा। पर, वह चुप साध गया। परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना है कि आप पर कोई आपत्ति न आये और पुलिस आप के जीवन तथा कार्य को संकटमय न बना सके।" गुरुकुल के प्रति आपका प्रेम इतना अधिक था कि आप अपने साथी मि० पियर्सन के साथ महीनों गुरुकुल आ कर रहते थे।

गुरुकुल को आप दोनों ने अपना घर बना लिया था। मि० एराडरूज़ के सौ से अधिक पत्रों में से ऊपर केवल तीन पत्रों की कुछ पंक्तियां दी गई हैं। इनसे स्पष्ट है कि दीनबन्धु एराडरूज़ महात्मा जी को अपना पथप्रदर्शक मानते थे।

कलकत्ता के विशप-कालेज के पादरी अध्यापक मि० आर० जी० मिलबर्न मि० ग्रियर्सन की प्रेरणा से हिन्दी सीखने की इच्छा से सन १९१४ के फरवरी मास में गुरुकुल पधारे थे। आने से पहले आप ने महात्मा जी से गुरुकुल आने की आज्ञा मांगते हुए लिखा था—"मैं पादरी-अध्यापक हूं। शायद आप गुरुकुल में एक ईसाई पादरी का रहना पसन्द न करें। यदि आप मुझ से यह प्रतिज्ञा चाहें कि मैं वहां आकर ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में किसी के साथ कोई बात नहीं करूंगा, तो मैं वैसी प्रतिज्ञा करने को भी तय्यार हूं। मैं आपको वचन देता हूं कि यदि कभी कोई बालक मुझ से ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में कुछ पूछेगा, तो भी मैं ईसाई-धर्म के सम्बन्ध में चुप रहूंगा। मैं भारत की भाषा और भारत के धार्मिक जीवन का अध्ययन करने के लिये ही गुरुकुल आना चाहता हूं।" महात्मा जी ने लिखा—"आप जब चाहें आ सकते है। यहां आते हुए एक ही प्रतिज्ञा करनी होगी। वह यह कि यहां रहते हुए मांसाहार नहीं करना होगा। ईसाई-धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में आप यहां आकर देखेंगे कि उदारता का दावा करने वालों की अपेक्षा

हम लोग कहीं अधिक उदार हैं।" मि० मिलवर्न गुरुकुल आये। महिनाभर वहां रहे। हिन्दी सीख गये और साथ में भारत के धार्मिक जीवन का इतना प्रभाव ले गये कि कलकत्ता जाकर 'पादरीपन' को तिलांजलि दे दी।

इसी प्रकार मद्रास के संस्कृत के माने हुए विद्वान् श्रीयुत् कृष्णमाचार्य सरस्वती-सम्मेलन के सभापति हो कर इस शर्त पर आये कि उनका अपना रसोइया साथ में आयेगा और वे सब से अलग बन्द कमरे में अपना भोजन किया करेंगे। चार-पांच दिन वैसा क्रम चला। पर जाने के एक दिन पहिले महाविद्यालय-भण्डार में उन्होंने ब्रह्मचारियों और महात्मा जी के साथ एक पंक्ति में बैठ कर भोजन किया। महात्मा जी के व्यक्तित्व और गुरुकुल के वातावरण में कुछ ऐसा ही प्रभाव था कि जो वहां आया, कुछ न कुछ उसके रंग में रंग कर ही गया। जिस संस्था में शाम को मेहतर तक रामायण का पाठ करते हों, ऊंची श्रेणियों के ब्रह्मचारी धोबियों तथा मेहतरों के बालकों को भी सुशिक्षित करना अपना कर्तव्य समझते हों, और जिस संस्था द्वारा चारों ओर दूर-दूर तक गांव-गांव में प्रारम्भिक विद्यालय खोल कर शिक्षा का प्रसार किया जाता हो, उसके वातावरण में ऐसा जादू का-सा असर होना कोई बड़ी बात नहीं है।

ऐसी सफल संस्था की विशेषताओं पर भी थोड़ा प्रकाश इस लिये डालना आवश्यक है कि उसकी सफलता का रहस्य पाठकों

को मालूम हो जाय और चरित्रनायक के जीवन के सर्वोत्तम और महान् कार्य के साथ उनका पूरा परिचय हो जाय। इन विशेषताओं की व्याख्या यहां इस लिये नहीं की जायगी कि पिछले पृष्ठों में यत्र-तत्र उनका उल्लेख किये बिना भी उनकी व्याख्या हो गई है।

सन् १९२० में महात्मा गान्धी द्वारा असहयोग-आन्दोलन शुरू किये जाने पर जिस स्वतन्त्र-शिक्षा-प्रणाली के लिये देश पागल हो उठा था, गुरुकुल उसका जीवित चित्र है। गुरुकुल अपने जन्मकाल से स्वतन्त्र रूप में अपना काम करता आ रहा है। न उसको सरकार की किसी प्रकार की कोई सहायता प्राप्त है और न किसी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ उसका किसी प्रकार का कुछ सम्बन्ध है। यही गुरुकुल की सब से बड़ी और पहली विशेषता है। प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम-पद्धति तथा गुरु-शिष्य-सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करना दूसरी विशेषता है। जिस श्रद्धा, विश्वास, स्वाभिमान, नैतिकता और आस्तिकभाव की दूसरी संस्थाओं द्वारा समाप्ति हो रही है, उसको फिर से प्रस्थापित करना तीसरी विशेषता है। भारतीय सभ्यता के मूलमन्त्र सादा जीवन तथा उच्च विचार को जीवन का एक हिस्सा बनाते हुए नष्टप्राय भारतीय-संस्कृति का पुनरुद्धार करना चौथी विशेषता है। मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा हिन्दी द्वारा उच्च से उच्च शिक्षा देना गुरुकुल की अपनी ही विशेषता पांचवीं है। पश्चिम

के विज्ञान के साथ भारत के वैदिक-संस्कृत-विज्ञान का मिश्रण करना और वैदिक साहित्य का पुनरुद्धार करना छठी विशेषता है। समाजसुधार को जीवन के साथ तन्मय करते हुए रूढ़ि तथा परम्परा की जड़ काटना सातवीं विशेषता है। बाल-विवाह और जात-पात सरीखी हिन्दू-समाज में घर की हुई कुरीतियां का गुरुकुल ने पूरी सफलता के साथ मुंह काला किया है। उच्च से उच्च जाति के बालकों के साथ नीच से नीच समझी जाने वाली जाति के बालक बिना किसी भेदभाव के एक साथ रहते और शिक्षा प्राप्त करते हैं। समान भोजन, समान वस्त्र और समान व्यवहार गुरुकुल की आठवीं विशेपता है। धनी-निर्धन के भेद-भाव को भी गुरुकुल ने मिटा दिया है। सब से बड़ी विशेषता यह है कि आर्यसमाज द्वारा संचालित होने पर भी गुरुकुल साम्प्रदायिक-संस्था नहीं है, अपितु ऐसी आदर्श राष्ट्रीय-संस्था है, जो किसी भी राष्ट्रीय-संस्था के लिये नमूना हो सकती है। गुरुकुल के दस वर्षों का सिंहावलोकन करते हुए 'प्रचारक' में महात्मा जी ने लिखा था—"मेरा यह विश्वास है कि सब मत-वादियों के झगड़ों से दूर पले हुए ये गुरुकुल-निवासी आर्य जनता के पुत्र ही सनातनी, आर्य, मुसलमान और ईसाइयों के पारस्परिक झगड़ों को मिटा कर शान्ति की स्थापना करेंगे। यदि इस पर भी किसी के मन का सन्तोष न हो, तो उसे प्रतीक्षा करनी चाहिये।" इसी उदार दृष्टि से महात्मा जी गुरुकुल का

संचालन करते थे। इसी लिये गुरुकुल साम्प्रदायिक-संस्था न हो कर राष्ट्रीय-संस्था बन गया है। महात्मा गांधी ने गुरुकुल के सम्बन्ध में यह बिलकुल ठीक कहा है कि—"आर्यसमाज के कार्य का सर्वोत्तम परिणाम गुरुकुल की स्थापना है। यह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय-संस्था है, जिस का शासन और प्रबन्ध सब स्वायत्त है।"

गुरुकुल का सार्वजनिक जीवन भी गुरुकुल की अपनी ही विशेषता है। पढ़ाई के साथ अध्यापकों के निरीक्षण में चलने वाली विवादात्मक-सभाओं के अलावा आश्रम में ब्रह्मचारी अपनी सभायें और पत्र-पत्रिकायें स्वतन्त्र रूप में चलाते हैं। सभाओं में पार्लमेंट, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कविता-सम्मेलन, कांग्रेस आदि के कितने ही अधिवेशन ब्रह्मचारी स्वयं करते हैं। इन में जिन्होंने ब्रह्मचारियों को भाषण तथा विवाद करते हुए सुना है और पत्र-पत्रिकाओं में उन के लेख पढ़े हैं, उन्होंने उन-की भाषण-शक्ति, विचार-सरणी और लेखन-शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उत्सव पर होने वाले सरस्वती सम्मे-लनों का आयोजन ब्रह्मचारियों की सभा 'साहित्य-परिषद' की ओर से ही होता है। इस परिषद की ओर से कुछ अच्छी साहित्यिक पुस्तकें भी प्रकाशित की गई हैं। गुरुकुल में आने वाले सम्माननीय दर्शकों का आतिथ्य-सत्कार ब्रह्मचारी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ स्वयं ही करते हैं। इस स्वाभाविक प्रेम-पूर्ण

आतिथ्य को गुरुकुल में आया हुआ व्यक्ति कभी भूल नहीं सकता। बाहिर से आये लोगों के विचारों से लाभ उठाने के लिये ब्रह्मचारी उन को चिपट जाते हैं। उन को सन्तुष्ट किये बिना उन से छुटकारा पाना सम्भव नहीं होता।

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री शङ्करदेव जी विद्यालङ्कार ने कितने सुन्दर शब्दों में अपनी कुल-भूमि का चित्र अंकित किया है। वे लिखते हैं—"गुरुकुल आर्यसमाज की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। वह इस युग में भारतभूमि में सब से पहला राष्ट्रीय-ज्ञान-मन्दिर है। धर्म, राष्ट्रीयता और ब्रह्मचर्य की वह तीर्थभूमि है। आत्मिक और मानसिक शान्ति के यात्रियों का वह शान्ति-निकेतन है। सत्य और धर्म की वेदी पर आत्मार्पण करने वाले वीरों का वह सत्याग्रह-आश्रम है। शान्ति की पवित्र मन्दाकिनी वहां बह रही है। आत्मवीर ऋषि श्रद्धानन्द की वह तपो-भूमि है।"

ऐसी विशेषताओं से सम्पन्न गुरुकुल की कल्पना को प्रत्यक्ष सचाई सिद्ध कर देना अथवा उस को विचार-कोटि से मूर्त्त रूप में लाकर परीक्षा की मंजिल से पार पहुंचा देना महात्मा मुन्शीराम जी के जीवन का इतना बड़ा काम है, जो उनके सब कामों के इतिहास के पृष्ठों पर से मिट जाने पर भी नालन्दा और तक्षशिला के विश्वविद्यालयों के समान सदा याद किया जाता रहेगा।

१०. गुरुकुल और महात्मा गांधी

गुरुकुल के साथ जगद्वन्द्य महात्मा गांधी का सम्बन्ध एक ऐतिहासिक घटना है। उस का उल्लेख स्वतन्त्र रूप में ही किया जाना चाहिये। गुरुकुल के प्रति महात्मा गांधी के आकर्षण का एक इतिहास है। जंगल में शहरी जीवन से दूर रहते हुए भी गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में देश के कष्टों को अनुभव करने और उन के प्रतिकार के लिये कुछ-न-कुछ त्याग करने की अद्भुत भावना घर किये हुए हैं। सम्वत् १९६४ के दुर्भिक्ष में ब्रह्मचारियों ने अपना दूध बन्द कर के उस की बचत दुर्भिक्ष-पीड़ित भाइयों की सहायतार्थ भेजी थी। सम्वत् १९६५ में दक्षिण-हैदराबाद और सम्वत् १९६८ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ने पर भी ब्रह्मचारियों ने अपने त्याग का योग्य परिचय दिया था। सम्वत् १९७०, ईस्वी सन १९१३-१९१४ में जब महात्मा गांधी ने अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों के लिये सत्याग्रह का धर्मयुद्ध छेड़ा हुआ था और भारत में स्वर्गीय गोखले उस के लिये चंदा एकत्रित कर रहे थे, तब गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने भोजन में कुछ कमी करके और अधिकतर हरिद्वार के दूधिया बांध पर ठिठुरती सरदी में कठोर मजूरी करके १५०० रुपया उस धर्मयुद्ध की सहायतार्थ भेजा था। यह रुपया श्रीयुत गोखले के पास तब पहुंचा था, जब वे हताश हो कर गहरी

चिन्ता में पड़े हुए थे। कहते हैं, उन्होंने उस रक़म को १५ हज़ार से भी अधिक क़ीमती समझा था और वे प्रसन्नता में कुर्सी पर से उछल पड़े थे। श्रीयुत गोखले ने महात्मा मुन्शीराम जी को ता० २७ नवम्बर सन् १९१३ को देहली से एक पत्र में इस सम्बन्ध में लिखा था—"मुझे रैवरेएड ऐएडरूज़ और पण्डित हरिश्चन्द्र ने बताया है कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारी दक्षिण-अफ्रीका के सत्याग्रह के लिये घी-दूध छोड़ कर और साधारण कुलियों और मज़ूरों की तरह मजूरी करके रुपया इकट्ठा कर रहे हैं। दिल हिला देने वाले इस देशभक्तिपूर्ण कार्य के लिये मैं उनको क्या धन्यवाद दूं? यह तो उनका वैसे ही अपना काम है, जैसे कि आपका और मेरा है। वे इस प्रकार भारतमाता के प्रति अपने ढंग से अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। फिर भी भारतमाता की सेवा के लिये त्याग और श्रद्धा का जो आदर्श उन्होंने देश के युवकों तथा वृद्धों के सामने उपस्थित किया है, उसकी अन्तःकरण से प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सकता। मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरे ये भाव किसी तरह उन तक पहुंचा देंगे।" इसी पत्र में आपने लिखा था—"आप मुझे गुरुकुल आने के लिये प्रायः कहते हैं। मुझको अत्यन्त खेद है कि मैं अब तक भी गुरुकुल नहीं आ सका। यदि अवस्था अनुकूल रही तो जनवरी १९१५ में वहां आऊंगा। मैं आपके प्रति आदर व्यक्त करता हुआ संस्था

का सब प्रकार से अभ्युदय चाहता हूं।" यह पत्र श्रीयुत गोखले का अपने हाथ से लिखा हुआ है। इससे गुरुकुल के प्रति आपके प्रेम का भी परिचय मिलता है। गुरुकुल न आ सकने का दुःख आपको अन्त तक बना रहा और गुरुकुलवासी भी आपके दर्शनों से वंचित रहना अपना दुर्भाग्य ही समझते थे।

ब्रह्मचारियों के त्याग की इस भावना ने गान्धीजी को गुरुकुल का प्रेमी बनाया था। मि० एराडरूज़ भी इस सत्याग्रह में गान्धी जी के सहायक थे। उन्होंने भी आपके दिल में गुरुकुल के लिये प्रेम और आकर्षण पैदा किया था। २१ अक्तूबर सन् १९१४ को फोनिक्स-नटाल में गान्धी जी ने मुन्शीराम जी को निम्न-लिखित सब से पहिला पत्र अंग्रेजी में लिखा था :—

"प्रिय महात्माजी,

मि० एराडरूज़ ने आपके नाम और काम का मुझको परिचय दिया है। मैं अनुभव कर रहा हूं कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा। इसलिये आशा है आप मुझे आपको 'महात्माजी' लिखने के लिये क्षमा करेंगे। मैं और मि० एराडरूज़ आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिये इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। मि० एराडरूज़ ने मुझको यह भी बताया है कि आप, गुरुदेव और मि० रुद्रा से वे किस प्रकार प्रभावान्वित हुए हैं। आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिये जो काम किया

है, उसका वर्णन भी उन्होंने मुझ से किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुए अपने को गुरुकुल में ही बैठा हुआ समझता हूं। निस्सन्देह उन्होंने मुझे उन तीनों संस्थाओं को देखने के लिये अधीर बना दिया है और मैं उन संस्थाओंके संचालकों, भारत के तीनों सपूतों, के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूं।

आपका—मोहनदास के० गान्धी"

गान्धीजी के भारत आने से पहिले ही आपके फोनिक्स के सत्याग्रह-आश्रम के विद्यार्थी भारत आ गये थे और अहमदाबाद में आश्रम की स्थापना का अभी निश्चय नहीं हुआ था। इसलिये आपने अपने विद्यार्थियों के लिये सर्वोत्तम स्थान गुरुकुल ही नियत किया था और आपके विद्यार्थी सम्वत् १९७१ में गुरुकुल आकर महीनों वहां रहे भी थे। सम्वत १९७२ के कुम्भ पर गान्धीजी हरिद्वार आये थे और विना किसी पूर्व सूचना के गुरुकुल भी एकाएक पधारे थे। इतने महान पुरुष में नम्रता इतनी थी कि गुरुकुल आने पर उसने मुन्शीरामजी के चरण छूकर नमस्कार किया था। इस समय गुरुकुल आने से पहिले आपने पूना से जो पत्र महात्माजी को लिखा था वह आपकी ही भाषा में यहां दिया जाता है:—"महात्माजी, आपका तार मुझको मीला था। उस्का प्रत्युत्तर तार से भेजा था। वो आपको मीला होगा। मेरे बालकों के लीये जो परिश्रम आपने उठाया

और उन्हों को जो प्यार बतलाया उस वास्ते आपका उपकार मानने को मैंने भाई एराडरूझ को लीखा था। लेकिन आपके चरणों में सीर झुकाने की मेरी उमेद है। इसलीये बिना आमन्त्रण आने की भी मेरी फरज समझता हुं। मैं बोलपुर से पीछे फीरुं उस वखत आपकी सेवा में हाज़र होने की मुराद रखता हूं। —आपका सेवक—मोहनदास गान्धी।" पत्र का एक एक शब्द नम्रता की स्याही में कलम डुबोकर लिखा गया था। उसके बाद मायापुर-वाटिका में विशेष मण्डप सजा कर गुरुकुलवासियों की ओर से ८ अप्रैल सन् १६१५ को गान्धीजी का विशेष अभिनन्दन किया गया था और ब्रह्मचारियों की ओर से आपको एक मान-पत्र भी अर्पित किया गया था। आज गान्धीजी जिस 'महात्मा' शब्द से जगद्विख्यात हैं, उसका सर्वप्रथम प्रयोग आपके लिये गुरुकुल की ओर से दिये गये इस मान-पत्र में ही किया गया था। उसके पहले और बाद भी महात्मा गांधी को सैकड़ों मान-पत्र मिले होंगे, किन्तु उस मान-पत्र की मिठास और अपनापन किसी और मान-पत्र में आपको अनुभव नहीं हुआ होगा। वह मान-पत्र गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के भावों को भी अभिव्यक्त करता था। उसके कुछ प्रारम्भिक शब्द ये थे—"मातृभूमि के वस्त्र फटे हुए हैं, दिन-दिन कृशता घेर रही है, शरीर कांटों से छिदा हुआ है, रुधिर बह रहा है। ऐसे समय में आप ही की ओर वह स्नेह और आशा

से देख रही है। आप ही दूसरी जातियों में उसका मुख उज्ज्वल करने वाले हैं। आप स्वाधीनता के दिव्य मन्त्र में दीक्षित हैं। जातीयता की नौका के कर्णधार हैं। देशभक्तों के सर्वस्व हैं। इस कुल के पूजनीय अतिथि हैं।" गांधी जी ने उसके उत्तर में कहा था—"मैं हरिद्वार केवल महात्मा जी के दर्शनों के लिये आया हूं। मैं उनके प्रेम के लिये कृतज्ञ हूं। मि० एराडरूज़ ने मुझको भारत में अवश्य मिलने योग्य जिन तीन महापुरुषों का नाम बताया था, उनमें महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों की सहायता के लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूं। उन्होंने फ़ोनिक्स के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूंगा। मुझे अभिमान है कि महात्मा जी मुझको भाई कह कर पुकारते हैं। मैं अपने में किसी को शिक्षा देने की योग्यता नहीं समझता, किन्तु देश के किसी भी सेवक से मैं स्वयं शिक्षा लेने का अभिलाषी हूं।" व्याख्यान का एक-एक शब्द नम्रता और कृतज्ञता के भाव में सना हुआ था। कुम्भ के बाद फ़ोनिक्स के विद्यार्थी दुबारा फिर गुरुकुल में रहे थे और अहमदाबाद का स्थान तय हो जाने पर ही यहां से वहां गये थे। गुरुकुल के चौदहवें वार्षिकोत्सव पर ४ चैत्र सम्वत् १९७२ को भी फिर गांधी जी गुरुकुल पधारे थे। उस अवसर पर आपने अपने भाषण में कहा था—"इस समय मैं महात्मा जी का बन्दा बन कर यहां आया हूं। महात्मा जी मेरे बड़े भाई हैं। जब मैं विदेश में था तब मेरे

लड़के यहां रहे थे। महात्मा जी उनके पिता और ब्रह्मचारी उनके भाई थे। अब भी मेरे लड़के मुझे महात्मा जी के पितृवत् व्यवहार और ब्रह्मचारियों के भ्रातृवत् व्यवहार के विषय में प्रायः कहा करते हैं। मैंने चौदह वर्षों से देखा है कि आर्यों में स्वार्थत्याग, शिक्षा और भारत के हित का भाव है। अतएव मैं इनका सत्संग करना चहता हूं।"

मुन्शीराम जी के प्रति गांधी जी का यह आकर्षण गुरुकुल के कारण था और उसका कारण था ब्रह्मचारियों का त्याग, तपस्या तथा कष्ट-सहन, जो गुरुकुल की एक महान् विशेषता है। गांधी जी को जैसे मुन्शीराम जी ने 'महात्मा' बनाया, वैसे ही मुन्शीराम जी को स्वामी श्रद्धानन्द होने के बाद गांधी जी 'सत्याग्रही' बना कर राजनीतिक क्षेत्र में ले आते हैं। यदि दोनों भाई अन्त तक मिले रह सकते तो देश के राजनीतिक क्षेत्र के लिये दोनों एक बड़ी शक्ति सिद्ध होते। देश का यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि अन्त में दोनों अलग-अलग हो गये और देश उनकी सम्मिलित शक्ति के लाभ से वंचित रह गया। स्वामी श्रद्धानन्द जी के देहली के बलिदान के बाद अनाथ गुरुकुल की जब रजत-जयन्ती मनाई गई थी, तब भी गुरुकुल पधार कर गांधी जी ने उसको सनाथ कर अनुगृहीत किया था। महात्मा गांधी सरीखे अलौकिक महापुरुष को अपनी ओर आकर्षित कर लेना भी गुरुकुल के लिये गौरव की बात है और

उस गौरव का सब से अधिक श्रेय महात्मा मुन्शीराम जी के उस व्यक्तित्व को है, जिसके लिये मि० मेकडानल्ड ने ठीक ही लिखा था—"एक महान् भव्य और शानदार मूर्ति, जिसको देखते ही उसके प्रति आदर का भाव पैदा होता है, हमारे आगे हम से मिलने आती है। आधुनिक चित्रकार ईसामसीह का चित्र तय्यार करने के लिये उसको अपने सामने रख सकता है और मध्यकालीन चित्रकार उसको देख कर सेण्ट पीटर का चित्र तय्यार कर सकता है, यद्यपि उस मछिहारे की मूर्ति की अपेक्षा यह मूर्ति अधिक भव्य और प्रभावोत्पादक है।"

११. असिद्ध स्वप्न

गुरुकुल के स्वप्न को मूर्तरूप देकर सफलता तक पहुंचा देने पर भी महात्मा जी की महत्वाकांक्षा उस के सम्बन्ध में पूरी नहीं हो सकी। आपके स्वप्न का एक बड़ा हिस्सा अधूरा ही रह गया। गुरुकुल से अलग होते हुए आप ने उस की ओर संकेत भी किया था, किन्तु आप के बाद के अधिकारी एवं संचालक भी उस को पूरा नहीं कर पाये। उस के पूरा न होने का एक कारण आर्थिक कठिनाई था और दूसरा वह मतभेद, जिस का पीछे उल्लेख किया जा चुका है। गुरुकुल की स्वामिनी सभा में एक अच्छा बड़ा दल गुरुकुल को केवल उपदेशक पैदा करने की फैक्टरी अथवा संस्कृत की चटशाला बनाये रखना चाहता था।

इस दृष्टिभेद से पैदा होने वाला संघर्ष भी गुरुकुल की यथेष्ट उन्नति और महात्मा जी के गुरुकुल सम्बन्धी स्वप्न की पूर्ति में बाधक सिद्ध हुआ। 'भारतवासियों पर गुरुकुल के अधिकार' को बताते हुए महात्मा जी ने गुरुकुल के लिये पच्चीस लाख रुपये के स्थिरकोष की अपील की थी और उस अपील में उस स्वप्न का पूरा चित्र अंकित किया था, जो उन की आंखों के सामने सदा नाचा करता था। महाविद्यालय-विभाग को आप कहीं अलग ही रखना चाहते थे, जिस के लिये एक लाख की आवश्यकता ब ाई थी। कृषि-विभाग को आप अच्छे पैमाने पर चलाना चाहते थे, जिस के लिये दो लाख की आवश्यकता थी। कला-भवन के लिये दो लाख, कताई-बुनाई आदि सर्वांग-पूर्ण बनाने के लिये एक लाख और उस के मकानों के लिये एक लाख—सब चार लाख चाहिये था। आयुर्वेद-विभाग को सम्पूर्ण बनाने के लिये, जिस में आयुर्वेद-भवन तथा आयुर्वेद-वाटिका भी शामिल थी, साढ़े चार लाख की ज़रूरत थी। स्नातकों को विदेश भेजकर गुरुकुल में अध्यापन के लिये पूर्णतया योग्य बनाने के लिये एक लाख, सदा ८० ब्रह्मचारियों के निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर सकने के लिये चार लाख और विद्यालय-विभाग तथा शाखा गुरुकुलों की स्थिरता के लिये चार लाख चाहिये था! इन आवश्यकताओं का उल्लेख करने के बाद आपने लिखा था—"इस प्रकार पच्चीस लाख रुपयों की गुरुकुल-विश्वविद्यालय-कांगड़ी

को स्थिर करने के लिये आवश्यकता है। यदि इस की बुनियाद आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हो जाय और यहां के कार्यकर्ताओं को आये दिन भीख के लिये बाहर न निकलना पड़े, तो इस संस्था से वे काम हो सकेंगे, जो कोई दूसरी संस्था एक करोड़ का स्थिर कोष जमा करके भी नहीं कर सकेगी।" युद्ध के समय दियासलाई महंगी होने पर गुरुकुल में दियासलाई बनाने का कारखाना खोलने का विचार भी आप ने 'प्रचारक' में प्रगट किया था।

केवल गुरुकुल कांगड़ी को ही आप इतना उन्नत, विशाल एवं स्थिर नहीं बनाना चाहते थे, किन्तु आप देश भर में उस की शाखाओं का जाल बिछा देना चाहते थे। आप ने लिखा था—"यदि मेरे पास पचहत्तर लाख रुपया हो तो गुरुकुल की सौ शाखायें तत्काल खोल सकता हूं।"

ये सब आकांक्षायें अधूरी ही रह गईं, तो भी गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की सचाई इस रूप में कायम हो गई कि आर्य-समाज के अतिरिक्त सनातनी और जैनी आदियों ने भी गुरुकुल खोलने शुरू कर दिये। कोरी कल्पना का विषय लोगों के व्यवहार का विषय बन गया। इसी लिये इस में सन्देह नहीं कि गुरुकुल के नाते महात्मा मुन्शीराम जी 'क्रांतिकारी शिक्षक' और 'भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के पिता' के नाम से भारत की शिक्षा के इतिहास में सदा याद किये जायेंगे।

१२. गुरुकुल से जुदाई

महात्मा मुन्शीराम जी आपस के संघर्ष को टालने में सदा चतुराई से काम लिया करते थे। गुरुकुल को संस्कृत की चटशाला बनाने किंवा विश्वविद्यालय बनाने का मतभेद दिन पर-दिन जोर पकड़ता गया। यदि महात्मा जी गुरुकुल में बने रहते तो सम्भव था कि वह मतभेद संघर्ष में परिणत हो जाता और वह गुरुकुल के लिये भी भयानक सिद्ध होता। प्रकाश-पार्टी के सर्वेसर्वा महाशय कृष्ण जी प्रतिनिधि-सभा के मन्त्री थे। सभा में तो महात्मा जी के सामने उन की कुछ चलती नहीं थी, किन्तु 'प्रकाश' में गुरुकुल एवं उसके सम्बन्ध में महात्मा जी के आदर्श की आलोचना करने का कोई अवसर उन्होंने खाली नहीं जाने दिया। प्रकाश-पार्टी के लोग गुरुकुल का काम भी पार्टी-लाइन पर चलाना चाहते थे और वे महात्मा जी से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वे भी उन की पार्टी के सभासद् हो कर सब कार्य उन की मन्त्रणा से ही करें। महात्मा जी को इस प्रकार की पार्टी-बन्दी पसन्द नहीं थी। गुरुकुल की स्वामिनी-सभा के मन्त्री होने से महाशय कृष्ण अपने को गुरुकुल के मुख्या-धिष्ठाता से ऊपर का अधिकारी समझते थे। उस उच्चाधिकार का भी वह खुला प्रयोग करने लगे। गुरुकुल के उपाचार्य श्री रामदेव जी की सहानुभूति भी सभा के मन्त्री के साथ थी।

महात्मा जी ने इस अवस्था को भांप लिया और बिना संघर्ष पैदा हुए गुरुकुल से अलग होने का विचार किया। भगवान ने ठीक मार्ग भी दिखा दिया। संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का मार्ग स्वीकार करते हुए आपने गुरुकुल से छुट्टी लेने का निश्चय किया। २९ ज्येष्ठ सम्वत् १९७२ को आपने प्रतिनिधि-सभा के उस समय के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को लिखा—"वैदिक धर्म की आज्ञा शिरोधार्य समझ कुछ काल से उसके पालन का विचार मेरे अन्दर उठ रहा था। अब ऋषि दयानन्द के लेखानुसार वह समय आ गया है, जब कि उस आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। मेरा दृढ़ संकल्प हो गया है कि अब मैं संन्यासाश्रम में प्रवेश करूंगा। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी सम्वत् १९७२, ६ नवम्बर १९१५, के दिन मैं शिखा-सूत्रादि के बन्धनों से मुक्त हो कर पिता परमात्मा की शरण में पूर्णतया आजाऊंगा।" इसके बाद उक्त अवधि तक गुरुकुल का उचित प्रबन्ध करने के लिये लिखा गया है। श्री रामकृष्ण जी ने अपने सरल स्वभाव के अनुसार लिखा—"आपके गुरुकुल से अलग होने पर गुरुकुल की बहुत हानि होगी। ७५ वर्ष की आयु तक संन्यासाश्रम में प्रवेश न किया, तब भी कोई दोष नहीं है। आर्य-समाज और गुरुकुल दोनों की सेवा एक साथ हो सकती है। अधूरी अवस्था में गुरुकुल को छोड़ना उचित नहीं है। आशा है, आप पुनः विचार करेंगे।" कई मास तक यह पत्र-व्यवहार होता

रहा। २१ आषाढ़ को महात्मा जी ने त्यागपत्र ही लिख भेजा। परन्तु प्रधान जी फिर भी आप पर गुरुकुल में रहने के लिये दबाव डालते रहे। महात्मा जी का मानसिक सन्ताप इतना बढ़ गया कि श्रावण मास में आपने प्रधान जी को लिखा—"मैंने समझ लिया कि मेरा यही भाग्य है। सहायकों के विघ्न डालते हुए भी यथाशक्ति काम करूंगा।.........ऐसे सौभाग्यशाली दिन के आने से पहिले ही यदि प्राणान्त हो गया तो भी आनन्द है, क्योंकि अन्त्येष्टि-संस्कार तो कुल-पुत्रों के हाथ से हो जायगा।" सम्वत् १९७२ और १९७३ के दोनों वर्ष इसी पत्र-व्यवहार में निकल गये। जब परिस्थिति बहुत बिकट हो गई, तब महात्मा जी ने १८ चैत्र सम्वत् १९७३, ३० मार्च सन् १९१७, को प्रधान जी को इस सम्बन्ध में अन्तिम पत्र लिखा। उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—"आपका तथा भक्तराम जी का सन्देश पहुंचा। भक्तराम की इच्छा तो स्वाभाविक है, परन्तु क्या आप सचमुच मेरे शरीर का भला चाहते हैं? यदि ऐसी इच्छा आपकी है तो जो कष्ट और कठिनाइयां मुझे म० कृष्ण मन्त्री, म० रामदेव उपाध्यक्ष और लाला नन्दलाल स० मुख्याधिष्ठाता की कृपा से उठानी पड़ी हैं, उनको भूल कर आप मेरी निवृत्ति के मार्ग में रोड़ा क्यों अटकाते हैं? मैं तो अब शरीर का नाश कर चुका। मुझे तो यही अभीष्ट था कि चुपचाप किसी एकान्त स्थान में रह कर धर्मग्रन्थों पर विचार करता और यदि कुछ जनता की

भेंट रखने योग्य अपने पास होता तो उसको उनके आगे रख देता। परन्तु मुझे अपनी निर्बलताओं का फल मिल रहा है। जिनके लिये मैंने अपयश खरीदा, उन्हीं के द्वारा मुझको दारुण दुःख पहुंचे। अब सिवाय जबरदस्ती छुटकारा लेने के और कौनसा मार्ग है? बेचारे भक्तराम को क्या मालूम है कि बरसों से मैं गुरुकुल में कुछ भी काम नहीं कर सका हूं और मेरा यहां बैठना निरर्थक है। मैंने, इस लिये कि मेरे मार्ग में विघ्न डालने वाले और मेरे पग-पग पर रुकावटें डालने वाले काम के अयोग्य न हो जावें, एक शब्द भी लिख कर पब्लिक नहीं किया। ऐसी अवस्था में मेरे लिये श्रेय मार्ग वही है, जहां मैं विश्वासघाती और मित्रद्रोहियों की क्रियाओं को भूल कर उनके लिये भी परमात्मा से कल्याण की प्रार्थना कर सकूं। सम्भव है कि आप अन्तिम युक्ति यह सोचें कि आप गुरुकुल के जलसे पर आवें ही नहीं। यदि आपने ऐसा भी किया, तब भी मुझे ११ अप्रैल के प्रातःकाल यहां से चले ही जाना है।"

पत्र इतना स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना उसको अस्पष्ट ही करना होगा। इस प्रकार महात्मा जी ने गुरुकुल के पन्द्रहवें उत्सव के बाद गुरुकुल से विदाई लेकर गुरुकुल के सम्बन्ध में संघर्ष को टाला और उन के ही कन्धों पर गुरुकुल का काम छोड़ दिया, जो आप से रुष्ट थे।

अपने लिये तो आपने सम्राट् से भी ऊंचा परिव्राट् का पद प्राप्त कर लिया।

तीसरा भाग

ख.

आर्यसमाज और सरकार

१. सरकारी कोप का कारण, २. कुछ उदाहरण, ३. मुन्शीराम जी का सराहनीय कार्य ;
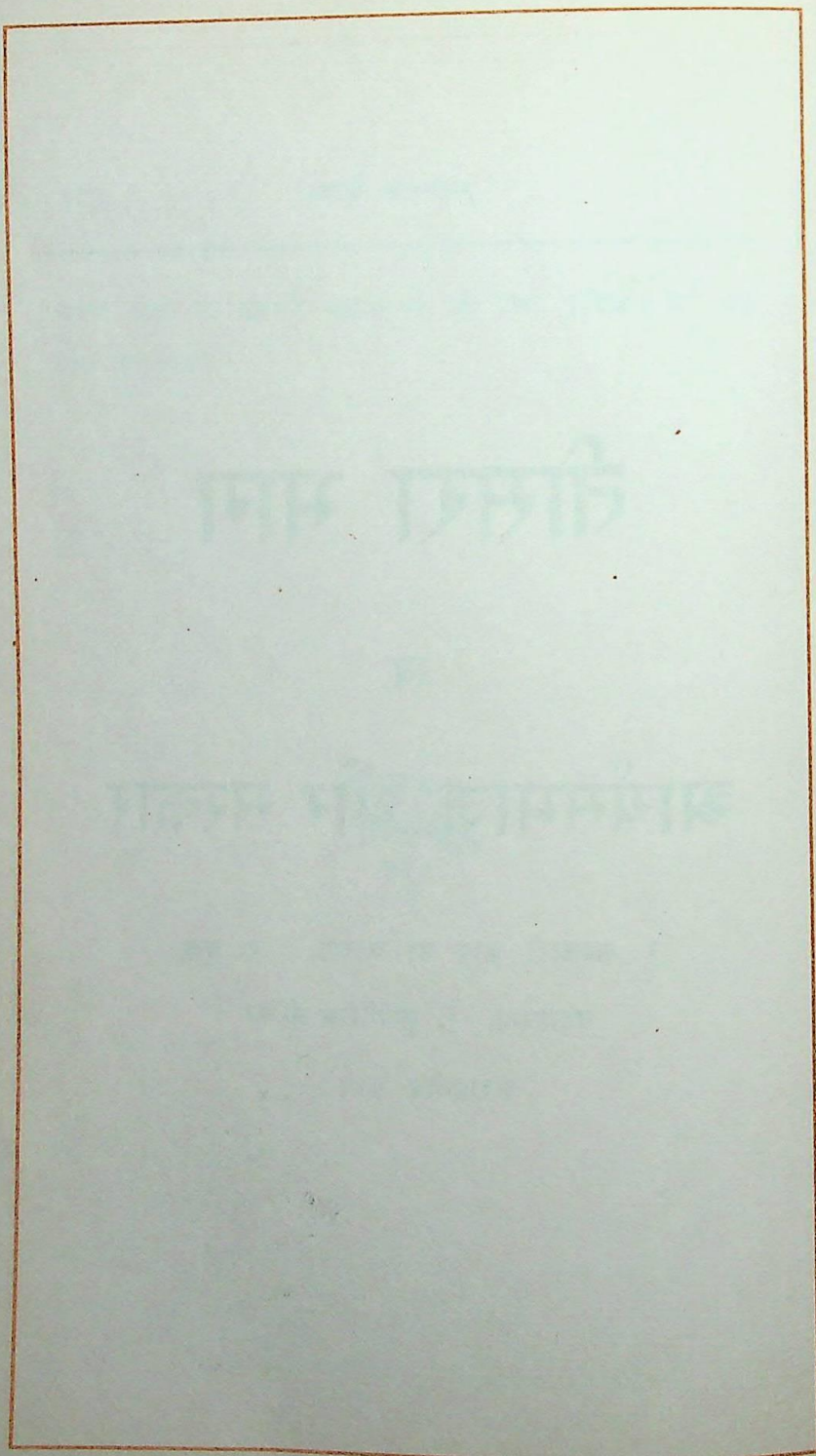
१. सरकारी कोप का कारण

"क्या हवा का रुख़ यह नहीं बतला रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है; फिर यदि गवर्नमेण्ट के कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें तो आश्चर्य क्या है?"—ये शब्द हैं जो महात्मा मुन्शीराम जी ने आर्यसमाज पर सरकारी कोप के कारणों की मीमांसा करते हुए सम्वत् १९६५ में लिखे थे। वस्तुतः आर्यसमाज एक उठती हुई संगठित शक्ति था, जिस से सरकार का भयभीत होना स्वाभाविक था। पश्चिमीय देशों के राज्य के विस्तार और स्थिरता के साधनों में 'बाइबिल' का

भी प्रमुख स्थान है। सन् १८५७ के राजद्रोह का दमन करते हुए अंगरेज़ भारत में अपने राज का यथेष्ट विस्तार कर चुके थे। उस के बाद वे उस को स्थिर बनाने में लगे। ईसाइयों के दल के दल समूचे भारत को ईसाई बनाने के मनसूवे बांध कर वैसे ही भारत में आ रहे थे, जैसे कि कोई राजा अपनी सेनाओं को दूसरे देश को विजय करने के लिये भेजता है। लार्ड क्लाइव के बाद लार्ड मैकाले का भारतीयों को दोगले अंगरेज़ बनाने का मिशन शिक्षा-विस्तार की आड़ में सन् १८३५ से ही अपना काम कर रहा था। उस ने एक पत्र में अपने पिता को ठीक ही लिखा था कि पच्चीस वर्ष बाद बंगाल में एक भी आस्तिक हिन्दू नहीं रहेगा। जो काम औरंगज़ेब की तलवार (!) से मुग़लों के आठ-नौ वर्ष के शासनकाल में नहीं हुआ था, उस को ईसाई चौथाई शताब्दि में करने का अटूट विश्वास किये हुए थे। ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज आदि को ईसाइयत की लहर हज़म कर चुकी थी। पर, आर्यसमाज उस के लिये चीन की दीवार साबित हुआ। आर्यसमाज के साथ टकराते ही ईसाई मिशनरियों का सुख-स्वप्न टूटा और उन्होंने देखा कि उन की स्वप्न-सृष्टि की उमंगों का पूरा होना सम्भव नहीं है। चोर को जैसे अपने पैर की आहट से भय लगता है, वैसे ही ईसाई आर्यसमाज से घबरा उठे और उन के भरोसे भारत में अपने साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुंचाने की आशा लगाये हुए

अंगरेज़ भी व्याकुल हो गये। ऐंग्लो-इण्डियनों और ईसाई मिशनरियों को आर्यसमाज के हर एक काम में राजद्रोह दीखने लगा। सिखों और मुसलमानों की भरती को भी आर्यसमाज के प्रचार से चोट लगी। उन के चरागाह के द्वार बन्द हो गये। इस पर उन्होंने भी आर्यसमाज के विरुद्ध ईसाई पादरियों के हाथ में हाथ मिलाया। श्राद्ध, मूर्तिपूजा, अवतार-वाद आदि का खण्डन करने से पोंगापन्थी हिन्दू भी आर्यसमाज से नाराज़ हो विरोधी-दल के साथ जा शामिल हुए। वीर अभिमन्यु का वध करने के लिये कौरव-दल के सभी महारथियों ने कमर कस ली। ईस्वी सन् १८८३ से ही ईसाई पादरियों ने आर्यसमाज को राजनीतिक संस्था कहना शुरू कर दिया था। मुन्शीराम जी ने इस सम्बन्ध में लिखा था—"आर्यसमाज के पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। ग़रीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी पर पटकनी मिलने लगीं, तब वे ओछी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्नमेण्ट को है।" इस सन्देह के लिये ऋषि दयानन्द के लेखों में काफ़ी गुञ्जायश भी थी। भले ही आर्यसमाज उस समय की कांग्रेस

की नीति से सहमत नहीं था और चाहे इस समय की नीति से भी सहमत न हो; भले ही उस समय उस के नेताओं ने आर्य-समाज को संन्यासी, धर्मोपदेशक, सुधारक एवं सार्वभौम धार्मिक-संस्था सिद्ध करने का यत्न किया था और चाहे अब भी वैसा ही यत्न क्यों न किया जाता हो; पर इस में इनकार नहीं किया जा सकता कि आर्यसमाज की अपीलों में धर्म के साथ-साथ देश का नाम भी बराबर लिया जाता था और अब भी लिया जाता है; ऋषि दयानन्द के मिशन का लक्ष्य सब संसार को वैदिक धर्म की शरण में लाना क्यों न रहा हो, पर देश की दुर्दशा, दरिद्रता एवं पराधीनता का दर्द उन के लिये असह्य था; अपने देश के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्य की महत्वाकांक्षा पैदा करने वाले इस युग में वे पहले व्यक्ति हैं; ब्रह्मचर्य, वेद एवं धर्म ही क्यों न उस एकता का आधार हो, किन्तु देश में एकता स्थापित कर उस को अपना देशीय राज्य भोगते हुए देखने के लिये वे तरसते थे और अब भी उन के लेख राजनीतिक दृष्टि से भी मुरदा दिल में जान फूंकने वाले हैं। ऋषि दयानन्द का धर्म देश-प्रेम, देशभक्ति और मातृ-पूजा के भावों से रहित नहीं था, अपितु मनुष्य के देह में रुधिर के समान उन से पूरी तरह ओत-प्रोत था। भारतीय-संस्कृति के गौरव को देशवासियों में पैदा करते हुए उन में स्वदेशाभिमान की स्फूर्ति पैदा करने वाला आर्यसमाज

नहीं तो और कौन है ? बाइबिल द्वारा भारत में अपने साम्राज्य को सदा के लिये स्थिर करने वालों के सुख-स्वप्न को आर्य-समाज ने भंग नहीं किया तो किस ने किया है ? आर्यसमाज के नेताओं को गृह-कलह से जैसे ही छुट्टी मिली, वैसे ही वे वेद-प्रचार तथा गुरुकुल आदि के विधायक-कार्यक्रम में लग गये और सरकारी लोगों के मनों में सन्देह के बादल और भी अधिक मंडराने लगे। उन को आर्यसमाज के हरएक काम में राजद्रोह, विप्लव और राज्यक्रांति दीखने लगी। बंग-भंग के आस-पास के दिनों में देश में जब दमन का दौर-दौरा शुरू हुआ, तब हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों ने आर्यसमाज को बलिदान का बकरा बना कर अपने को बचाने के लिये जो हरकतें कीं, उन से ऐसा मालूम होता है, मानो आर्यसमाज के विरुद्ध देश में कोई षडयन्त्र ही रचा गया था और उस में सरकार के बड़े से बड़े अधिकारी भी शामिल थे।

गुरुकुल के प्रकरण में गुरुकुल के प्रति किये गये सन्देह का वर्णन किया जा चुका है। आर्यसमाज के प्रति किये गये सन्देह की कहानी भी उतनी ही मनोरञ्जक है और साथ ही निराधार भी। आत्माराम सनातनी बहुत गन्दी और अश्लील भाषा में आर्यसमाज के विरुद्ध प्रचार किया करता था। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के लिये वह गन्दी से गन्दी और अश्लील से अश्लील भाषा काम में लाया करता था। इस गंदगी के लिये

उस के विरुद्ध सरकार की ओर से सन् १६०२ में इलाहाबाद में और सन् १६०५ में करांची में मुक़दमा चलाया गया। इलाहाबाद में उस ने आर्यों को राजद्रोही और 'सत्यार्थप्रकाश' को राजद्रोह के लिये उकसाने वाला बताते हुए अपना बचाव पेश किया। करांची में उसने यह चाल चली कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' को फ़ोश एवं राजद्रोही बता कर वहां के आर्यसमाज की तलाशी करवा दी और मन्त्री पर मुक़दमा दायर करवा दिया। दोनों जगह उस की दाल नहीं गली, किन्तु आर्यसमाज के प्रति पैदा हुए सन्देह की उसकी ऐसी हरकतों से पुष्टि अवश्य हुई। श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा की इंग्लैंड और फ्रान्स की राज-नीतिक हलचलों को भी आर्यसमाज के माथे मढ़ा गया। लाला लाजपतराय जी का देशनिकाला सन्देह के लिये सब से प्रबल प्रमाण माना गया। सरदार अजीतसिंह का आर्यसमाज के साथ कुछ भी सम्बन्ध न होते हुए भी उस को आर्यसमाज़ी बताया गया। भाई परमानन्द जी के यहां तलाशी होने के बाद तो आर्यसमाज के विप्लवी होने में कोई सन्देह ही बाक़ी न रहा। वैलेण्टाइन शिरोल की लम्बी नाक को ऋषि दयानन्द के गोवध बन्द कराने के यत्नों तक में बृटिश-विरोधी-भावना की गन्ध आती थी। सन् १६०७ में रावलपिंडी के दंगे में पकड़े गए आर्यों के निरपराध छूट जाने के बाद भी शिरोल ने लिखा था—"पञ्जाब और संयुक्त प्रांत के राजद्रोही आंदोलन में आर्यों ने

प्रमुख हिस्सा लिया है। रावलपिंडी के सन् १६०७ के दंगों में आर्य प्रमुख नेता थे और पिछले दो वर्षों के उस भयानक आंदोलन में, जिस के परिणामस्वरूप वास्तव में उपद्रव हुए, लाला लाजपतराय और अजीतसिंह दोनों आर्यसमाजी हैं।" अन्त में उस ने यहां तक लिखा था—"जहां-जहां आर्यसमाज का ज़ोर है, वहां-वहां राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिख-सम्प्रदाय की याद दिलाता है, जो सोलहवीं शताब्दि के आरम्भ में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आंदोलन था और पचास ही वर्षों में हरगोविंद की आधीनता में वह एक शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।" इस प्रकार पूरे व्यवस्थित तौर पर आर्य-समाज को राजनीतिक संस्था सिद्ध करने का यत्न किया गया। दयानन्द-कालेज-लाहौर में बंगाली प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति का और एकांत ज़ंगल में गुरुकुल खोलने का भी यही अर्थ लगाया गया।

२. कुछ उदाहरण

सिख रेजिमेन्ट का क्लार्क गुलाबचन्द आर्यसमाजी होने से ही नौकरी से अलग किया गया था। उस के नौकरी के प्रमाण-पत्र में भी यह स्पष्ट लिखा गया था कि आर्यसमाजी होना ही उस का सब से बड़ा अपराध है। करनाल ज़िले के एक ज़ेलदार

की डायरी पर ऊपर के किसी अधिकारी द्वारा यह नोट चढ़ाया गया था कि "जेलदार तो बहुत अच्छा है, किन्तु आर्यसमाजी है। इसलिये उस पर निगरानी रखनी चाहिये।" छावनियों में यह आर्डर निकाला गया था कि किसी भी आर्य को छावनी में न आने दिया जाय, जिस से सेनाओं की राजभक्ति में ख़लल न पैदा हो। झांसी में आर्यसमाज के मार्गोपदेशक दौलतराम पर आवारागरदी की धारा १०६ में मुक़दमा चलाकर उस को सज़ा भी इसलिये दे दी गई थी कि आर्यसमाज के अधिवेशन में उस के व्याख्यान में सेना के कुछ सिपाही पहुंच गये थे। उस के धर्मोपदेश को भी राजद्रोही भाषण बताया गया था। पञ्जाब के एक ब्रिगेड के कमांडिंग अफ़सर ने आर्यसमाज अथवा किसी भी राजनीतिक संस्था में शामिल न होने का हुक्म जारी किया था। एक सेना के एक फ़र्स्ट-क्लास-हास्पिटल-असिस्टेन्ट को उस के अफ़सर ने आर्यसमाज से अलग होने के लिये कहा ही नहीं, अपितु स्वयं उस को त्याग-पत्र भी लिख कर दे दिया। उस की ओर से सरकार की धर्म के सम्बन्ध में निरपेक्ष नीति की दुहाई भी दी गई, किन्तु अन्त में उस ग़रीब आर्यसमाजी को नौकरी से अलग ही होना पड़ा। रोहतक में एक बार डुगडुगी पिटवाई गई कि जिस किसी के पास आर्यसमाज की कोई भी पुस्तक मिलेगी वह ज़ब्त कर ली जायगी। मुलतान छावनी के समाज के मन्त्री की ओर से कमेटी के मन्त्री को आर्यसमाज के

धार्मिक-संस्था होने से टैक्स माफ़ करने को लिखा गया। कमेटी के मन्त्री साहब-बहादुर थे। उन्होंने उत्तर में लिख दिया—"आर्य-समाज पूर्णतः धार्मिक संस्था नहीं है। इसलिये चर्च, चैपल, मन्दिर या मसजिद के समान उसका टैक्स माफ़ नहीं किया जा सकता। इन्दौर की स्टेट-पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल के आफ़िस के हेड-एकाउन्टेण्ट श्री लक्ष्मणराव शर्मा को स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान-पद से अलग न होने के कारण अपनी नौकरी से त्याग-पत्र देने के लिये विवश किया गया। जोधपुर में वायसराय के आने पर इसलिये समाज-मन्दिर पर से साइन-बोर्ड और 'ओ३म्' का झण्डा जबरन उतार दिया गया कि समाज का स्थान वायसराय की सवारी के रास्ते में पड़ता था। सेना में से कुछ जाटों को संयुक्त-प्रान्तीय-जाट-सभा के विरोध करने पर भी केवल इसलिये अलग कर दिया गया कि उन्होंने आर्यसमाज से अलग होना स्वीकार नहीं किया। डिपुटी-कमिश्नर गांवों में जाकर आर्यसमाजियों को तंग करने के लिये लोगों को उकसाते थे। यदि कोई मुसलमान या सिख भी कभी स्वाभिमान की कोई बात किसी अफ़सर से कह बैठता था, तो उसको आर्य-मुसलमान या आर्य-सिख कह कर उसका मुँह बन्द किया जाता था। साम्प्रदायिक लोग भी ऐसे व्यक्तियों को 'आर्य' कह कर उसके जात-बाहर करने का फ़तवा दे डालते थे। कोमागातामारू-जहाज़ के वीर नेता बाबा गुरुदत्तसिंहजी को तब भी आर्य ठहरा

दिया गया था, जब कि उन्होंने अपने जहाज़ का नाम 'गुरु-नानक जहाज़' और कम्पनी का नाम 'गुरु-नानक-स्टीम-नेविगेशन-कम्पनी' रखा था।

पटियाला की घटना आर्यसमाज के प्रति सरकार के रुख़ को प्रगट करने वाली सब से अधिक ओछी और बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। सन् १६०६ के सितम्बर मास में पटियाला में वहां के सभी आर्यसमाजियों के घरों पर पुलिस ने एकाएक छापा मार कर उनके सब काग़ज़ पत्र और पुस्तकें ज़ब्त कर लीं। उनको गिरफ़्तार करके पुलिस की हाजत में, एक कैम्प बना कर, डाल दिया गया और समाज-मन्दिर पर ताला लगा कर पुलिस का पहरा बिठा दिया गया था। धारा १२४ अ, १५३ अ और १२१ अ के अनुसार उन पर मुक़दमा चलाने के लिये स्पेशल ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई थी। रियासत के पी० डबल्यू० डी० के इंजिनियर, एकाउण्टेण्ट और स्कूलों के हैडमास्टर तथा अध्यापक एवं साधारण से साधारण आर्यसमाजियों को भी उसमें फंसाया गया था। रियासत की पुलिस का इन्स्पेक्टर-जनरल मि० बारबर्टन मुक़दमे का इन-चार्ज था। उसकी ओर से रियासत के सुपरिंटेन्डिग-इन्जीनियर राय-बहादुर (सर) गंगाराम सी० आई० ई०, लाहौर की विधवा-विवाह सहायक-सभा एवं सर गंगाराम ट्रस्ट के संस्थापक, सरीखे उच्च पदाधिकारियों की गिरफ़्तारी के लिये भी आग्रह किया गया

था। लाहौर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर मि० ग्रे पटियाला की ओर से मुक़दमे की पैरवी के लिए नियुक्त किये गये थे। मि० नार्टन के दक्षिणेश्वर-बाम्ब-केस के समान ही मि० ग्रे ने मुक़दमे के लिये तय्यारी की थी। आर्यसमाज को राजद्रोही-संस्था साबित करने के लिये उसने चोटी से एडी तक का पसीना एक कर दिया था। ज़मानत का प्रश्न आने पर अवस्था का इतना संकटापन्न चित्र खींचा गया और एक-एक आर्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही गईं, जैसे कि सरकार का तख्ता एक दम ही उलटने को था। महाराजा को सब क़ानूनों का क़ानून बता कर न किसी क़ानून की परवाह की जाती थी और न ट्रिब्यूनल का ही कोई हुक्म माना जाता था। पूरी मनमानी से काम लिया गया और आर्यसमाज को राजद्रोही-संस्था सिद्ध करने के लिये कोई भी बात उठा न रखी गई। महीनों मुक़दमे का नाटक होने के बाद आर्यसमाजियों को रियासत छोड़ने का हुक्म देकर मुक़दमा उठा लिया गया।

पटियाला-राज्य में मुक़दमा चलाने का नाटक तो रचा गया था. दूसरे स्थानों पर बिना मुक़दमा चलाये ही आर्यसमाज के रजिस्टरों में से आर्यसमाजियों के नाम ले कर पुलिस की दस नम्बर की लिस्ट तय्यार की जाती थी। उस के उपदेशकों और नेताओं के आगे-पीछे पुलिस के खुफ़िया सिपाही चक्कर काटा करते थे। आर्यसमाज के अधिवेशनों पर

निगरानी रखी जाती थी। उस के हरएक काम की गहरी छान-बीन की जाती थी। महात्मा मुन्शीराम जी के शब्दों में आर्यसमाजी 'आउट-ला' थे, जिन पर कोई भी बिना संकोच और भय के निशाना साध सकता था। राजदण्ड की सब व्यवस्था आर्यसमाजियों के लिये थी। उन पर निशाना साधने वालों को पूरा अभयदान मिला हुआ था। यह समय वस्तुतः आर्यसमाज के लिये संकट का समय था, जब कि आर्यसमाजियों में चारों ओर त्रास फैला हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि महारानी विक्टोरिया की धार्मिक निरपेक्षता की नीति की घोषणा आर्यसमाज के लिये नहीं की गई थी।

३. मुन्शीराम जी का सराहनीय कार्य

ईस्वी सन् १९०० से १९१२ तक के बारह वर्ष आर्यसमाज के लिये संकट के वर्ष थे। समाज या संस्था पर ऐसा संकट उपस्थित होने पर ही उस के नेता या संचालक की परीक्षा होती है। आर्यसमाज के अधिकांश नेताओं ने इस संकट में वैसी बहादुरी का परिचय नहीं दिया, जैसा देना चाहिये था। व्याख्यानों एवं लेखों में रोमन-राज्य में प्रोटस्टेण्ट ईसाइयों की संकटापन्न अवस्था के साथ आर्य अपनी इस अवस्था की तुलना करते थे, किन्तु आर्यसमाजियों में उन के-से त्याग, बलिदान एवं सत्साहस की घटनायें ढूंढने पर कठिनाई से कहीं दो

चार ही मिलेंगी; उलटे दब्बूपन, कमज़ोरी और कायरता की घटनायें यथेष्ट मिलती हैं। ऋषि दयानन्द के इतने स्पष्ट लेखों के बाद भी बार-बार और निरन्तर यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि आर्यसमाज राजनीतिक संस्था नहीं है, उस का राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और वह केवल धर्मोपदेशक संस्था है, सबसे बड़ी कमज़ोरी थी। आर्यसमाज का इससे ऐसा नैतिक पतन हुआ, जिससे वह अबतक भी संभल नहीं सका। आर्यसमाज का सदा ही विरोध करने वाले बम्बई के 'वेंकटेश्वर-समाचार' तक ने आर्यसमाज को यह सम्मति दी थी कि 'आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पञ्जाबी अफ़सरों के टूट पड़ने पर वह विचलित हुआ है। उस ने सफ़ाई के इज़हार देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है, किन्तु धार्मिक सभा है। आर्यसमाज नाहक़ में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तों में लगा रहे। उस का पक्ष सत्य है तो उस के लिये घबराने का कोई कारण नहीं। कर नहीं तो डर क्या?" सयुक्त-प्रांतीय-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के ता० २० सितम्बर सन् १९०७ के सरक्यूलर नं० ४ को पढ़कर आज भी लज्जा से सिर नीचे झुक जाता है। झांसी में मार्गोपदेशक दौलतराम के मुकदमे की पैरवी करने के लिये आर्यसमाज में जैसे कोई वकील ही नहीं था। झांसी-आर्यसमाज के उस समय के प्रधान वकील थे,

किन्तु आर्यसमाज के काम के लिये नहीं। उस के लिये कोई ज़मानत देने वाला भी झांसी में नहीं था। महाशय विष्णुदत्त जी वकील जब अपील के लिये झांसी गये तो वहां के समाज के मन्त्री ने उन को लिख दिया—"मालूम हुआ है कि आप दौलतराम के मुक़द्दमे के मुतअल्लिक़ तशरीफ़ लाये हैं, इसलिये आप को समाज-मन्दिर में ठहरने की इजाज़त नहीं है। आप किसी दूसरी जगह ठहरें।" जब सरकारी अधिकारियों द्वारा समाज के सभासदों की सूची मांगी जाने लगी, तब कितने ही आर्य-समाजियों ने सभासदी से अपने नाम कटवा लिये। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द जी को समाज का सभासद् तक मानने में संकोच किया जाता था। लाला जी के मांडले से वापिस आने पर अनारकली-समाज को अपने समाज-मन्दिर में उनका व्याख्यान कराने का एकाएक साहस नहीं हुआ। ऋषि दयानन्द के स्पष्ट लेखों का विपर्यास केवल सरकारी लोगों को प्रसन्न करने के लिये किया जाने लगा। सरकारी आज्ञा के विरुद्ध समाज के साप्ताहिक अधिवेशन नहीं हो सकते थे। देश-भक्त दयानन्द को राजभक्त बताने की कोशिश की गई। ऐसे संकटापन्न, त्रस्त और सहज में नैतिकता से गिराने वाले समय में महात्मा मुन्शीरामजी ने निस्सन्देह बड़े सत्साहस का परिचय दिया और आपने भभकती हुई आग की लपटों के साथ खेलकर दिखा दिया। 'प्रचारक' में 'क्या आर्यसमाज वेद-प्रचारिणी सभा

है या पोलिटिक सोसाइटी ?', 'आर्यसमाज और स्वराज्य', 'अब क्या करना चाहिये', 'आर्यसमाज और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट' इत्यादि शीर्षकों से कितने ही लेख इस सम्बन्ध में लिखे। लाला लाजपतराय को निर्दोष साबित करने के लिये आपने कमर कस ली और कितने ही लेख केवल उनके लिये ही लिखे। लाला जी को निर्दोष साबित करते हुए आपने यह भी लिखा था—"यदि एक पल के लिये कल्पना कर लें कि लाला लाजपतराय राजद्रोही हैं तो क्या फिर आर्यसमाज उनके कामों के लिये उत्तरदाता हो सकता है ? कौन नहीं जानता कि बाबू विपिनचन्द्र पाल से बढ़ कर शोर मचाने वाला कोई भी एक्स्ट्रीमिस्ट नहीं है। यदि पञ्जाब के कर्मचारियों की दलील ठीक है तो जिस ब्रह्मसमाज के विपिन बाबू मेम्बर हैं, उसको भी आर्यसमाज की तरह दूषित ठहराना चाहिये। सय्यद हैदररज़ा से बढ़ कर गवर्नमेंएट के विरुद्ध किसने हांकी है ? फिर सब मुसलमानों को या कम से कम देहली के मुसलमानों को बाग़ी क्यूं न समझा जाय ? सनातनधर्म के रक्षक तिलक महाराज से बढ़ कर एक्स्ट्रीमिस्ट कौन है, जिनके सब चेले कहे जाते हैं। फिर क्यूं नहीं सारे हिन्दूसमाज को अत्याचारी समझा जाता ? इसका कारण स्पष्ट है।" आर्यसमाजियों की उस समय की स्थिति के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"यह बात छिपी हुई नहीं है कि पञ्जाब के सब डिपुटी कमिश्नरों ने अपने आधीन तथा पराधीन सब कर्म-

चारियों को समझा दिया है कि यदि वे आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होंगे, तो उनको अपनी आजीविका से हाथ धोना होगा।.........राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी को रख कर स्पष्ट कह दिया है कि यदि टकों से हाथ न धोना हो तो आर्यसमाज को छोड़ दो।" ऐसी स्थिति में आर्यसमाजियों से आपने कहा था—"यदि तुम से यह कहा जाय कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वाणी वेद से विमुख हो कर ही प्रजा-धर्म का पालन हो सकता है, तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नहीं हो सकता, उसको सांसारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिये तुम उद्यत नहीं हो।" "आर्य पुरुषो! क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है तो फिर दो हाथ वालों की ख़ातिर सहस्रबाहु का क्यों अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोज़ी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उस से बढ़ कर रोज़ी तुमको नहीं दे सकते?" "संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है। इस लिये संसार को धर्म पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है!" "जो सरकारी नौकर वैदिक-धर्म के गौरव को नहीं समझते, उनको अपनी निर्बलता मान कर आर्यसमाज से जुदा हो जाना चाहिये। जहां वेद और 'इण्डियन पीनल कोड' का विरोध हो वहां श्रुति को धर्म का मूल मानना तथा जहां परमात्मा की आज्ञा का सांसारिक राजा की आज्ञा से विरोध

हो वहां परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो तो फिर आर्यसमाज में रह कर भी क्या लाभ होगा ?" सम्वत् १६६४ के आषाढ़ मास के 'प्रचारक' में आपने लिखा था—"मुझ से पूछा जाता है—अब हम क्या करें ? ज़िलों के हाकिम हमें तङ्ग कर रहे हैं, आर्यसमाज के साप्ताहिक जलसों में सम्मिलित होने से भी सरकारी नौकरों को ज़बरदस्ती रोका जाता है, कायर पुरुषों ने इस डर से कई स्थानों में आर्यसमाज की सभासदी से त्यागपत्र दे दिये हैं, वैदिक-धर्म का प्रचार सर्वथा बन्द होता दीखता है, इसका इलाज क्या करें ?" मेरे पास उत्तर एक ही है कि कायरों का वैदिक धर्म की सेवा के लिये उद्यत होने का क्या काम है ?" इस प्रकार आर्यों में शक्ति का संचार करते हुए आपने अपने सम्बन्ध में घोषणा की थी—"दूसरों की मैं नहीं जानता किन्तु अपने विषय में निश्चय कर लिया है कि जिस दिन राजकर्मचारियों के आक्रमणों के कारण वैदिक धर्म का पालन स्वतन्त्र देशों की सरताज़ बृटिश गवर्नमेण्ट के राज्य में कठिन हो जायगा, उसी दिन इस भूमि को त्याग कर किसी ऐसी गवर्नमेण्ट की शरण लूंगा, जहां मुझे अपने परमात्मा की भक्ति अपने विश्वास के अनुसार करने की आज्ञा हो और मैं अपनी तथा अपने साथियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति अपने सच्चे विश्वास के अनुसार कर सकूं।" दूसरे वर्ष फिर आप ने लिखा था—"गत वर्ष मैंने [illegible] यह

विचार प्रगट किया था कि यदि अपने धर्म पर चलना भारतवर्ष में वैदिक धर्मियों के लिये कठिन हो जावे, तो उनको किसी अन्य राज्य शासन का आश्रय लेना चाहिये, किन्तु आज मेरी सम्मति सर्वथा बदल गई है। मेरी सम्मति में दुःख-सुख सब इसी स्थान पर सहन करने चाहियें। इसी जन्मभूमि के लिये कष्ट सहना, इसी की सेवा में सारा पुरुषार्थ लगाना और इसी पर सर्वस्व न्यौछावर करना यदि एक एक भारतवासी अपना धर्म समझ ले तो परमात्मा की भी उन पर असीम कृपा हो जाय। किन्तु यहां यही तो कमी है। …………हा! धर्म के सच्चे प्रचारक कहां हैं? सचाई की वेदी पर विश्वास से सिर रखने वाले कहां दिखाई देते हैं? क्या आर्यावर्त की पवित्र भूमि धर्मवीरों से शून्य ही हो गई है?" सरकार को भी आर्यसमाजियों को राजद्रोही न बनाने की चुनौती देते हुए आपने लिखा था—"उस राजनीति पर मुझे शोक होता है, जो करोड़ों बे-जान खुशामदियों की खातिर सैंकड़ों जानदार राजभक्तों को राजविद्रोह की ओर धक्का देना अपना कर्तव्य समझती है। जहां आर्यसमाज में दस-बीस ही ऐसे दृढ़ आर्य हैं, जो गवर्नमेण्ट के अन्तिम न्याय और उसके कुछ कर्मचारियों की अधमता में भेद कर सकते हैं, वहां हज़ारों वैसे ही साधारण पुरुष हैं जो सच्चे राजभक्त बनने के लिये सच्ची प्रजा-भक्ति के दृश्य की प्रतीक्षा रखते हैं।" "परमात्मा ने एक तृण को भी व्यर्थ नहीं बनाया और एक चिउंटी भी अपने अन्दर चेतन

शक्ति रखने के कारण निन्दनीय नहीं। फिर क्यों आर्यसमाज के प्रत्येक निवेदन का निरादर किया जाता है? आर्यसमाजी सहन करना जानते हैं और इससे भी बढ़ कर अत्याचारों को सहन करेंगे, किन्तु राज्य प्रबन्ध को निर्विघ्न चलाने के लिये आवश्यक है कि लार्ड मिंटो एक बार आर्यसमाज के अग्रणियों को बुला कर उन से खुली बातचीत करें। तब उनको पता लगेगा कि बृटिश गवर्नमेण्ट का शत्रु कौन है और किस प्रकार उससे गवर्नमेण्ट की रक्षा हो सकती है?" जोधपुर के समाज के मन्त्री को जब साइन बोर्ड और 'ओ३म्' का झण्डा उतारने के लिये कहा गया था, तब आपने उसको सलाह दी थी कि उस आज्ञा का पालन न किया जाय और यदि पुलिस पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करती हुई वैसा करे तो उसका प्रतिकार भी न किया जाय। दौलतराम के मुकदमे के सम्बन्ध में आपने न केवल झांसी-आर्यसमाज को ही फटकारा था, किन्तु संयुक्तप्रान्तीय-आर्य-प्रतिनितिधि-सभा को भी ऐसी फटकार बताई थी कि अन्त में प्रतिनिधि-सभा को उस मामले को अपने हाथ में लेना पड़ा था। सीमा प्रान्त के एबटाबाद के समाज के प्रधान धनीराम जी के अदालत में निर्दोष साबित हो जाने पर भी उनको एक वर्ष के लिये सीमा प्रान्त से निर्वासित किये जाने के मामले को आपने प्रचण्ड आन्दोलन का विषय बना दिया था। आर्य-समाजियों की लिस्ट मांगने के सम्बन्ध में आपने सलाह दी थी—

"वही पुलिस और तहसील वाले जो अपनी रिश्वतखोरी और स्याहकारी के कारण स्पष्टवक्ता आर्यसमाजियों से कांपा करते थे, आज जगह-जगह पर उनको धमकाने की चेष्टा करते हैं। जब और वस नहीं चलता तो सभासदों की सूची मांगने लगते हैं। मेरी सम्मति में आर्यसमाज के किसी मन्त्री को भी सभासदों की सूची नहीं देनी चाहिये।" करांची-केस के समय आपकी ही प्रेरणा से प्रतिनिधि-सभा ने एक डिफ़ेंस-फण्ड की स्थापना की थी। सरकार से मिलने के लिये डेपूटेशन ले जाने की बात का आपने तीव्र विरोध किया था और कहा था कि बिना बुलाये डेपूटेशन ले जाने की कोई जरूरत नहीं। सरकार को बार-बार ललकारा कि आर्यसमाज के विरुद्ध जो अभियोग हैं, उनकी खुली जांच की जाय।

पटियाला के मुकद्दमे के सम्बन्ध में की गई आपकी सेवा समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। गिरे हुए स्वास्थ्य में भी आप पटियाला पहुंचे, लाहौर गये, आर्यसमाजियों को पटियाला के आर्य भाइयों के प्रति कर्तव्य-पालन के लिये सचेत किया। आदि से अन्त तक श्री रोशनलाल जी के साथ मुक़दमे में उपस्थित रहे। परवी का बहुत-सा काम भी स्वयं किया और डिफ़ेंस-फण्ड के लिये आवश्यक चन्दा भी जमा किया। लाहौर के राष्ट्रवादी वकीलों और कौमी हमदर्दी का दावा करने वाले कालेज पार्टी के महारथियों के इनकार करने पर भी आपने

हिम्मत नहीं हारी। इस सम्बन्ध में आपने लिखा था—"लाहौर के प्रमुख वकील सर प्रतुलचन्द्र चैटर्जी को ५०० रु० प्रति दिन देने का वचन देकर मैंने उनको पटियाला का मुकदमा आर्य-समाज की ओर से लड़ने के लिये कहा। पर, लेडी चैटर्जी ने उनको वह मुकदमा हाथ में नहीं लेने दिया। कुछ प्रमुख आर्य-समाजी वकीलों से भी प्रार्थना की गई। पर, उन्होंने भी बहाने-बाजी करके टाल दिया। बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की मार्फ़त सर ए० चौधरी से प्रार्थना की गई। वे सिर्फ पांच दिन देने को तय्यार हुए और आने-जाने के दिन मिला कर १२५० रु० प्रति दिन मांगने लगे। केवल जालन्धर के राय बद्रीदास और लाहौर के लाला द्वारकादास ने हमारा साथ दिया।" इसी प्रकार दूसरी जगह लिखा था—"लाला लाजपतराय जी तो जाने को तय्यार थे किन्तु उनके सम्बन्धी फँसे हुए थे और पटियाला में उनके विरुद्ध बड़ा पक्षपात था। मैं पहले प्रतुलचन्द्र के पास गया, उन्होंने साफ़ जवाब दे दिया। तब मैं और श्री रोशनलाल जी रा० ब० लाला लालचन्द के पास गये। उन्होंने सोचने का समय मांगने पर भी बाद में इनकार कर दिया। फिर मैं रा० ब० सुखदयालु जी के पास गया, उन्होंने भी अस्वीकार किया। तब राय ठाकुरदास जी मुझको साथ लेकर भक्त ईश्वरदास जी एम० ए० एडवोकेट के पास गये। उन दिनों वे प्रादेशिक-सभा के प्रधान थे। सोचने का समय मांगने के बाद यह लिख भेजा—'राय

नारायणदास एम० ए० अभी डिविजन जजी पर नियुक्त नहीं हुए। यदि मैंने पैरवी की तो शायद उनको हानि पहुंचे।' श्री भक्त जी को ५०० रु० प्रति दिन की फ़ीस भी कह दी गई थी।" कालेज़-दल ने पटियाला-केस के लिये डिफ़ेंस-कमेटी बनाने में साथ देने में भी इनकार कर दिया।

पटियाला से आर्य भाइयों के निर्वासित किये जाने पर उन को पहिला आश्रय आपने गुरुकुल में दिया। स्वर्गीय नन्दलाल जी, मुरारीलाल जी और लक्ष्मणदास जी सरीखे अनथक सेवक गुरुकुल को इन निर्वासित आर्य पुरुषों में से ही मिले थे। इसके बाद पटियाला में महाशय रौनक़राम पर मुकद्दमा चलने पर भी आप ने खूब आंदोलन किया। अपना अमूल्य समय और हज़ारों रुपया लगा कर आप ने 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स' नाम की जो पुस्तक श्री रामदेव जी की सहायता से तय्यार की थी और उस समय 'सिविल एण्ड मिलीटरी गज़ट' में जो लेख लिखे थे, वे आप के उन दिनों के महान् यत्नों के साक्षी हैं। लाहौर-आर्यसमाज के ३१वें और ३२वें उत्सव पर इस सम्बन्ध में दिये गये आपके ऐतिहासिक भाषणों का भी समाज के इतिहास में सदा उल्लेख किया जाता रहेगा। रक्षा के इन साधनों के अलावा बड़ा और महत्वपूर्ण काम यह था कि आपने आर्यसमाजियों को दमन के इन दिनों में भी विचलित नहीं होने दिया। 'प्रचारक' द्वारा आर्य पुरुषों के सन्मुख उनके कर्तव्य-कर्म

और वैदिक-सिद्धांतों को रखते हुए उनसे उनके पालन के लिये सदा अपील करते रहे।

इसी सम्बन्ध में आप ने भारत-भूषण गोखले की सहायता से बहुत बड़ा काम किया था। उस समय भारत के माने हुए नेताओं में, जिनकी पहुँच सरकार के ऊंचे से ऊंचे अधिकारियों तक थी, सब से प्रमुख श्रीयुत गोखले ही थे। श्रीयुत गोखले के साथ आप ने इस सम्बन्ध में बहुत अधिक पत्र-व्यवहार किया था और उन पर ज़ोर डाला था कि वे सरकारी अधिकारियों की आर्यसमाज के सम्बन्ध की भ्रांतिपूर्ण धारणा को बदलने का यत्न करें। इसी काम के लिये आप उनसे कई बार मिले भी थे। सन् १९१० में इलाहाबाद में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसके सभापति बूढ़े अंग्रेज़ सर विलियम वैडरवर्न थे। श्रीयुत गोखले का तार मिलने पर आप तुरन्त इलाहाबाद गये। वहां गोखले की उपस्थिति में आप वैडरवर्न से मिले और उनको आर्यसमाज के सम्बन्ध में सब स्थिति खोल कर समझाई। वैडरवर्न ने सब कुछ सुनकर कहा—'बस, आप मेरे साथ कलकत्ता चलिये। लार्ड हार्डिंग को आर्यसमाज के डेपुटेशन से मिलना ही पड़ेगा।' गोखले ने कहा—'अच्छा हो कि आप पहिले उनको तय्यार करलें और वे फिर आर्यसमाज के डेपुटेशन से मिलें।' वैडरवर्न को सलाह पसन्द आई। वैडरवर्न ने फिर क्या किया? इसका पता गोखले के एक पत्र से लगता है, जो

उन्होंने २४ मार्च सन् १९११ को महात्मा जी को लिखा था। उसकी कुछ पंक्तियां यहां उद्धृत की जाती हैं। वे पंक्तियां ये हैं—"आर्यसमाज के बारे में सरकारी अधिकारियों को जो सन्देह है, उस पर सर विलियम वेडरवर्न की नये वायसराय के साथ बहुत-सी बातें हुई हैं। मैं आप के मिलने पर उसका सारांश आप को बताना चाहता था। आप आ नहीं सके। फिर भी मैं आप को यह बताना चाहता हूं कि सर विलियम ने वायसराय पर बहुत ज़ोर डाला है कि सन्देह के कारण समस्त भारत के आर्यसमाजियों को जो शिकायतें हैं, वे अवश्य दूर की जानी चाहियें। वायसराय ने बड़े ध्यान से सब बातें सुनीं और प्रतिज्ञा की है कि वे शीघ्र ही जैसा उनको सुझाया गया है, वैसी कार्यवाही करेंगे। इसलिये मेरा यह ख्याल है कि यदि आर्यसमाज की ओर से वायसराय के सामने सब बात रखी जा सके, तो अच्छा होगा।" पत्रव्यवहार तो बहुत है, पर प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये एक ही पत्र का यह कुछ भाग काफी है। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ की मार्फ़त भी आपने आर्यसमाज पर मंडराती हुई काली घटा को छिन्न-भिन्न कराने का बहुत यत्न किया था।

इस प्रकार आपने सच्चे नेता और पथप्रदर्शक का काम करते हुए सरकार के दमन से आर्यसमाज की रक्षा की और उसको पथभ्रष्ट होने से भी बचाया। उस काल में यदि आर्य-

समाज की नैतिकता की कुछ रक्षा हुई, तो उसका प्रायः सब श्रेय महात्मा मुन्शीराम जी को है। उन दिनों में आपके सामने अपने जीवन का यह ध्येय सदा उपस्थित रहता था :—

"अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"

आप ने न केवल स्वयं धैर्य धारण किया, किंतु आर्यसमाज को भी धैर्य धारण कराये रखा।

फलतः सरकार का रुख़ बदला। महात्मा जी को संयुक्तप्रांत के लेफ़्टिनैण्ट गवर्नर और भारत के गवर्नर-जनरल भी मिलने के लिये बुलाते रहे। आर्यसमाजी संस्थाओं का उन्होंने तथा अन्य सरकारी अधिकारियों ने भी स्वयं निरीक्षण किया। उनको अपनी भूल मालूम हुई। उसका संशोधन किया गया।

यदि लाला लाजपतराय जी का यह लिखना ठीक है कि आर्य-समाज की उठती हुई शक्ति को कुचलने के लिये ही उसमें गृह-कलह पैदा करने में सरकार का हाथ था, तो यह कहा जा सकता है कि जिस शक्ति को सात-आठ वर्ष की गृह-कलह (भेद-नीति) कुण्ठित नहीं कर सकी और जिसको लगभग बारह वर्ष का दमन (दण्ड-नीति) नहीं दबा सका, उसको दो-एक वर्ष की साम और दान की नीति ने इतना मुरझा दिया कि संस्थापक के स्वराज्य के लिये स्पष्ट आदेश, 'सत्यार्थप्रकाश' के छठे समुल्लास में राज-नीति का इतना विशद विवेचन और सन्ध्या में प्रति-दिन

रोज़ बार 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' की प्रार्थना करते रहने पर भी आर्यसमाज राजनीतिक दृष्टि से सोया पड़ा है, मानो देश की स्वाधीनता, स्वराज्य और राजनीतिक उत्कर्ष से उसको कोई सरोकार ही नहीं है।

तीसरा भाग

ग.

विविध

१. आर्यसमाज का प्रचार, २. आर्य-सार्वदेशिक सभा,
३. परोपकारिणी सभा, ४. आर्यकुमार-सम्मेलन,
५. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन,
६. महान् व्यक्तित्व ;

१. आर्यसमाज का प्रचार

आर्यसमाज में प्रवेश करते ही महात्मा मुन्शीराम जी को आर्यसमाज के प्रचार की जो लगन लगी थी, वह गुरुकुल की स्थापना और उस के काम में पूरी तरह लग जाने के बाद भी जारी रही। वैसे तो गुरुकुल भी प्रचार की ही भावना से खोला गया था। आर्यसमाज को गुरुकुल से प्राप्त गौरव और ख्याति को यदि भुला भी दिया जाय, तो भी गुरुकुल से उस प्रचार को प्राप्त सहायता को नहीं भुलाया जा सकता, जिस की तुलना में प्रतिनिधि-सभा के कुछ माननीय महानुभाव गुरुकुल को भी तुच्छ समझते थे। गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय ब्रह्म-

चारियों की पढ़ाई की हानि सहन करके भी बाहर आर्य-समाजों के उत्सवों पर प्रायः जाया करते थे। गुरुकुल के लिये चन्दा जमा करने के लिये जाने पर भी उनके द्वारा आर्यसमाज का प्रचार होता था। महात्मा जी का सफ़री बिस्तर तो हमेशा बंधा हुआ ही पड़ा रहता था और आप को एकाएक ही गुरुकुल से कभी किसी समाज के उत्सव के लिये, कभी कहीं प्रचार के लिये और कभी कहीं समाज की रक्षा के लिये तुरन्त चल देना पड़ता था। सम्वत् १९५९, तदनुसार सन १९०२, में दिल्ली-दरबार पर आर्य कैम्प लगा कर प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। आप उस समय गुरुकुल की प्रारम्भिक अवस्था में वहां से हिल नहीं सकते थे। प्रतिनिधि सभा के प्रधान पं० रामभजदत्त जी चौधरी का तार पाते ही आप गुरुकुल से चल दिये। आप ने उस समय 'प्रचारक' में लिखा था—"मैं पञ्जाब आर्यसमाजों के मौजूदा सरदार के हुक्म की तामील में देर नहीं करूंगा। कोई भी इन्तज़ाम बग़ैर तामील हुक्म अफ़सरान के चल नहीं सकता। यह मेरा यक़ीन है और इसी पर मेरा अमल है।" बात तो यह थी कि दरबार के समय प्रचार करने का प्रस्ताव आप ने ही किया था और आपने ही उस के लिये पांच हज़ार की अपील भी की थी। आप को आशा थी कि रुपया हो जाने पर बाकी सब काम दूसरे लोग सम्हाल लेंगे। पर, ठीक समय पर लुटिया डूबती देख कर ही सभा के

प्रधान ने आपको तार दिया था। वहां २२ दिसम्बर से ५ जनवरी तक अच्छा प्रचार हुआ। आर्यसमाज के ट्रैक्ट और गुरुकुल की पाठविधि खूब बांटी गईं। २५-३० जगह आर्यसमाज का डेपुटेशन गया। राव-राजाओं तथा सरदारों आदि के साथ वैदिक धर्म के सम्बन्ध में चर्चा हुई और उन तक आर्यसमाज का साहित्य भी पहुंचाया गया। शाहपुराधीश कैम्प में पधारे और उन को आर्यजनता की ओर से मान-पत्र दिया गया। महात्मा जी के साथ पं० रामभजदत्त जी चौधरी की हिम्मत की भी दाद देनी चाहिये। प्रचार के निमित्त पधारे हुए आर्यसमाजियों में महात्मा जी की प्रेरणा से परस्पर जो विचार-विनिमय हुआ वह बहुत उपयोगी और लाभदायक सिद्ध हुआ। सम्वत १९६४, सन १९०७, में सूरत में भी कांग्रेस के अधिवेशन के साथ बम्बई-आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। मन्त्री का तार आने पर आप को वहां भी जाना पड़ा। वहां भी प्रचार की अच्छी धूम रही। लाला लाजपतराय जी और पण्डित रामभजदत्त जी चौधरी ने भी प्रचार में हाथ बटाया। सम्वत १९६६, सन १९०९, में प्रयाग की सुप्रसिद्ध-प्रदर्शिनी पर इलाहाबाद-आर्यसमाज और संयुक्त-प्रांतीय-आर्यप्रतिनिधि-सभा की ओर से प्रचार का प्रबन्ध किया गया था। संयुक्त-प्रांत की प्रतिनिधि-सभा के निमन्त्रण पर आप वहां भी गये और वहां के प्रचार में भी पूरा हाथ बंटाया।

हरिद्वार में कुम्भी-अर्धकुम्भी के मेलों पर प्रचार का सिलसिला आप का ही शुरू किया हुआ था। हरिद्वार के पास आ जाने से यह प्रचार और भी अधिक उत्साह के साथ अधिक व्यवस्थित रूप में होने लगा। सम्वत् १९६६ में अर्धकुम्भी पर और सम्वत् १९७२ में कुम्भ पर बड़ी धूमधाम के साथ प्रचार किया गया। सार्वदेशिक-सभा की स्थापना हो जाने के बाद से यह प्रचार उक्त सभा की ओर से होने लगा। आप उस के प्रधान थे, इस लिये प्रचार का सब प्रबन्ध भी आप को ही करना पड़ता था। सम्वत् १९७२ के कुम्भ पर महात्मा गांधी के अभिनन्दन का समारोह कर के आपने हरिद्वार, कनखल और ज्वालापुर में ही नहीं, किन्तु देहरादून, रुड़की और सहारनपुर तक में हलचल पैदा कर दी थी।

गुरुकुल और उसके उत्सवों का पौराणिकता तथा अन्ध-विश्वास के गढ़ हरिद्वार और कनखल पर जो असर पड़ता था, उससे वहां के पण्डे मन ही मन जलते और कुढ़ते थे। हरिद्वार में गुरुकुल की ओर से धर्मार्थ-औषधालय का खोलना उनके रोष की दबी हुई अग्नि पर घी डालने वाला साबित हुआ। सम्वत् १९६५ के गुरुकुल के सातवें वार्षिकोत्सव के बाद आर्य-स्त्री-पुरुष गुरुकुल से मण्डलियां बना कर वैदिक-प्रार्थना के भजन गाते हुए हरिद्वार के बाज़ारों में से जा रहे थे कि उन पर लाठियां झाड़ दी गईं और एक हलवाई ने तो कढ़ाई का खौलता हुआ

घी भी कुछ आर्य पुरुषों पर डाल दिया। लूट-पाट और उपद्रव का दृश्य हरिद्वार में पैदा कर दिया गया। जितने भी आर्य हरिद्वार में मिले, गिरफ़्तार कर लिये गये। उन पर दूकानें लूटने, मूर्तियां तोड़ने और हर की पैड़ी पर जूता ले जाने का दोष लगाया गया। हरिद्वार से गुरुकुल में यह समाचार पहुंचते ही महात्मा जी नंगे पैर, नंगे सिर, बदन पर केवल कुरता-धोती पहिने हुए, जिस हालत में खड़े थे उसी में, किसी को साथ लिये बिना ही हरिद्वार को चल दिये। कनखल में चारों ओर त्रास फैला हुआ था। वहां के लोगों ने हरिद्वार के विक्षुब्ध वातावरण में जाने से रुकने का आप को आग्रह किया। पर, आपने किसी की एक न सुनी और सीधे हरिद्वार जलती हुई आग में जा पहुंचे! स्वयं वहां की स्थिति का निरीक्षण और अध्ययन किया। गिरफ़्तार आर्य पुरुषों को ज़मानत पर छुड़वाया। गरम घी से जले हुए और लाठियों की चोटों से आहत आर्यों को गुरुकुल पहुंचाने का प्रबन्ध किया, जहां उन की मरहम-पट्टी और सेवा-शुश्रूषा की गई। २ अप्रैल को म्युनिसिपैलिटी के आफ़िस में पण्डों ने आप के द्वारा आर्य-पुरुषों से क्षमा मांगी और दुर्घटना के लिये पश्चात्ताप प्रकट किया। ३ अप्रैल को मुक़दमे की पेशी थी। जालन्धर से रायज़ादा भक्तराम जी पैरवी के लिये पधारे थे। पण्डों की ओर से खेद प्रगट करने पर पुलिस ने मुक़दमे उठा लिये। घोर द्वेष से जिस घटना का सूत्रपात

हुआ था, उस की समाप्ति परस्पर के प्रेम की स्थापना में हुई। महात्मा जी के इस उदारतापूर्ण व्यवहार से हरिद्वार में गुरुकुल और आर्यसमाज की धाक जम गई। महात्मा जी ने व्यवहार-कुशल नेतृत्व का परिचय देकर परायों को भी अपना बना लिया।

इस प्रकार किये जाने वाले प्रचार से 'प्रचारक' द्वारा किया जाने वाला प्रचार कहीं अधिक महत्वपूर्ण था। सिद्धान्त और सदाचार का प्रश्न आने पर 'प्रचारक' समझौता करना या दबना नहीं जानता था। 'प्रचारक' की एक ही आवाज़ थी और वह यह थी कि चरित्र को ऊंचा करो। सदाचार की रक्षा करो। सामाजिक और नैमित्तिक-धर्मों का पालन करो। सम्वत् १९५९ से १९६८ तक इस आशय के विशेष लेख इस लिये भी लिखे गये थे कि कहीं आर्यसमाजी सरकारी दमन से आवेश में आकर अपने ध्येय से विचलित न हो जायं। किसी बड़े से बड़े आर्य के भी सदाचार से पतित होने पर 'प्रचारक' ने उस पर परदा नहीं डाला। आर्यसमाज की ओर लोगों का आकर्षण क्यों नहीं रहा? इस का उत्तर देते हुए आपने लिखा था—"आर्यसमाज से लोगों को घृणा पैदा कराने वाले हमारे अपने ही आचरण हैं। जिन पुरुषों के दुराचारों के सम्बन्ध में तुम में से कइयों ने मेरे सामने स्पष्ट साक्षी दी, वही अब उन दुराचारियों को उसी प्रकार के दुराचार की सफलता में सहायता दे

रहे हैं। इस पर भी आश्चर्य यह है कि जब बात-चीत होती है तो उन पुरुषों के दुराचारों को अब तक मान भी लेते हैं।" स्वामी दर्शनानन्द और शङ्करानन्द का 'प्रचारक' ने जिस साहस के साथ भण्डा-फोड़ किया था, और कौन वैसा कर सकता था ? सम्वत् १९६८ में लाहौर के रायबहादुर रामशरण-दास के पुत्र के यज्ञोपवीत-संस्कार में कराये गये वेश्या-नृत्य पर 'प्रचारक' की टिप्पणी आज भी पढ़ने योग्य है। निमन्त्रण-पत्र पर 'ओ३म्' शब्द लिखा गया था। 'ओ३म् जैसे पवित्र शब्द को वेश्या-नृत्य जैसे अधर्म-कर्म के साथ मिलाने वाले' को 'विगर्हणीय पुरुष' कहा गया था और जो आर्य नेता उस में सम्मिलित हुए थे, उन के सम्बन्ध में लिखा गया था—"जो पुराने संस्कारों या लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर अपने आत्मा और धर्म की कुछ भी क़ीमत नहीं समझते, उनको उचित यह है कि वे अपने आप को धार्मिक व आर्य कहना छोड़ दें। जो पुरुष अपने को संसार की बेहूदगियों से परे नहीं रख सकते, जो मित्र को पाप करते हुए देख कर उसे रोकना तो दूर रहा उस के पाप में मिल जाते हैं, उन्हें किसी धार्मिक संस्था के नेता होने का अधिकार नहीं।" जनता को लक्ष्य करते हुए लिखा गया था—"जिस पञ्जाब के अन्दर विगत वर्ष की प्रदर्शनी के समय नाच कराने का किसी को साहस नहीं हुआ था, जो पञ्जाब समाज-संशोधन तथा धर्म-प्रेम के अन्दर सारे भारतवर्ष

में अग्रणी समझा जाता है, जो पञ्जाब आर्यसमाज का केन्द्र-स्थल है, उस पंजाब के हिन्दुओं के नेता खुल्लम-खुल्ला ऐसे सामाजिक पाप करें और पंजाब सहता जाय, यह कैसे आश्चर्य की बात है ? जिस आर्यसमाज ने व्यक्तिगत आचार को ही सामाजिक भलाई का साधन समझा हुआ है, अपने आप को उस आर्यसमाज के सभासद कहने वाले लोग ऐसे-ऐसे लोक-निन्दित और आचार-गर्हित कामों में खुल्लम-खुल्ला प्रवृत्त हों और आर्य लोग मौन साधे रहें, यह कैसी विचित्र बात है ? उन लोगों से, जो अपने धार्मिक उत्तरदातृत्व को न समझ कर ऐसे ऐसे कार्यों के करने में नहीं रुक सकते, हमारी प्रार्थना है कि वे अपने आप को आर्यसमाज जैसी पवित्र संस्थाओं से पृथक कर लें !"

आर्यसमाज का ठोस प्रचार यही था, जिसके द्वारा उस के सदाचार के दर्जे को ऊंचा बनाने की सदा कोशिश की जाती रही। 'प्रचारक' द्वारा मुन्शीराम जी इस ठोस प्रचार में निरन्तर लगे रहे। गुरुकुल एवं अपने जीवन द्वारा भी आपने इस प्रचार को सफल बनाया। इस प्रकार समाज की सेवा और प्रचार द्वारा आर्यसमाजियों के व्यक्तिगत चरित्र के साथ-साथ आर्यसमाज के सार्वजनिक चरित्र का दर्जा भी आपने बहुत ऊंचा किया।

२. आर्य-सार्वदेशिक-सभा

जिस आर्य-सार्वदेशिक-सभा को इस समय सार्वभौम अथवा 'इण्टरनेशनल-आर्यन-लीग' का नाम ही नाम दिया जा रहा है, उस को जन्म देने वाले महात्मा मुन्शीरामजी ही थे। सम्वत् १८६६ में जब आप गुरुकुल के लिये तीस हज़ार रुपया जमा करने को दौरे पर निकले हुए थे, तब ही आपने उसके सङ्गठन की नियमावली बना कर उसके लिये आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। उस समय आपका यह भी विचार था कि गुरुकुल की स्थापना उसी की आधीनता में होनी चाहिये। प्रान्तीय आर्य नेताओं को इस 'सार्वभौम' संगठन की सम्भवतः इतनी आवश्यकता नहीं जंच रही थी, जितना कि महात्मा जी उसके लिये आन्दोलन कर रहे थे। पञ्जाब-प्रतिनिधि-सभा ने २४ जनवरी सन् १८६७ को सार्वदेशिक सभा की स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किया था। उसके एक मास बाद संयुक्तप्रान्तीय प्रतिनिधि-सभा ने और कोई ६ मास बाद मई में राजस्थान-प्रतिनिधि-सभा ने भी उसकी स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये थे। इन प्रस्तावों के पास हो जाने के बाद निरंतर आन्दोलन होने पर भी सम्वत् १९६५, सन् १९०८, से पहिले इस सभा की नियमपूर्वक स्थापना नहीं हो सकी थी। सम्वत् १९६४ के पौष मास में महात्मा जी ने एक लेख "आर्य-सार्वदेशिक-सभा की

आवश्यकता" शीर्षक से 'प्रचारक' में लिखा था। उस लेख से सार्वदेशिक-सभा के प्रति आर्य नेताओं की उदासीनता के साथ-साथ यह भी पता लगता है कि आपके प्रतिनिधि-सभा-पञ्जाब के प्रधान बनने से पहले आर्यसमाज के संगठन की क्या अवस्था थी? आपने लिखा है—"कोई समय था, जब कि आर्य-प्रतिनिधि-सभा, पंजाब दयानन्द-कालेज का केवल पुछल्ला थी। लाहौर-आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जब दयानन्द-कालेज-प्रबन्धकर्तृ-सभा का सब काम हो चुकता था, तब खड़े-खड़े एक प्रस्ताव पास हुआ करता था, जिसका नमूना आज के आर्यों को आश्चर्य में डाल देगा। प्रस्ताव निम्न प्रकार का होता था—'सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि अमुक-अमुक महाशय अन्तरंग सभा के सभासद् नियत किये जायं तथा लाला साईदास जी प्रधान, लाला मुरलीधर जी मन्त्री तथा लाला जीवनदास जी कोषाध्यक्ष नियत हों।' सन् १८९० ईस्वी तक इसी प्रकार का सिक्खों वाला सवालक्ख प्रस्ताव देखने में आवेगा। सन १८९१ में कुछ हलचल हुई और सन् १८९२ में तो काया ही पलट गई।" यही समय था, जब पंजाब में गृह-कलह का सूत्रपात हुआ था और आप उसके प्रधान निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार पंजाब-प्रतिनिधि सभा के संगठित होने का प्रभाव दूसरे प्रांतों की प्रतिनिधि-सभाओं पर भी पड़ा और उनमें भी जीवन का संचार हुआ। इसी लेख में आगे आपने लिखा था—"जब से इन सब सभाओं में जान

पड़ने लगी थी, तब से ही मैं सारे भारतवर्ष के लिये एक सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की आवश्यकता को अनुभव करता था। मेरी दृष्टि की सीमा उस समय बढ़ चुकी थी और मुझे वह दिन दूर नहीं दिखाई देता था, जब कि अन्य देशों में भी वैदिक-धर्म का डंका बज कर आर्य-प्रतिनिधि-सभायें स्थापित होनी थीं। मुझे उस समय एक सार्वभौम-आर्यप्रतिनिधि-सभा की स्थापना होना भी दुस्साध्य नहीं प्रतीत होता था। ऐसी आशा से भरपूर हृदय से मैंने सार्वदेशिक-सभा का प्रस्ताव किया था। इस प्रश्न को कभी पंजाब की सभा और कभी युक्तप्रान्त की सभा दोनों ही टालती रहीं। फिर नियम बनाने की रुकावट जतलाई गई। मैंने गुरुकुल के लिये भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भी समय निकाला और नियम बना भेजे।" इन नियमों पर आगरा-समाज के उत्सव पर सन् १९०० के फरवरी मास में कुछ प्रतिनिधि-सभाओं के प्रतिनिधियों ने उपस्थित हो कर विचार किया और उनके संशोधन का काम राजस्थान वालों पर छोड़ा गया। इस संशोधन के काम में ही आठ-नौ वर्ष बीत गये और १९०८ में गुरुकुल-कांगड़ी के छठे वार्षिकोत्सव पर प्रतिनिधि फिर इकट्ठे हुए। इस समय भी सभा की स्थापना नहीं हो सकी और आगरा में जुलाई मास में फिर इकट्ठा होने का निश्चय किया गया। जुलाई में तो नहीं, २५ सितम्बर १९०८ को आगरा में फिर सब प्रतिनिधि इकट्ठे हुए। उसमें नियमादि

सब निश्चित कर लिये गये। नियमानुसार सभा का प्रथम अधिवेशन प्रथम वैशाख सम्वत् १९६६ को देहली में हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा मुन्शीराम जी उसके प्रधान निर्वाचित हुए और जीवन पर्यन्त सदा आप ही उसके प्रधान चुने जाते रहे। सार्वदेशिक-सभा की स्थापना के इस इतिहास से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि आर्यसमाज के उस सब संगठन की इमारत के, जो इस समय इतनी भव्य दीख पड़ती है, बनाने वाले महात्मा मुन्शीराम जी ही थे। दूसरी यह कि आप बड़े-बड़े शब्दों के पीछे भागते हुए असलियत को आंखों से ओझल नहीं करते थे। क्या मुन्शीराम जी सार्वदेशिक-सभा को 'सार्वभौम' या 'इएटरनेशनल' नाम नहीं दे सकते थे? दे सकते थे, परन्तु उसके लिये अभी समय नहीं आया था। पीछे चौड़ आगे दौड़ की नीति आपको पसन्द नहीं थी। आप नीचे की नींव दृढ़ करने के बाद ही ऊपर की दीवार खड़ी करते थे। इस प्रकार आपके कई वर्षों के निरन्तर आन्दोलन के बाद सार्वदेशिक-सभा की स्थापना हुई और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का काम भी आपको करना पड़ा। देहली में उसके कार्यालय की स्थिर स्थापना की गई, कुम्भ-प्रचार का काम उसकी आधीनता में किया जाने लगा और संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद अपना अधिक समय उसमें लगा कर आपने ही मद्रास प्रान्त में प्रचार की स्थिर नींव डाली। सम्वत् १९६६ में

पंजाब के दोनों दलों को एक करने का आन्दोलन करते हुए आप ने गुरुकुल-कांगड़ी सरीखी सभी संस्थाओं को इस सभा के ही आधीन करने का प्रस्ताव किया था। उक्त सभा और आर्य-समाज के सम्बन्ध में आप की महत्वाकांक्षा कितनी महान् और ऊंची थी, इस का पता आप के जिस लेख से मिलता है, वह आप ने सम्वत १९६६ में लिखा था। उस की कुछ पंक्तियां ये हैं—"यदि यह सारा काम सार्वदेशिक-सभा के आधीन हो जाय, तो जहां एक केन्द्र महाविद्यालय दृढ़ हो सकता है, वहां प्रत्येक प्रांत में तथा शनैः शनैः प्रत्येक नगर वा ग्राम के समीप अनगिनत शाखा-गुरुकुल खुल सकते हैं और वह समय भी हमारी समझ में आ सकता है, जब कि एक गुरुकुल-विश्वविद्यालय स्थापित हो सके और सारे भूगोल के मनुष्य आत्मविद्या सीखने तथा अपने चरित्र सुधारने के लिये फिर से इस पवित्र भूमि में आना आरम्भ करें। मेरा यह विचार इस समय एक भ्रान्त चित्त की बड़बड़ से बढ़ कर प्रतीत न होगा, किन्तु मेरा निश्चय है कि जब तक साधारण पुरुषों की दृष्टि में असम्भव उच्च विचारों को लक्ष्य में रख कर काम नहीं किया जाता, तब तक आदर्श की ऊंची चोटी पर चढ़ना कठिन है। मेरी दृष्टि के सामने तो वह दिन भी घूम रहा है, जब आर्यसमाज की संचित शक्ति से प्रेरित सच्चे संन्यासी 'ओ३म्' के झण्डे को अमेरिका तथा यूरोप के ऊंचे से ऊंचे गवर्नमेंट

हाउस की सबसे ऊंची चोटियों पर, तोप और तलवार की सहायता के बिना ही, स्थापित कर देंगे।"

आज आर्यसमाज को अपने जीवन की प्रगति का प्रवाह रुका हुआ दीख पड़ता है। उसका कारण यही है कि उसमें उतनी ऊंची और महान महत्वाकांक्षा रखने वाले ऐसे नेता का अभाव है, जो उसके लिये सच्चे पथ-प्रदर्शक का काम कर सके। ऐसे नेता घड़े नहीं जाते, स्वयं ही पैदा होते हैं। निश्चय ही महात्मा मुन्शीरामजी उन महापुरुषों में से थे, जो जाति अथवा समाज़ का नेतृत्व कर उसको घोर निराशा, घने अन्धकार और भयानक संकट से पार लगा कर सदा आगे ही आगे का रास्ता दिखाने के लिये पैदा होते हैं।

३. परोपकारिणी-सभा

आर्यसमाज में परोपकारिणी-सभा की इतनी ही प्रतिष्ठा है कि उसकी स्थापना ऋषि दयानन्द ने अपने वसीयतनामे के द्वारा की है और ऋषि दयानन्द के सब लेख, पुस्तक, प्रेस और सम्पत्ति पर उसका अधिकार है। वैसे परोपकारिणी-सभा एक सफ़ेद हाथी है, जिससे समाज को संकट-काल में न कुछ सहायता ही मिली है और न कभी उसकी कोई आशा ही उससे पूरी हुई है। आर्यसमाज के प्रति सरकार की इतनी सन्देहास्पद दृष्टि और दमन-नीति के रहते हुए भी परोपकारिणी सभा के कानों पर जूं

नहीं रंगी। महात्मा मुन्शीरामजी द्वारा उसके अधिकारियों के नाम की गई अपील भी बेकार ही सिद्ध हुई। आप कुछ प्रारम्भ ही से उससे निराश थे। सम्वत् १९६४ में आपने उसके सम्बन्ध में लिखा था—"कई महाशयों का यह विचार है कि परोपकारिणी-सभा को ही सार्वदेशिक-सभा में परिणत करने का यत्न किया जावे। मेरा भी पारसाल ऐसा ही विचार था, किन्तु एक वर्ष के अनुभव ने मुझको निश्चय दिला दिया कि यदि परोपकारिणी से सार्वदेशिक का काम लेना हो तो २५—३० वर्षों से प्रथम सफलता नहीं हो सकती। जब तक परोपकारिणी में कुछ सभासद् आर्यसमाज के विरुद्ध मत रखने वाले बने रहेंगे, तब तक उसका नाम आर्य-सार्वदेशिक-सभा रखना व्यर्थ होगा। सम्भव है, ऐसे सभासद ३० वर्षों से अधिक समय तक भी जीते रहें।" इस निराशापूर्ण अवस्था में भी जब आपसे सम्वत् १९६५ में परोपकारिणी सभा का सभासद् होने के लिये आग्रह किया गया तो आप कुछ भलाई की आशा से उसके सभासद् हो गये। आपको सभा के वैदिक-यन्त्रालय का अधिष्ठाता और वैदिक-पुस्तकालय-सभा का सभासद् नियत किया गया। जब आर्य-समाज एवं परोपकारिणी-सभा का इतिहास लिखने के लिये नियुक्त कमेटी ने वर्षभर कुछ नहीं किया, तब वह काम भी आपके ही सिपुर्द किया गया। दो वर्ष लग कर काम करने के बाद भी आपको निराश होना पड़ा और सभा के सब कामों एवं

सभासदी से त्याग-पत्र देने के लिये विवश होना पड़ा। त्यागपत्र में आपने लिखा था—"मुझे इस पद से मुक्त किया जाय, क्योंकि मुझे गुरुकुल के काम के अतिरिक्त और कोई काम करने का अवकाश नहीं मिल सकता। विशेषतः जहां व्यक्तियों के परस्पर के झगड़े हों, वहां तो मुझ-से बिगड़े स्वास्थ्य वाले मनुष्य का काम करना कठिन क्या असम्भव ही है।" इतिहास का काम आपने शुरू भी कर दिया था। सभा से अलग होने पर उसके लिये इकट्ठा किया हुआ सब मसाला सभा को ही सौंप दिया था और ऋषि दयानन्द का प्राप्त पत्र-व्यवहार आपने अपनी ओर से प्रकाशित कराया था।

आपकी इच्छा तो यह थी कि सभा के अधिवेशन में उपस्थित होकर उसमें ही त्याग-पत्र दें और सभा की स्थिति भी सब सभासदों के सामने खोल कर रख दें, किन्तु कर्तव्यपरायण (!) सभा के अधिवेशन का करवाना भी कुम्भकर्ण की निद्रा खोलने के ही समान अत्यन्त दुःसाध्य था। मन्त्री को तार व पत्र देने पर भी सभा का अधिवेशन नहीं हुआ। शाहपुराधीश उस समय सभा के मन्त्री थे, उनको आपने लिखा—"जिस सभा की जायदाद और प्रबन्ध की यह अवस्था हो, उसमें प्रबन्ध का काम करना मेरे जैसे आदमी के लिये असम्भव है, विशेषकर तब जब कि मेरा शरीर भी आरोग्य नहीं और भविष्य में इस प्रकार के झगड़ों के लिये मैं तैयार भी नहीं। यदि परोपकारिणी सभा के

किसी अधिवेशन के शीघ्र होने की सम्भावना होती, तो अपने सब पदों का चार्ज उस सभा को ही देता, किन्तु सभा के अब किसी अधिवेशन के शीघ्र होने की आशा नहीं रही, ········ तो यही समझा कि इन बखेड़ों से शीघ्र ही छुटकारा हासिल कर लूं।" परोपकारिणी-सभा के प्रति आपको सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि "मन्त्री तथा प्रधान अपने हाथों से काम करने वाले नहीं हैं। महाराजे अपने नौकरों पर विश्वास करके उनसे काम कराते हैं, जिससे सभा की हानि होती है।"

पहिले जालन्धर-आर्यसमाज के, फिर पञ्जाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के प्रधान-पद एवं गुरुकुल-कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य के पदों की जिम्मेवारी को जिस तत्परता और कर्तव्य-परायणता से आपने पूरा किया था, उसको देखते हुए यह सम्भव भी कैसे था कि आप कर्तव्य-विमुख और सोई हुई संस्था के साथ केवल नाम के लिये चिपटे रहते ?

४. आर्यकुमार-सम्मेलन

भारतवर्ष के आर्य-नवयुवकों के अखिल-भारतवर्षीय संगठन का नाम 'आर्य-कुमार-सम्मेलन' है। देहली में सम्वत् १९७० में २२-२३ आश्विन को होने वाला चौथा अधिवेशन आप के सभापतित्व में हुआ था। अपने ओजस्वी भाषण में आपने अपने को सभापति निर्वाचित करने का कितना सुन्दर कारण

बताया था ? आपने कहा था—"आज मेरे बाल सफ़ेद होगये हैं, तथापि आर्यसमाज के वृद्ध सेवकों में, काम करते हुए नेताओं में, नवयुवक से नवयुवक हृदय से भी अधिक मैं अपने हृदय को नवयुवक पाता हूं। आप इसे अभिमान समझें। मैं इस अभिमान का दोष अपने सिर पर लेने को तैयार हूं। मुझे हर्ष है कि युवक-सम्मेलन का सभापति बना कर आपने मेरे इसी सद्गुण पर ठप्पा लगाया है।" भाषण के अन्त में युवकों से आपने अपील की थी—"सेवक बनने का यत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब कभी आप का पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान का स्मरण कर लिया करो।............नवयुवको ! मैं पूछता हूं, क्या तुम में से कोई भी दयानन्द रूपी राम का पायक हनुमान बनने का यत्न न करेगा ? महावीर के बिना दयानन्द का काम अधूरा पड़ा है। मुझे पूरी आशा है कि दयानन्द के काम को पूरा करने के लिये पाप की लंका का विध्वंस करने के लिये तुम्हीं में से महावीर निकलेंगे।"

५. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

इसी वर्ष भागलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन का आपको सभापति बना कर, हिन्दी भाषा के लिये की गई आप की सेवाओं के लिये आप के प्रति कृतज्ञता

प्रगट करते हुए हिन्दी जनता ने जहां आप का गौरव किया था, वहां आप द्वारा सम्मेलन को भी गौरवान्वित किया था। हिन्दी के कुछ अन्य सुप्रसिद्ध लेखकों के समान आप को भी हिन्दी भाषा ने उर्दू से अपनी ओर आकर्षित किया था। उर्दू के आप ओजस्वी लेखक थे। उर्दू में ही आपने अपना पत्र 'प्रचारक' शुरू किया था और उर्दू में कई ट्रैक्ट और पुस्तकें भी लिखी थीं। पर, हिन्दी का प्रेम भी आप के हृदय में असाधारण रूप में विद्यमान था। सम्वत् १९५५ के 'प्रचारक' में आपने इस आशय की एक टिप्पणी लिखी थी कि "दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि प्रतिनिधि का दफ़्तर और आर्यसमाजों का पत्र-व्यवहार आर्य-भाषा में हो जावे। क्या उर्दू का स्थान आर्य-भाषा को लेते मैं अपनी आंखों से देखूंगा ?" सम्वत् १९६६ के २१ ज्येष्ठ के 'प्रचारक' में उक्त टिप्पणी की ओर संकेत करते हुए आपने लिखा था—"क्या यह टिप्पणी लिखते हुए मुझ को स्वप्न भी आ सकता था कि मैं अपनी आंखों से ही न केवल प्रतिनिधि सभा के कार्यालय का सब काम तथा पत्र-व्यवहार ही आर्य-भाषा में होता देखूंगा, प्रत्युत्त 'सद्धर्मप्रचारक' को आर्य-भाषा में परिवर्तित देखने के अतिरिक्त देवनागरी लिपि के प्रचार के लिये सारे देश में आन्दोलन भी देखूंगा।" आर्यसमाज का यह दावा है कि उसका धर्म सार्वभौम है। इस लिये आप सार्वभौम धर्म के लिये सार्वभौम-लिपि नागरी और भाषा हिन्दी को ही

अपनाना आवश्यक समझते थे। पंजाब में आर्यसमाज द्वारा हिन्दी का प्रारम्भिक दिनों में जो प्रचार हुआ था, उसका सब श्रेय आपको ही है।

हिन्दी को अपनाने के बाद आपने कभी व्यक्तिगत-व्यवहार में भी उर्दू अथवा अंग्रेज़ी से काम नहीं लिया। जब कभी किसी दूसरी भाषा से काम लेने का समय आया तो उसको अपने लिये संकट-काल अथवा आपत्काल ही समझा। महात्मा गांधी के नेटाल से लिखे हुए जिस पहिले पत्र का पीछे उल्लेख किया जा चुका है, उसका उत्तर आपने हिन्दी में देते हुए यह भी लिखा था कि "जो व्यक्ति हिंदी को देश की भाषा बनाना चाहता है, उसको कोई अधिकार नहीं कि वह दूसरी भाषा में पत्र-व्यवहार करे।" इसी से महात्मा जी भी आपको हिन्दी में ही पत्र लिखने लग गये थे। 'प्रचारक' को एकाएक उर्दू से हिन्दी में परिवर्तित करना और गुरुकुल में प्रारम्भ से अन्त तक सब शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रखना हिन्दी की सेवा के लिये किये गये आपके इतने महत्वपूर्ण कार्य थे कि उन पर ही मुग्ध होकर आपको भागलपुर में 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' का सभापति बनाया गया था। सभापति का यह पद किसी धुरन्धर विद्वान के लिये 'रिज़र्व' समझा जाता था। यह पहिला अवसर था, जब कि विद्वत्ता के साथ-साथ प्रचार और सेवा के कार्य को भी कुछ महत्व दिया गया था। हिन्दी के कुछ धुरन्धर

विद्वान् इस चुनाव से असन्तुष्ट थे, किन्तु प्रायः सभी समाचार-पत्रों ने उसके लिये हर्ष और सन्तोष प्रगट किया था। इलाहाबाद के 'लीडर' ने स्वागत समिति को बधाई देते हुए लिखा था—"लाला मुन्शीराम जी इतने विख्यात हैं कि उनकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। जिस सम्मेलन का ऐसा व्यक्ति सभापति हो, उसको अवश्य ही सफलता और सहायता प्राप्त होगी।"

सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये आप के भाषण की सब से बड़ी विशेषता यह थी कि आपने राष्ट्र भाषा हिंदी के लिये 'मातृभाषा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। 'अभ्युदय' ने आप के भाषण की रिपोर्ट में इस विशेषता का विशेष-रूप से उल्लेख किया था। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये अन्य युक्तियों में आप की एक युक्ति यह थी कि "हमारी सभ्यता के तीन प्रधान चिन्ह हैं—अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मणत्व। ये तीनों गुण परकीय भाषा द्वारा परिस्फुट नहीं हो सकते। इसलिये यदि हम परकीय भाषा को अपनावेंगे तो हम भ्रष्ट होंगे—एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकेंगे।" किसी अधिक विद्वान और योग्य व्यक्ति को सभापति न बनाकर आप को ही सभापति क्यों बनाया गया? इसके लिये आप ने कहा था—"आप ने सोचा कार्य तभी सम्पन्न होता है, जब ब्राह्मण मस्तिष्क से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन से और शूद्र सेवा से उसकी सहायता करे। सम्मेलन को मस्तिष्क की सहायता

मिल ही चुकी है और बाहुबल की अपेक्षा नहीं है। धन की सहायता मिली है और भी मिलेगी। शूद्र की सहायता और सेवा आप मुझसे चाहते हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र को सेवक हनुमान की सहायता न मिलती तो रावण के मारने में कदाचित् वह सफल न होते।" इन शब्दों में कितनी नम्रता और उच्चाशयता झलकती है !

आप हिन्दी के भी वैसे ही सच्चे सेवक, विद्वान् लेखक और ओजस्वी वक्ता सिद्ध हुए, जैसे कि उर्दू के थे। सच पूछो तो आप को उर्दू का सेवक तो कहना भी नहीं चाहिये। पर, हिन्दी की तो आपने वस्तुतः सेवा की है। हिन्दी में आपने आर्यपथिक लेखराम की जीवनी, ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, आदिम-सत्यार्थप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थ और ट्रैक्ट लिखे हैं। उच्च शिक्षा के लिये गुरुकुल के अध्यापकों द्वारा हिंदी में कृषि-शास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भौतिकी और रसायन आदि जटिल विषयों पर भी आपने ग्रन्थ लिखवाये और उनको गुरुकुल की ओर से प्रकाशित भी किया। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के नाते आपने जो भाषण दिया वह भी हिंदी में दिया और इस प्रकार हिंदी को राष्ट्रीय महासभा के मंच पर अधिष्ठित करने का सर्वप्रथम श्रेय और गौरव भी आपने ही प्राप्त किया। हिन्दी की सेवा, उस के प्रचार और देश के एक बड़े हिस्से में उस को जीवित भाषा बनाने का कार्य भी आप के जीवन का एक महत्वपूर्ण कार्य है, जो हिन्दी

के क्षेत्र में चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा और जिसके कारण आप का नाम हिन्दी के सेवकों की पहली श्रेणी में बड़े गौरव के साथ सदा ही लिया जाता रहेगा।

६. महान् व्यक्तित्व

आपके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अब कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। फिर भी सम्वत् १९६९ की एक ऐसी मनोरञ्जक घटना का उल्लेख यहां किया जाता है, जिस से आप के महान् व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सन् १९१२, सम्वत् १९६९, में लाहौर के 'प्रकाश' ने अपने पाठकों से एक प्रश्न किया था कि उनकी दृष्टि में भारत के छः महापुरुष कौन-कौन हैं ? एक हज़ार पांच व्यक्तियों ने उस प्रश्न का उत्तर दिया था। उन उत्तरों में दिये गये नामों के लिये प्राप्त सम्मतियां जोड़ने पर निम्न-लिखित परिणाम निकला था—श्रीयुत् गोपाल-कृष्ण गोखले—७६२, महात्मा मुन्शीराम—६०३, लाला लाजपतराय—५३३, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक—४७५, पं० मदनमोहन मालवीय—४७५ और भीष्म-पितामह दादाभाई नौरोजी—४३३। चार वर्ष पहिले सन् १९०७, सम्वत् १९६४, में 'हिन्दुस्तान' ने भी अपने पाठकों से इसी प्रकारका प्रश्न किया था। उसके निर्णय के अनुसार महात्मा मुन्शीराम जी का सातवां नम्बर था। इससे प्रतीत होता है कि चार वर्षों में आप

बहुत लोकप्रिय हो गये थे। 'प्रकाश' ने इसी सम्बन्ध में लिखा था—"महात्मा मुन्शीराम जी ने अपनी चुपचाप परन्तु स्थिर लोकसेवा के कारण लोगों के हृदय पर अधिक अधिकार जमा लिया है।" यह स्पष्ट है कि आपके जीवन में आपकी लोकप्रियता इससे भी अधिक अनुपात से बढ़ती चली गई थी और बड़ी तेज़ी के साथ आप लोगों के हृदय पर अधिकाधिक ही अधिकार करते चले गये थे।

इसी सम्बन्ध में एक और घटना भी बड़ी मनोरंजक है। अन्तिम परिणाम के अनुसार बिलकुल ठीक-ठीक उत्तर देने वाले के लिये 'प्रकाश' की ओर से ५० रु० का इनाम रखा गया था। ऐसे ठीक-ठीक उत्तर देने वाले नौ सज्जन थे। एक छोटे से बालक से कहा गया कि उनके कार्डों को जमीन पर फैला कर उनमें से कोई एक उठा ले। उसने महात्मा जी के परम-भक्त, अनन्य-सेवक, श्रद्धासम्पन्न, कर्मशील लुधियाना-निवासी श्री लब्भूराम जी नय्यड़ के नाम का कार्ड उठाया और ५० रु० का वह इनाम आपको मिला। गुरुकुल की ओर से गुरुकुल की सेवा के पुरस्कार में रखा गया 'महात्मा मुन्शीराम-पदक' भी आपको ही मिला था। सच्चे स्नेह और अनन्य भक्ति का यह स्वाभाविक परिणाम था।

सम्भवतः कहा जाय कि 'प्रकाश' तो आर्यसमाजी पत्र था, उसका वैसा परिणाम निकलना कोई बड़ी बात नहीं थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के अनन्य भक्त

लुधियाना निवासी श्री लब्भूराम जी आर्य

महात्मा मुन्शीराम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद में पड़ने के लिये यह उपयुक्त स्थान नहीं है। पिछले और अगले पृष्ठों में इस विवाद का स्वयं ही निर्णय हो गया और हो जायगा। हां, उस महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दो-एक विशेष घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। सन् १९०७ की सूरत-कांग्रेस में फूट पड़ने पर २७ जनवरी १९०८ को श्रीयुत गोखले ने आपको कलकत्ता से एक पत्र में लिखा था—"मुझ को यह देख कर बड़ी निराशा हुई कि आप २७ दिसम्बर को सूरत नहीं पहुंच सके, क्योंकि मैं आप से मिलने के लिये बहुत उत्सुक था। उन दुःखपूर्ण घटनाओं के बाद, जिनसे सूरत-कांग्रेस भङ्ग हो गई, आप सरीखे व्यक्ति से मिलना और भी ज़रूरी हो गया है। घटनाओं का इस समय जो रुख़ है, उससे मैं अब भी विक्षिप्त हूं, और आपके साथ वर्तमान स्थिति पर विचार-विनिमय करने से मुझको जो सन्तोष प्राप्त होगा, वह दूसरी तरह नहीं हो सकता। आपको मुझ से मिलने में जो कठिनाई है, वही मुझ को आप से मिलने में है। मैं काम में बुरी तरह गुंथा हुआ हूं। मुझ को नहीं मालूम कि उससे मैं कैसे छुटकारा प्राप्त करूं।" इसके बाद अपना कार्यक्रम और इंगलैण्ड जाने के सम्बन्ध में लिखते हुए आपने लिखा था—"इस से आपको पता लग जायगा कि इस वर्ष भी मेरे लिये गुरुकुल आना सम्भव नहीं है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं

कि गुरुकुल आने की अपनी असमर्थता के लिये जितना मुझ को दुःख है, उतना शायद ही किसी और को हो।" इस पत्र से स्पष्ट है कि महात्मा जी के व्यक्तित्व से श्रीयुत गोखले कितने प्रभावित थे? वे सचमुच महात्मा जी को अपना अन्तरंग साथी समझते थे और व्यवस्थापिका-सभा के काम के सम्बन्ध में भी आपके साथ सलाह-मशवरा करते रहते थे। आपने १७ अप्रैल सन् १९११ के पत्र में लिखा था—"आपके पत्रों के लिये मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं। वास्तव में मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं कि आप मुझको अपना निजी अन्तरंग मित्र समझते हैं।" फिर एक पत्र में लिखा था—"यदि आप पूना आकर हमारी सोसाइटी का अवलोकन कर सकेंगे, तो हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता होगी। यदि आप आने का निश्चय करें, जैसा कि मुझको विश्वास है कि आप ज़रूर करेंगे, तो पहिले सूचना दे दें, जिससे मैं आपके अनुकूल अपना कार्यक्रम बना रखूं।"

स्वर्गीय गोखले के समान महात्मा गांधी भी जिस प्रकार आप के व्यक्तित्व से प्रभावित थे, उस का एक हलका-सा चित्र पीछे दिया जा चुका है। अहमदाबाद में सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना करते हुए उस के सम्बन्ध में गांधी जी आप से बराबर परामर्श करते रहे। एक पत्र में गांधी जी ने लिखा था—'आप का पत्र मुझ को बल देता है। मेरे कार्य में आर्थिक त्रुटि आयगी तब आप का स्मरण अवश्य करूंगा।

.........आश्रमवासी सब आप के आने की राह देखते हैं। अवधि बीतने पर हम सब अधीर हो जायेंगे।" इसी प्रकार एक दूसरे पत्र में लिखा था—"मेरी ये आजीज़ी है की थोड़े दीनों के लीये अहमदाबाद को और इस आश्रम को पावन करो। आश्रमवासी आप का दर्शन कर कृतार्थ होंगे।" गांधी जी के पत्रों से मालूम होता है कि वह भी आप के साथ अपने हर कार्य के सम्बन्ध में सदा परामर्श करते रहते थे।

दीनबन्धु एण्डरूज़ का आप के प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण था, उस का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। दीनबन्धु अपने लिये आप को आंतरिक स्फूर्ति का प्रधान साधन मानते थे। मि० हार्वर्ट सरीखे सरकारी-अधिकारी भी आप से अपने विवाह के लिये विलायत से पत्र द्वारा शुभ-आशीर्वाद मांगते थें। विवाह के बाद विलायत से लौटने पर वह पत्नी सहित आप के समक्ष आशीर्वाद लेने के लिये ही उपस्थित हुए थे। मि० रैम्ज़े मैकडानल्ड आदि आप द्वारा जिस प्रकार प्रभावित हुए थे, उस को दोहराने की आवश्यकता नहीं।

आप के व्यक्तित्व की महानता को बतलाने वाली यह केवल दो-एक घटनायें हैं। वैसे भारत के महापुरुषों में आप का चाहे कोई सा भी स्थान क्यों न रहा हो, किन्तु आम जनता और विशेषतः आर्य जगत के तो आप हृदय-सम्राट ही थे, जिस ने आप की अंगुली के इशारे पर गुरुकुल के लिये तन,

मन, धन न्यौछावर करने में कभी भी हीनता, दीनता अथवा कृपणता नहीं दिखाई थी और उस के ही भरोसे आपने गुरुकुल सरीखी असम्भव जंचने वाली संस्था को इतना महान् और विशाल बना कर 'महात्मा' शब्द को वस्तुतः सार्थक कर दिखाया था।

चौथा भाग

संन्यास

१. स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी, २. संन्यासाश्रम में प्रवेश, ३. आर्यसमाज का इतिहास, ४. गढ़वाल में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता, ५. धौलपुर का समाज-मन्दिर, ६. राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में, ७. गुरुकुल में फिर दो वर्ष, ८. सार्वदेशिक-सभा और मद्रास में दलितोद्धार, ९. हिन्दू-महासभा, १०. शुद्धि, ११. संगठन, १२, आर्यसमाज, १३. अन्तिम दिन, १४. अमर-पद की प्राप्ति।

१. स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी

आर्य जनता के महात्मा मुन्शीराम, संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद, स्वामी श्रद्धानन्द बन कर मनुष्यमात्र के हो गये। उन पर अकेली आर्य जनता का अधिकार न रहा, मनुष्यमात्र का उन पर अधिकार हो गया। गुरुकुल के लिये सर्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले त्यागी ने देश, समाज और राष्ट्र के लिये आदर्श सर्व-त्यागी बन कर दिखा दिया। गुरुकुल के लिये जिस ने गले में भिक्षा की झोली डाली थी, अब उस ने मनुष्यमात्र की सेवा के लिये सदा के लिये ही भिक्षुक का बाना पहन लिया। समय ही कुछ ऐसा आ गया था कि महात्मा मुन्शीराम जी

सरीखे व्यक्ति का देश के एक कोने में बैठा रहना सम्भव नहीं था। जब मुन्शीराम जी ने आर्यसमाज में प्रवेश किया था, तब यह कौन जानता था कि आर्यसमाज में नेता के अभाव की पूर्ति करने के लिये ही आप ने आर्यसमाज में प्रवेश किया था। जिस समय गुरुकुल खोलने का आप स्वप्न देख रहे थे, उस समय किस को पता था कि अनुव्रता पत्नी का वियोग गुरुकुल के लिये किये जाने वाले सर्वमेध-यज्ञ की पूर्व सूचना है ? इसी प्रकार जब आपने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का विचार किया था, तब किसको मालूम था कि आप के लिये इतना महान् और विस्तृत कार्यक्षेत्र तय्यार हो रहा है। महात्मा गांधी के सत्याग्रह की उस समय कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। देहली की शाही जामा-मसजिद, घण्टाघर, अमृतसर-कांग्रेस और मियांवाली जेल की घटनाओं का किसी को स्वप्न में भी विचार न था। संन्यासी के लिये गोरे अथवा काले, जाति अथवा सम्प्रदाय और धर्म अथवा समाज का कोई बन्धन और भेद नहीं है। मनुष्य-कृत भेद-भाव से ऊपर उठा हुआ वह मनुष्यमात्र का सेवक है। सेवक के इस कर्तव्य को स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जिस तत्परता के साथ निभाया उसकी तुलना इधर किसी के साथ करना सम्भव नहीं है। धौलपुर के समाज-मन्दिर के लिये, गढ़वाल के दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिये, देहली की अन्याय-पीड़ित मुस्लिम जनता

के लिये, गुरु का बाग़ में धर्मयुद्ध में लगे हुए सिखों के लिये, सदियों की वंश-परम्परा से पद-दलित दक्षिण की अस्पृश्य ठहराई हुई मूक जातियों के लिये और घर के द्वार खोल कर गहरी नींद की मूर्छित अवस्था में पड़े हुए तथा दिन पर-दिन नष्ट होते हुए हिंदू-समाज के लिये भी आर्य संन्यासी के हृदय में, सभी के लिये, एक-सा दर्द था। उसने सब किसी की बिना भेद-भाव के और बिना किसी पक्षपात के सेवा की। बीमारी में निरन्तर गिरता हुआ स्वास्थ्य नहीं देखा, दिन में चौबीस घण्टे काम करने के बाद जागते बिताई हुई रात्रियां नहीं गिनीं और देहली से बम्बई, बम्बई से मद्रास, मद्रास से कलकत्ता, कलकत्ता से बर्मा, बर्मा से हरिद्वार और हरिद्वार से लाहौर तक का मार्ग बार-बार नापते हुए भी कभी थकान अनुभव नहीं की। वेद के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः' के आदेश को मृत्यु आने के क्षण तक आपने बराबर पालन किया। बीमारी के बिस्तर पर पड़े हुए भी आप की मानसिक क्रिया कभी बन्द नहीं हुई। सदा ही सामने सुलगती हुई आग की लपटों में कूद कर आपने अपनी सचाई का परिचय दिया। नीति के 'मृत्युना गृहीत इव केशेषु' के उपदेश को सदा सामने रखा। जिस किसी पहाड़ी पर चढ़ने का संकल्प किया, उस की चोटी पर ही चढ़ कर सांस लिया। जिस काम को हाथ में लिया उसको सफल करके ही छोड़ा। जिस किसी क्षेत्र में पैर रखा,

उसी में चोटी के नेताओं की भी चोटी पर जा पहुँचे। इसी लिये इस जीवन के संन्यास-काल में आपने जनता की दृष्टि में परिव्राट् से भी अधिक ऊंचे सम्राट् पद को प्राप्त किया। जनता की श्रद्धा की आप प्रतिमा थे और उसके विश्वास की मूर्ति। गुरुकुल के लिये जिस जनता ने आपको हर एक अपील पर आंख मूंद कर लाखों दिये थे, अब वह आप की हर एक बात पर आप के सामने लाखों का ढेर लगाने लग गई। जनता के प्रति नेता के कर्तव्य-पालन में आपने कभी चूक नहीं की, उसके प्रति कभी विश्वासघात नहीं किया और जनता ने भी अपने नेता के प्रति कोई चूक नहीं की, उसकी किसी भी बात को अनसुना नहीं किया। संन्यास-काल की यह जीवनी साहस, त्याग, पुरुषार्थ, आत्म-विश्वास तथा कर्मशील जीवन की वह शिक्षाप्रद-कहानी है, जिस का अन्त अमर-पद की प्राप्ति में होता है और चरित्रनायक के साथ-साथ वह कहानी भी अमर होजाती है।

२. संन्यासाश्रम में प्रवेश

सम्वत् १९७३ के २८ चैत्र तदनुसार सन् १९१७ के ९ अप्रैल का वह दृश्य कितना गम्भीर, सुन्दर और भव्य था, जिस में गुरुकुल के प्राण महात्मा मुन्शीराम जी के प्रति समस्त भारतीय आर्य जनता के प्रतिनिधियों की, पन्द्रह-बीस हज़ार आर्य स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति में, न केवल कुलवासियों की ओर

से किन्तु आर्य जनता की ओर से भी कृतज्ञता प्रकट की जा रही थी। गुरुकुल के उस पन्द्रहवें उत्सव पर गुरुकुल के लिये धन-संग्रह की अपील करने के समय, अपील न करते हुए, आप को गुरुकुल से विदा होते हुए—वानप्रस्थ से संन्यासाश्रम में अथवा आर्यसमाज की सेवा के सीमित क्षेत्र से मनुष्यमात्र की सेवा के विस्तृत क्षेत्र में जाते हुए—मान-पत्र देने का आयोजन किया गया था। उस समय आर्य जाति की ओर से आप की सेवा में निम्न लिखित मान-पत्र भेंट किया गया था :—

आर्य जाति के हृदयसम्राट् !

आज आप सम्राट् से भी ऊंचे परिव्राट् के सिंहासन पर अधिरोहण करने लगे हैं। आज जो पुष्पांजलि लेकर हम आप की सेवा में आते हैं, वह आंसुओं से भीगी है। यद्यपि हम जानते हैं कि जहां आप अब तक आर्य जाति के हृदयों पर उस अधिकार से शासन करते थे जो आर्य जाति ने स्वयं आपको आपके गुणों पर मुग्ध होकर आपके गले में पहनाया था, वहां अब आप उस अधिकार से शासन करेंगे जिसके लिये आप केवल परम साक्षी के आगे उत्तरदाता हैं, तो भी हृदय द्रव हुये बिना नहीं रहता।

श्रीमन् ! आर्य जाति आज बताना चाहती है कि जहां अब तक आप की सेवा के लिये धन, समय और प्रेम का दान करने में वह दरिद्र नहीं हुई, आज इस विदाई और मिलाप के विलक्षण संगम में वह अपने एक सच्चे पुत्र पर शब्दों की वर्षा करने में भी दरिद्र नहीं है। यदि है, तो केवल इसलिये कि हृदय भरा

हुआ है, केवल इसलिये कि आप का कीर्ति गान करने के लिये शब्द उचिततम साधन नहीं हैं।

भारत का विशेषत: पंजाब का कौन-सा कोना है, जो आपके ओजस्वी नाद से न गूंजा हो, जिसमें आप के वैदिक धर्म, ऋषि दयानन्द और आर्य जाति के प्रति अगाध प्रेम का कोई न-कोई स्मारक न हो, जिसमें आप के उस अपूर्व त्याग का कोई न कोई दृश्य उपस्थित न हो, जिसके कि एक जीते उदाहरण इस गुरुकुल में आज हम आपकी सेवा में उपस्थित होते हैं। इस कार्य के लिये इससे अच्छा स्थान हम नहीं चुन सकते थे। इन भावों से इस भूमि में हम सम्राट् को विदाई देते हैं और परिव्राट् के चरणों में सिर झुकाते हैं। राजन्! आपका मंगल संकल्प पूर्ण हो। भगवन्! आप हमें आशीर्वाद दें। राजाओं का राजा तथा परिव्राजकों का परिव्राजक हम सब को आशीर्वाद दे। आचार्य दयानन्द का महायज्ञ पूर्ण हो।

वशंवद—आर्य जाति।

इस मान-पत्र के लिये धन्यवाद देते हुए उपस्थित स्त्री-पुरुषों से संन्यासाश्रम का कर्त्तव्यपालन करने के लिये आपने आशीर्वाद मांगा। उस समय यूरोप का महायुद्ध ज़ोरों पर था और चारों ओर आर्थिक संकट तथा निराशा छाई हुई थी, फिर भी बिना अपील किये ही गुरुकुल के लिये ७१ हज़ार रुपया नक़द जमा हुआ था। आर्य जनता के आप के प्रति अगाध प्रेम की यह स्पष्ट साक्षी थी।

सम्वत् १९७४ की पहिली वैशाख, १२ अप्रैल सन् १९१७, को आपने मायापुर-वाटिका-कनखल में संन्यासाश्रम में प्रवेश

किया। उससे पहिले दिन सवेरे आपने महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों को विशेष उपदेश दिया। उपदेश के अन्त में विदाई की ओर निर्देश करते हुए आपका गला भर आया। अधिक बोलना कठिन हो गया। ब्रह्मचारियों और उस भूमि से विदाई लेना कुछ सहज नहीं था। वैसे तो आपने जालन्धर से भी इस भूमि के लिये विदा ली थी। पर, उस दिन प्रेम और कर्तव्य में इतना संघर्ष नहीं हुआ होगा, जितना कि इस दिन इस भूमि को छोड़ते हुए हुआ। मनुष्य का मन किराये के छोटे से मकान में भी फँस जाता है। फिर यह भूमि तो, जिसमें कभी दिन में भी दिया जलाना पड़ता था, आपकी जीवन-साधना के फल स्वरूप इतनी उज्ज्वल हो गई थी कि वह संसार के समस्त प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करने लग गई थी। आपका मन तो उसकी धूलि के एक-एक अणु-परमाणु तक में फँसा हुआ था। गौतम बुद्ध के समान घर-गृहस्थी का त्याग कर आप इस भूमि में आये थे, आज बोधि-वृक्ष के नीचे की तपस्या पूरी होने पर संसार को उसका दिव्य-सन्देश सुनाने का अवसर उपस्थित हुआ था। एक बार मोह-माया, ममता तथा प्रेम पर कर्तव्य ने फिर विजय लाभ की। मध्यान्ह समय उस राजर्षि ने उसी प्रकार इस भूमि से विदा ली, जैसे कि पन्द्रह वर्ष पूर्व इसमें प्रवेश किया था। उसके हृदय में आज भी वैसा ही उत्साह, पुरुषार्थ और महत्वाकांक्षा थी, जैसी कि आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व थी। पर, पीछे चलने वाले

चौंतीस के स्थान में दो सौ से अधिक ब्रह्मचारी थे और सब के चेहरों पर उदासी छाई हुई थी, हृदय सब के मुर्झाये हुए थे। कर्तव्य की विजय-यात्रा का वह जलूस आचार्य के बँगले से होता हुआ कनखल हो कर मायापुर पहुंचा। आचार्य को वहां छोड़ कर सब ब्रह्मचारी लौट आये और दूसरे दिन सवेरे ही संस्कार में सम्मिलित होने के लिये फिर मायापुर पहुंच गये। गुरुकुल-उत्सव पर पधारे हुए संन्यासी, नेता और बहुत-से आर्य स्त्री-पुरुष भी उस मंगल-महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये रुक गये थे! मायापुर-वाटिका धन्य हो गई, जहां आर्यसमाज को ऋषि दयानन्द के बाद स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी के रूप में वह महान् विभूति इतनी जल्दी फिर प्राप्त हो गई, जो दूसरे देशों तथा समाजों को सदियों में कभी एक बार बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ करती है। सवेरे नौ बजे संस्कार शुरू हुआ। आधी विधि के बाद पीले डुपट्टे के वेश को उतार, दाढ़ी-सिर मुंडवा कर जब आचार्य सफ़ेद धोती पहिने हुए फिर यज्ञशाला में आये, तब का दृश्य देखने वालों में इस आयु में कौन भूल सकता है? कितनों की आंखें उस समय डबडबा गईं। प्रेम और भक्ति के आंसुओं के मोती आंखों से झरने लगे। आचार्य ने खड़े होकर बड़े गम्भीर-भाव से कहा—"श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज तक के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्य देवी है। अब भी श्रद्धा-भाव से प्रेरित होकर ही मैं

संन्यासाश्रम में प्रवेश कर रहा हूं। इस लिये इस यज्ञकुण्ड की अग्नि को साक्षी रख कर मैं अपना नाम 'श्रद्धानन्द' रखता हूं, जिससे मैं अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूं।" इस प्रकार आचार्य ने गुरुकुल के आचार्य का पीला वस्त्र उतार कर संसार के आचार्य का भगवा वस्त्र धारण कर लिया और महात्मा 'मुन्शीराम' नाम त्याग कर 'श्रद्धानन्द संन्यासी' नाम रख लिया। वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा आप वर्षों पहले ही त्याग चुके थे। केवल एक गुरुकुलैषणा बाक़ी थी। उसके भी बन्धनों से मुक्त हो कर आचार्य ने लोक-सेवा के निर्द्वन्द्व क्षेत्र में प्रवेश कर लिया।

३. आर्यसमाज का इतिहास

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद कुछ रोगों की निवृत्ति के पीछे गुरुकुल-कुरुक्षेत्र में आपने चातुर्मास्य किया। उसी समय आप ने 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने के बहुत पुराने संकल्प को पूरा करने का निश्चय किया। परोपकारिणी-सभा की ओर से भी सम्वत् १९६६ में आप ने यह काम अपने हाथ में लिया था, पर सभा के कार्य से असन्तुष्ट होकर उस समय उस को बीच में ही छोड़ देना पड़ा था। १७ भाद्रपद सम्वत् १९७४ के 'प्रचारक' में आपने अपने इस संकल्प की घोषणा करते हुए लिखा था—"समकालीन इतिहास लिखने का काम

बड़ा कठिन तथा दुस्साध्य समझा जाता है और है भी ऐसा ही। परन्तु मैंने फिर भी इस आशा पर काम आरम्भ किया है कि प्रथम तो मैं अपने व्यक्तित्व को जुदा रख कर निष्पक्ष भाव से आर्यसमाज का इतिहास लिखने की अवस्था में आ गया हूं। यदि मैंने घटनाओं का ठीक परिणाम निकालने में कहीं ठोकर खाई तो उसे आने वाले इतिहास-लेखक सुधार लेंगे।" इस घोषणा के अन्त में आर्यसमाजी पत्रों के सम्पादकों से पत्रों की फ़ाइलें और संस्थाओं के संचालकों से उन की रिपोर्टें भेजने के लिये अपील की गई थी। इतिहास के साथ साथ दसों उपनिषदों का हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में भाष्य करने का भी विचार किया। इतिहास की सामग्री जमा करने के लिये आर्यसमाजों में घूमने की आवश्यकता प्रतीत हुई। दो मास का दौरे का कार्य-क्रम बना कर आप निकल पड़े। इतिहास की सामग्री जमा करने के साथ-साथ व्याख्यानों द्वारा 'ब्रह्मचर्य का सन्देश' जनता को सुनाते हुए आचार की शुद्धता की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने का यत्न भी किया। पंजाब के दो मास के दौरे में इतिहास की बहुत सामग्री हाथ आगई और चारों ओर से भी बहुत सा मसाला आना आरम्भ होगया। दौरे के बाद कुरुक्षेत्र में कार्य आरम्भ किया ही था कि प्रतिनिधि-सभा, पंजाब के प्रधान श्री रामकृष्ण जी तथा गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री रामदेव जी के आग्रह तथा अन्तरंग सभा की प्रार्थना पर

आपने गुरुकुल कांगड़ी में ही बैठ कर इतिहास लिखने का निश्चय किया। पौष मास में आप गुरुकुल-कांगड़ी आगये। २१ पौष सम्वत् १९७४ के 'प्रचारक' में प्रस्तावित इतिहास का एक ख़ाका प्रकाशित कराया गया। गुरुकुल-कांगड़ी के सोलहवें वार्षिकोत्सव अर्थात् चैत्र सम्वत् १९७४ तक आपने इतिहास की अच्छी तय्यारी करली थी और कोई ३२ हज़ार काग़ज़ों की जांच पड़ताल भी कर ली थी। इतिहास लिखने का कार्य शुरू होने को ही था कि गढ़वाल की दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की दुःख-भरी आहों ने उधर खींच लिया। पांच-छः मास उस काम में निकल गये। फिर आर्यसमाज-धौलपुर की समस्या सुलझाने में एक मास लग गया। इसी बीच में कनखल के पास कटारपुर में हिंदू-मुसलमानों में भयानक मार-पीट होगई, जिसमें कनखल के भी कुछ रईस व साहूकार पकड़े गये। कनखल तथा हरिद्वार के आस-पास इतना आतङ्क छागया था कि मुंह खोलते हुए भी लोग डरते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुक़द्दमा लड़ने आदि में तो कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं की, किंतु कनखल-हरिद्वार के लोगों को काफ़ी धीरज बँधाया, गिरफ़्तार हुए लोगों के परिवारों को हौसला दिया और उनकी दर्दभरी आवाज़ को दूसरे नेताओं तक पहुंचाया। महामना मालवीय जी को इसके लिये प्रेरित करने वालों में स्वामी जी का बहुत अधिक हाथ था। कटारपुर गुरुकुल के सामने गंगा के ठीक दूसरे पार था। इस-

लिये पुलिस की कृपा-दृष्टि गुरुकुल पर भी पड़ जाती, यदि स्वामी जी उस समय सत्साहस का परिचय न देते। इसी समय गुरुकुल में इनफ़्लुएंज़ा की बीमारी फूट निकली जिसने भयानक रूप धारण कर लिया था। आचार्य रामदेव जी के परिवार पर भी उसने हमला बोल दिया था। इसलिये आप ब्रह्मचारियों में आ-जा नहीं सकते थे। डेढ़-दो मास स्वामी जी ने वैसे ही लग कर ब्रह्मचारियों की सेवा की, जैसे कि आचार्य होते हुए करते थे। अपने बंगले के पास ही रोगियों का कैम्प डलवाया, बँगले का कुछ हिस्सा भी खाली कर दिया और स्वयं दिन-रात सब व्यवस्था का निरीक्षण करते रहे। नवम्बर में लाहौर-आर्यसमाज का उत्सव भुगता कर देहली आगये और देहली में नया बाज़ार में सेठ रघुमल जी के उस नये मकान में स्थिर रूप से रहना शुरू कर दिया, जो उन्होंने आपके आधीन कर दिया था। इसी मकान में आप ने अमर-पद की प्राप्ति की। उस मकान का नाम 'श्रद्धानन्द-भवन' और नया बाज़ार का नाम 'श्रद्धानन्द-बाज़ार' रखा गया। देहली में देश के सार्वजनिक जीवन में कुछ ऐसा पैर फँसा कि इतिहास बीच में ही रह गया। कई बार संकल्प तथा यत्न करने पर भी और दो-एक बार कुछ लिख लेने पर भी वह काम पूरा नहीं हो सका। मथुरा की श्रीमद्दयानन्द-जन्म शताब्दि के शुभ-अवसर पर आप के सुयोग्य पुत्र पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति ने उस संकल्प को पूरा किया

और 'आर्यसमाज के इतिहास' का पहिला भाग लिख कर प्रकाशित किया। आपकी बड़ी इच्छा तो यह थी कि आर्यसमाज के सम्बन्ध में आप अपने निजी अनुभवों को प्रकाशित करें। पर, आपकी वह इच्छा पूरी न हुई और आपकी इच्छानुसार आर्यसमाज का इतिहास भी पूरा नहीं लिखा जा सका।

४. गढ़वाल में दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता

गुरुकुल से किसी कार्यवशात् स्वामी जी बिजनौर गये। वहां आप को पता चला कि समाचार-पत्रों में उत्तराखण्ड गढ़वाल में दुर्भिक्ष फैलने के जो समाचार प्रकाशित हो रहे हैं वे सब ठीक हैं। उन में सन्देह के लिये गुञ्जायश इसलिये थी कि सरकार की ओर से दुर्भिक्ष के होने का खण्डन किया जा रहा था। इस में सरकार का कुछ हेतु भी था। मुख्य हेतु तो यह था कि गढ़वाल में यूरोप के महायुद्ध के लिये भरती का काम ख़ूब ज़ोरों पर था। दुर्भिक्ष-पीड़ित लोग निर्वाह का कोई और उपाय न देखकर सेना में दबादब भरती हो रहे थे। सरकार यह कैसे सहन कर सकती थी कि मैदान के लोग पहाड़ जाकर उस के इस कार्य में खलल पैदा करें। दुर्भिक्ष की पीड़ा दूर होने से ही उस में खलल पैदा होने का भय था।

ईसाई-मिशनरियों ने भी गढ़वाल में अपना मायाजाल अच्छा बिछाया हुआ था। उन के कार्य में खलल पैदा होने मे भी सरकार की स्पष्ट हानि थी। अज्ञानान्धकार में सोयी पड़ी हुई जनता का मैदान के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के साथ संसर्ग में आना भी सरकार को अभीष्ट नहीं था। दुर्भिक्ष को छिपाने का यत्न करते हुए भी सरकार से कुछ भूलें हो गईं। एक तो ज़मीन का नया बन्दोबस्त शुरू कर दिया, जिस पर बहुत शोर मचा। सरकार ने इस को शुरू तो किया था दुर्भिक्ष की अवस्था छिपाने के लिये, किन्तु प्रतिकूल आंदोलन इतना बढ़ा कि प्रांतिक कौंसिल में भी प्रश्न उठा कि दुर्भिक्ष के दिनों में यह नया बन्दोबस्त क्यों किया जा रहा है ? वहां कह दिया गया कि दुर्भिक्ष नहीं है, बन्दोबस्त जारी रहेगा। पर, असन्तोष की आग की लपटें युद्ध के मैदान में गई हुई गढ़वाली सेनाओं में जा फैलीं। इस पर बन्दोबस्त का काम एकाएक ही बन्द करना पड़ा। दूसरी भूल सरकार से यह हुई कि बद्रीनाथ की यात्रा यह कह कर बन्द कर दी गई कि वहां बहुत महंगी है। धर्म-परायण लोगों में बड़ी खलबली मच गई। उन्होंने अपने स्वार्थ-वश ऊपर अनाज भेजना और यात्रा खुलवाने का आंदोलन शुरू किया। यात्रा खुलने का उद्देश्य पूरा होते ही अनाज भेजना बन्द कर दिया गया। स्वामी जी का हृदय कुछ प्रारम्भ से ही ऐसे दुर्भिक्षों के समय बहुत व्याकुल हो जाता था। गुरुकुल

में रहते हुए भी देश में कभी कहीं दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने पर आप अध्यापकों तथा ब्रह्मचारियों को कुछ न-कुछ त्याग करने के लिये अवश्य ही प्रेरित किया करते थे। पहिले ही त्याग का जीवन बिताने वालों का थोड़ा-सा भी त्याग दूसरों में बहुत बड़ा त्याग करने की स्फूर्ति पैदा कर देता है। अपने कार्यकर्ताओं द्वारा स्वयं अनुसन्धान करके वस्तुस्थिति मालूम की और लाहौर के उर्दू दैनिक 'देश' में एक अपील प्रकाशित कर दी। वह ता० २३ अप्रैल सन् १६१८ के दिन प्रकाशित हुई और ता० २४ अप्रैल से ही गुरुकुल कांगड़ी में आप के नाम पर मनीआर्डर पर मनीआर्डर आने शुरू हो गये। ता० २४ को भारत-हिन्दु-सभा के मन्त्री जागे और तारीख २५ को महात्मा हंसराज जी की भी एक अपील समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई। यत्न किया गया कि सब मिल कर काम करें! पर, अलग-अलग ढपली पर अलग-अलग राग अलापने की भारत की बीमारी उस समय भी कैसे दूर हो सकती थी? फिर भी अलग-अलग कार्यक्षेत्र बांट लिये गये। कोटद्वार के मार्ग से पौड़ी-श्रीनगर होते हुए बद्रीनाथ तक सहायता पहुंचाने का काम स्वामी जी के सिपुर्द हुआ। स्वामी जी गुरुकुल से ३ मई को पहाड़ी-जङ्गल रास्ते से कोटद्वार को चल दिये। रास्ते में झगड़ूखाल में एक पुरानी पाठशाला को ईसाई-पादरियों के हाथ से निकाल कर उसका स्वतन्त्र प्रबन्ध कर दिया और

उसके लिये २५०० रु० की अपील करते हुए साथ में उससे कुछ दूरी पर एक और वैसा ही स्कूल चलाने के लिये भी २५०० रु० की अपील समाचार-पत्रों में निकाल दी। बिना विलम्ब ५ हज़ार रुपये आपके पास आ गये और वे गुरुकुल-कांगड़ी के कोष में पाठशालाओं के लिये जमा कर दिये गये। कोटद्वार पहुंच कर पण्डित गंगादत्त जी के सहयोग से दुर्भिक्ष-पीड़ितों को सहायता पहुंचाने की सब व्यवस्था की। ७ मई को आपको कन्या-गुरुकुल के सम्बन्ध में देहली में होने वाली एक सभा के लिये वहां जाना आवश्यक था। उसको निबटा कर आप १० को गुरुकुल लौट आये। यहां महामना मालवीय जी की इलाहाबाद-भारत-सेवा-समिति के मन्त्री श्री हृदयनाथ जी कुञ्जरू इलाहाबाद से आकर आपको मिले। उन्होंने समिति की ओर से आपके दल के साथ मिल कर काम करने की इच्छा प्रकट की। आपने सहर्ष स्वीकार किया। दोनों ने एक साथ मिल कर काम शुरू किया। स्वामी जी ने स्वयं पौड़ी में जाकर आसन जमाया। अपने सुपुर्द किये गये कार्यक्षेत्र में पांच कैम्प खोल कर स्वयंसेवकों का जाल बिछा दिया। एक-एक गांव में घूम कर एकदम असहाय तथा कुछ-कुछ पीड़ित लोगों की तालिकाएं तय्यार की गईं। असहायों को मुफ़्त सहायता दी जाती थी और कुछ-कुछ पीड़ितों को सस्ते दामों में अन्न मोल दिया जाता था। गुरुकुल के बहुत से स्नातक और ब्रह्मचारी आपके पास

सेवा के लिये जा पहुंचे थे। १२ श्रावण सम्वत् १९७५ के 'प्रचारक' में आपने लिखा था—"जो रुपया और अनाज आज तक मेरे तथा भारत-सेवा-समिति के पास दान में आ चुका है, उसका जोड़ ८५ हज़ार के लगभग है। मैं गुरुकुल के स्नातकों, ब्रह्मचारियों तथा गुरुकुल के प्रेमियों के प्रतिनिधि-रूप से ही काम कर रहा हूं। आज तक सब काम मेरी अध्यक्षता में हो रहा है। मैं उन सब को आर्य जनता की ओर से धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने निस्वार्थ-भाव और परिश्रम से काम करने में आर्य-जाति के नेताओं का हाथ बँटाया है। परमेश्वर उन सब को भविष्य में इससे भी अधिक धर्म-भाव से काम करने के लिये प्रेरित करे—यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।" पूरे दो मास स्वामी जी ने पहाड़ पर बिताये। १९ दिन में २६८ मील का दौरा किया। शेष दिन पौड़ी में बैठ कर सब काम की व्यवस्था करते रहे। सेवा-समिति के श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी को सब काम संभलवा कर ४ अगस्त को आप गुरुकुल लौट आये।

इस काम के लिये ७०३३०।≡)॥ आपके पास जमा हुआ। ५४३८९।≈)। गढ़वाल में खर्च किया गया। १० हज़ार रुपया आर्य-प्रतिनिधि-सभा पञ्जाब को ऐसे ही किसी भावी-संकट के निवारण के काम में लाने के लिये आपने सौंप दिया। ५ हज़ार भारत-सेवा-समिति के सुपुर्द कर दिया। ५००) रु० अछूतोद्धार के काम के लिये प्राप्त हुआ था, वह उस काम में लगा दिया गया।

शेष धन, दुर्भिक्ष-कार्य की रिपोर्ट और उत्तराखण्ड-सम्बन्धी कुछ साहित्य प्रकाशित कर उसको दानियों के पास पहुंचाने में ख़र्च हुआ। पौड़ी से लौटते हुए कोई २३००० रु० का अन्न वग़ैरः आप तिवारी जी के सुपुर्द कर आये थे और गुरुकुल से भी दस हज़ार रुपया बीमा से भेजा था। उस सब का हिसाब भारत-सेवा-समिति के ही पास रहा। बिना कहीं आये गये और बिना किसी विशेष यत्न के केवल एक अपील पर इतनी बड़ी रकम आपके पास चले आना आपके प्रति जनता के प्रेम, विश्वास एवं श्रद्धा को प्रगट करता है।

इस प्रकरण में दो-एक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रारम्भ में सरकार की ओर से आपको तथा आपके क़ार्य-कर्ताओं को सब सहूलियतें प्राप्त थीं, किन्तु यह अनुकूलता अधिक दिन क़ायम नहीं रही। जिस भाव से सरकार दुर्भिक्ष की वास्तविकता को छिपा कर मैदान के लोगों को ऊपर नहीं आने देना चाहती थी, वह भाव बिलकुल दबा नहीं था। थोड़े ही दिन बाद वह फिर जाग उठा। भारत-सेवा-समिति का झण्डा पौड़ी में कैम्प पर फहरा रहा था। पहाड़ी जिलों के मजिस्ट्रेट तो वहाँ के राजा ही होते हैं। उसकी आंखों में वह चुभने लगा। अर्दली की मार्फ़त झण्डा उतारने का हुक्म भेजा गया। स्वामी जी ने कह दिया कि "जाओ, अपने मालिक से कह दो कि यह झण्डा गोखले की आत्मा ने लगाया है। सिवा उसके दूसरा

कोई इसको उतार या उतरवा नहीं सकता।" यह गुस्ताख़ी सरकारी अधिकारियों को उभारने के लिये बहुत थी। प्रदेश-भर में सरकारी अधिकारियों ने कुछ जी-हुज़ूरों को साथ लेकर स्वामी जी और उनके सहकारियों के प्रतिकूल एक षड़यन्त्र रचा। एक स्वयंसेवक द्वारा गढ़वाली लोगों की सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक-अन्धविश्वासों के सम्बन्ध में 'प्रचारक' में लिखे गये लेखों को लेकर अनपढ़, अशिक्षित और नासमझ जनता को उभारा गया। उनको कहा गया कि 'आर्या' इस बहाने आर्य धर्म को फैलाने के लिये यहां आये हैं। गढ़वाली लोगों की पंचायत करके साथियों सहित स्वामी जी के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार का फ़तवा दिया गया। उन द्वारा स्थापित अन्न के भण्डारों का भी बहिष्कार कराने का असफल यत्न किया गया। सरकारी कोप का एक कारण यह भी था कि सरकार ने भी अपनी उदारता का परिचय देने के लिये 'गढ़वाल-सेण्टल-फ़ेमिन कमेटी' बनाई थी और उसकी ओर से सस्ते अनाज के कुछ डिपो भी खोले थे। वह कमेटी और उसके डिपो स्वामी जी के काम के सामने चल नहीं सके। सरकार की ऊंची नाक इस अपमान को कैसे सह सकती ? इस प्रकार रचे गये षड्यन्त्र से पैदा की गई असन्तोष की अग्नि एक बार तो बड़े ज़ोरों से भभक उठी। पौड़ी में एक बड़ी बहिष्कार-सभा की आयोजना की गई। स्वामी जी का सिर काट लेने की धमकियां

दी जाने लगीं। सभा के दिन सवेरे स्वामी जी दौरे से लौट रहे थे कि पौड़ी के कुछ सज्जन दो मील की दूरी पर ही जाकर आप से मिले। आप के पैरों में माथा टेक कर आप से उन्होंने प्रार्थना की कि यहीं से लौट जाइये। पौड़ी में आपके जाने से ख़ून ख़राबी हो जायगी और महान् अनर्थ मच जायगा। अग्नि से खेलने के आदी स्वामी जी फिर भी पौड़ी आये और वेंक-टेशनानायण जी तिवारी तथा श्रीराम जी वाजपेयी आदि के हज़ार मना करने पर भी शाम की सभा में नियत समय ४ बजे से १५ मिनट पहिले ही जाकर सभापति के आसन के पास जा बैठे। असन्तोष का ज्वार-भाटा उस शांत, गम्भीर और भव्य मूर्ति का दर्शन करते ही उतर गया। जमुना का तूफ़ान वासुदेव के पैर का स्पर्श करते ही शांत होगया। नमकहलाली का परिचय देते हुए दिलों के अरमान निकल कर अपने को धन्य करने के अलभ्य अवसर की कई दिनों से प्रतीक्षा में बैठे हुए जी-हज़ूरों की दिल की दिल में रह गई। स्वामी जी के साहस, धैर्य और आत्मविश्वास की चारों ओर विजयदुन्दुभि बज गई। कायरता पर धैर्य ने, अनैतिकता पर नैतिकता ने और जीहज़ूरी पर कर्तव्यपरायणता ने विजय लाभ की। विरोध और बहिष्कार दब गया। दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता की सेवा का सब काम सुव्य-वस्थित करके स्वामी जी विरोध में भी विजयी होकर गढ़वाल से वापिस हुए। गुरुकुल जाकर इतिहास के काम को हाथ

लगाया ही था कि धौलपुर के आर्यसमाज-मन्दिर का मामला उठ खड़ा हुआ ।

५. धौलपुर का समाज-मन्दिर

धौलपुर में आर्यसमाज-मंदिर का एक भाग गिराकर राज की ओर से वहां आम लोगों के लिये टट्टियां बनवाई जाने लगी थीं। स्थानीय आर्य पुरुषों के अनुनय-विनय-विरोध को राज ने अनसुना कर दिया। समस्त आर्य-जगत् में भयंकर विक्षोभ पैदा हो गया और आर्य जनता ने भी एक व्यक्ति के समान विरोध में आवाज़ उठाई। जब उस विरोध का भी कुछ फल न निकला, तब आर्य-संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। धौलपुर-महाराज के राजप्रासाद के द्वार पर जाकर अन्न-जल ग्रहण किये विना बैठ जाने और अन्याय का प्रतीकार हुए बिना वहां से न उठने का निश्चय किया। इस घोषणा ने आर्य-जनता में बेचैनी पैदा कर दी और जगह-जगह से आर्यों ने धौलपुर जत्थे भेजने की तय्यारी शुरू की। धौलपुर की आर्य देवियों ने भी अदम्य उत्साह का परिचय दिया। अकड़ी हुई राजसत्ता को झुकना पड़ा और आर्यों के प्रति किये जाने वाले अन्याय का प्रतीकार करना पड़ा। आर्य जनता के हृदय-सम्राट् ने जीवन की बाज़ी लगाकर उस के प्रति किये जाने वाले अन्याय का प्रतिकार करवाया।

६. राजनीति के विस्तृत क्षेत्र में

धौलपुर से निबट कर स्वामी जी गुरुकुल पहुंचे ही थे कि वहां इनफ्लूएंज़ा की बीमारी में ब्रह्मचारियों की सेवा में आपको दिन-रात एक करना पड़ा। बीमारी शांत होने के बाद आप नवम्बर सन १९१८ के अन्त में लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर होते हुए देहली चले आये और देहली में ही निश्चित रूप से रहने का विचार कर लिया। दिसम्बरमें कांग्रेस की धूमधाम से निवृत्त होकर फिर इतिहास के साथ-साथ आर्य-सार्वदेशिक-सभा को, जिस के कि आप प्रधान थे, जीवित एवं जागृत संस्था बनाने का यत्न शुरू किया। इस सम्बन्ध में अभी कुछ अधिक काम नहीं हुआ था कि महात्मा गांधी की सत्याग्रह की घोषणा ने आप को उधर खींच लिया। सत्याग्रह की ओर आप इतनी जल्दी कैसे खिंच गये—यह जानने के लिये कुछ पीछे की ओर लौटना होगा। जीवनी के पिछले पृष्ठों में जान बूझ कर स्वामी जी के राजनीतिक विचारों तथा कार्यों की ओर संकेत नहीं किया गया है। उन सब का एक ही प्रसग में उल्लेख करना इसलिये भी आवश्यक समझा गया है कि स्वामी जी की राजनीतिक विचार-सरणि और उन के जीवन के राजनीतिक उतराव-चढ़ाव को समझने में पाठकों को कुछ कठिनाई न हो। प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये उस को निम्न भागों में बांट लेना अच्छा है:—

(क) राजभक्त, (ख) राजद्रोही-सत्याग्रही, (ग) पञ्जाब तथा अमृतसर-कांग्रेस में, (घ) असहयोग के मैदान में, (ङ) अमृतसर जेल में, (च) कांग्रेस से जुदाई।

(क) राजभक्त

स्वामी श्रद्धानन्द जी मुन्शीराम जी के रूप में कभी राजभक्त भी थे, इस बात पर कुछ पाठकों को सहसा विश्वास न होगा। सन् १८५७ के विप्लव के बाद रानी विक्टोरिया की किसी के धर्म में हस्तक्षेप न करने की घोषणा ने भारतवासियों पर सचमुच कुछ ऐसा जादू किया था कि अच्छे से अच्छे विचारशील लोगों को भी उसने मूढ़ बना दिया था। अपने धर्म-प्रचार की धुन के पीछे पागल आर्यसमाजियों को तो उसने मूर्छित ही किया हुआ था। मुन्शीराम जी पर भी यह मूर्छा पूरी तरह छाई हुई थी। आश्चर्य तो यह है कि सन् १६०१ से १६१२ तक सरकार द्वारा इतने लांछित, अपमानित एवं पद-दलित होने पर भी आर्यसमाजियों की वह मूर्छा भंग नहीं हुई। आर्यसमाजियों का यह आन्तरिक विश्वास था कि देश का कल्याण अंग्रेज़ी राज से है। अंग्रेज़ों ने भारतीयों के दिमाग़ में मुसलमानी अत्याचारों का अत्युक्तिपूर्ण इतिहास ऐसा ठोंस-ठोंस कर भर दिया था कि उनके सामने अंग्रेज़ी-राज राम-राज ही प्रतीत होता था। वे समझते थे कि जिस स्वच्छन्दता के साथ इस

राज में धर्म-प्रचार का काम होता है, वैसा किसी और राज में होना सम्भव नहीं। अंग्रेज़ों की धार्मिक-स्वतन्त्रता पर आर्य-समाजी मुग्ध थे। आर्यसमाज के प्रति सरकार के दमन का अर्थ यह किया जाता था कि सरकारी अधिकारियों को आर्यसमाज के प्रति कुछ स्वार्थियों ने बरग़लाया है, जान बूझ कर आर्यसमाज के लिये उनमें झूठा सन्देह पैदा किया हैं। इसलिये आर्यसमाजी इतने दमन के बाद भी सरकार से कभी रुष्ट नहीं हुए। सरकारी अधिकारियों के प्रति भी उन्होंने कभी रोष प्रगट नहीं किया। सम्वत् १९६४ में सम्राट् एडवर्ड के जन्मदिन पर सरकार का आर्यसमाज की ओर से धन्यवाद माना गया था, जिसकी कुछ राष्ट्रीय पत्रों ने आलोचना की थी। उस को ठीक बताते हुए महात्मा मुन्शीराम जी ने लिखा था—"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है, वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की रक्षा का लाभ उठाते हैं, उस के लिये साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिये। यदि ब्रिटिश प्रजा होने के कारण कुछ अधिकार हैं, तो कुछ कर्त्तव्य भी हैं। .... भारतवर्ष-मात्र के आर्यसमाजों को एक-मत होकर गवर्नमेण्ट के धन्यवाद के लिये एक दिन नियत करना चाहिये।" ऐसे उद्धरणों को अधिक देने की आवश्यकता

नहीं। अंग्रेज़ी सरकार की नेकनीयती पर आप को पूरा विश्वास और भरोसा था। देहली-दरबार के समय सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके 'सम्राट्! तुम यहीं रहो' के शीर्षक से लिखा गया 'प्रचारक' का मुख्य लेख आप की अगाध राजभक्ति का जीता जागता चित्र था। सम्वत् १९६९ में लार्ड हार्डिंग के देहली-प्रवेश के समय आर्य-सार्वदेशिक-सभा की ओर से स्वागत का अभूतपूर्व प्रबन्ध किया गया था। सभा के कार्यालय ज्योतिः पाठशाला के ठीक सामने मैदान में बड़ा शामियाना सजाया गया था, जिस में अढ़ाई-तीन सौ आर्यसमाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियां थीं, जिन पर आर्य-समाज के भूषण श्री स्वामी अच्युतानन्द जी महाराज, महात्मा मुन्शीराम जी, पूर्णानन्द जी, राय रोशनलाल जी बैरिस्टर, बृजनाथ जी बी० ए० इत्यादि विराजमान थे। जैसे ही वाय-सराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सब ने खड़े हो कर शांतिपाठ पढ़ा और 'नमस्ते भगवन्!' के ऊंचे नाद से मण्डल को गुंजा दिया। राजद्रोही ठहराये जाकर गहरे दमन की चक्की में पीसे जाने वाले समाज की गहरी राजभक्ति का इससे बढ़िया चित्र और नहीं खींचा जा सकता। वह राजभक्त मुन्शीराम जी के ही दिमाग़ की उपज था। सरकार को भी आप की राजभक्ति पर पीछे इतना विश्वास हो गया कि सन् १९१६ में लखनऊ-कांग्रेस के अवसर पर संयुक्त प्रांत के उस

समय के लेफ़्टिनेन्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने आप को अपने यहां बुलाकर आपके सुपुर्द यह काम किया था कि आप मि० कर्टिस को महात्मा गांधी से मिला दें और भारतीय नेताओं के सामने भावी शासन-सुधारों के सम्बन्ध में उस योजना को पेश करें जिस की रूप-रेखा मारिस-कर्टिस-सरक्यूलर में अंकित की गई थी।

सरकार के प्रति आपकी राजभक्ति और सरकार के आपके प्रति इस विश्वास में एक बात बहुत अच्छी यह थी कि आपकी राजभक्ति में पूरी ईमानदारी होते हुए भी उसमें ख़ुशामद की गन्ध तक नहीं थी। ख़ुशामद और चापलूसी के भाव आप में वंश-परम्परा से ही नहीं थे। यदि वे कुछ थोड़ी-सी भी मात्रा में होते तो नायब-तहसीलदारी में पड़ने के बाद न मालूम आप किधर चले गये होते? लाला लाजपतराय जी के निर्वासन पर आपने जिस धीरता और वीरता का परिचय दिया था, ख़ुशामद और चापलूस स्वभाव होने पर उस का परिचय देना सम्भव नहीं था। सन् १६०६-७ के सरकारी दमन का भी आपने तीव्र विरोध किया था और लिखा था—"जेल भरने से यह रोग दूर न होगा।" अमरावती से निकलने वाला 'कर्तव्य' बहुत ही गरम पत्र था। चेतावनी मिलने पर उसने लिखा था कि हम कर्तव्य पालनसे कभी विमुख नहीं होंगे। दिसम्बर सन् १६०७ में जब उसपर राजद्रोह का मुक़द्दमा चला तब उसने क्षमा मांगकर अपना

छुटकारा कराया था। इस पर आपने लिखा था—"ऐसे गिरे हुए लफंगे यदि स्वराज्य प्राप्त कर भी लें तो विचारणीय यह है कि वह स्वराज्य कहीं रसातल में ले जाने वाला तो सिद्ध न होगा।" पंजाब के लैफ़्टिनेण्ट गवर्नर इबिट्सन के स्मारक बनाने का जब आंदोलन उठाया गया था, तब आप ने रायबहादुरान लालचन्द, मोहनलाल, ईश्वरदास के नाम देते हुए लिखा था "क्या राय-बहादुरान इबिट्सन साहब के इसलिये कृतज्ञ हैं कि उन्होंने उनके आर्य भाई लाजपतराय को बिना अपराध देश-निकाला दिया था? सम्भव है रायबहादुर भक्त नारायणदास ऐम० ए० भी इस शुभ कार्य में दिल खोल कर चन्दा दें। मैं उनसे पूछूंगा कि क्या यह ठीक नहीं है कि आप गुजरांवाला की डिपुटी-कमिश्नरी करते हुए इबिट्सन साहब के धमकाने पर ही आर्य-समाजों के अधिवेशनों में न जाते थे? यह सच है कि वर्तमान अवस्था में रायबहादुरों को लाट साहबों की खुशामद करनी पड़ती है, किंतु खुशामद की कहीं हद भी होनी चाहिये।" कभी मद्रास में कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष होने वाले मि० नार्टन जब बंगाल में क्रांतिकारियों के प्रतिकूल सरकार की ओर से वकील हुए थे, तब उनके इस कृत्य की आपने घोर निन्दा की थी और सरकारी गवाह बनने वाले गोसाईं नरेन्द्रनाथ को 'महा अधम विश्वासघातक' लिखा था। महाराज दरभंगा ने अपने जन्म-दिन पर २॥ लाख रुपया बंगाल-सरकार को कलकत्ता-विश्वविद्यालय

के पुस्तकालय के लिये भवन बनाने को दिया था। उस पर आप ने लिखा था—"महाराजा सनातनधर्म-महामण्डल के प्रधान हैं। महामण्डल के मन्त्री ने एक ब्रह्मचर्याश्रम खोलने के लिये अपील कई वर्षों से निकाल छोड़ी है। क्या उसके लिये दान उपयोगी न था ?.........यह सिद्ध है कि वाममार्गी महाराजा साहब दरभंगा सनातनधर्म-महामण्डल के प्रधान पद पर धार्मिक विचार से नहीं, प्रत्युत किसी अन्य विचार से ही सुशोभित हो रहे हैं।"

राजभक्तिपूर्ण विचारों के बाद ऊपर के इन विचारों को पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रनायक की राजभक्ति में सचाई थी, किन्तु चापलूसी या खुशामद लेशमात्र भी नहीं थी। यदि राजभक्ति के साथ कुछ था तो वह देशभक्ति ही थी, किन्तु आपका देशभक्ति का दृष्टिकोण भी कुछ दूसरा ही था। न वह लोकमान्य के साथ मिलता था और न गोखले के साथ, न वह कांग्रेस के साथ मिलता था और न नेशनल सोशियल कानफरेंस के साथ। आप स्वभाव से ही पूर्णरूपेण धार्मिक, सरल, सत्यप्रेमी और अहिंसावादी थे। इस लिये कुटिल राजनीति से आपको बहुत घृणा थी। पुरानी कांग्रेस में कभी दर्शक और कभी प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित होते हुए भी आप उसके साथ तन्मय नहीं हुए, अपितु उससे दूर ही दूर होते चले गये। आपके इस स्वभाव को प्रगट करने के लिये भी दो-एक

उद्धरण यहां देने आवश्यक हैं। सन् १९०७ में कांग्रेस के डेपूटेशन पर लाला लाजपत, गोखले और सुरेन्द्र बाबू जब विलायत गये थे, तब आपने लिखा था—"इन डेपूटेशनों से तरक्क़ी की आशा रखना हानिकारक है। मेरी अपनी राय यह है कि इस धन और समय को व्यर्थ न खोकर हिन्दुस्तान के एक-एक व्यक्ति को अपना चरित्र और आगामी सन्तति के चरित्र को सुधारने में लग जाना चाहिये।" स्वदेशी की आड़ में पाप करने से बचने के लिये अपील करते हुए आपने लिखा था—"मुक़ाबला स्वदेशी पाप तथा विलायती पाप का नहीं होना चाहिये; प्रत्युत पाप का सर्वथा त्याग करना ही सच्ची स्वदेशी स्पिरिट है।" दो कांग्रेसी वकीलोंके विलायती शराब पीकर वेश्याओं के यहां जाने की घटना को देते हुए आपने लिखा था—"उनसे किसी भले आदमी ने कहा—'लाला जी, आप तो कांग्रेस के भूषण हो, यह निन्दनीय कर्म क्या कर रहे हो?' पोलिटिकल पहलवान ने लड़खड़ाती वाणी में गालियां देते हुए कहा—'अरे······खड़े तो हम······ स्वदेशी वेश्या के दर पर हैं।' यदि स्वदेश से मतलब पवित्र आर्यावर्त भूमि है तो ऐसे पुलिटिकल लोगों के प्रेम से उसकी सुरक्षा की आवश्यकता है। इस भूमि में इन्द्रियों पर विजय पाकर आत्मा के स्वतन्त्र होने का नाम स्वराज्य प्राप्ति था। आज अपने वृद्धों की पगड़ियां उछालना ही स्वराज्य का आदर्श समझा जाता है।" सूरत में कांग्रेस में जो फूट पैदा हुई थी,

उसके लिये सचमुच आंसू बहाते हुए आपने लिखा था—"आज तुम्हारी अपनी इन्द्रियां तुम्हारे अपने वश में नहीं, जब अपने मन पर तुम्हारा कुछ अधिकार नहीं, तब तुम दूसरों से क्या अधिकार प्राप्त कर सकते हो? अधिकार! अधिकार!! अधिकार!!! हा! तुमने किस गिरे हुए शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त की थी? क्या तुमने 'कर्तव्य' कभी नहीं सुना? क्या तुम धर्म शब्द से अनभिज्ञ हो? मातृभूमि में अधिकार का क्या काम? यहां धर्म ही आश्रय दे सकता है। अधिकार शब्द से 'सकामता' की गन्ध आती है। विषयवासना का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। इस 'अधिकार' की वासना को अपने हृदय से नोच कर फेंक दो। निष्काम-भाव से धर्म का सेवन करो। माता पर जब चारों ओर से प्रहार हो रहे हों, जब उसके केश पकड़ कर दुष्ट दुःशासन उसको भूमि पर घसीट रहा हो, क्या वह समय अधिकार की पुकार मचाने का है?............शब्दों पर क्यों झगड़ा करते हो? क्यों न स्वराज्य प्राप्ति के साधनों को सिद्ध करने में लगो? स्वराज्य के प्रकार का झगड़ा आने वाली सन्तानों के लिये छोड़ो। उनकी स्वतन्त्रता पर इस समय इन झगड़ों से ज़ंजीरें डालना अधर्म है। इस समय दोनों छल-कपट से काम ले रहे हैं। जिस कांग्रेस का आधार अधर्म पर है, उसका प्राप्त कराया हुआ स्वराज्य कभी भी फलदायक न होगा, कभी भी सुख तथा शान्ति का राज्य फैलाने वाला न होगा।......एक ऐसे धार्मिक

दल की आवश्यकता है जो विरोधी को धोखा देना भी वैसा ही पाप समझता हो जैसा कि अपने भाई को, जो सरकारी अत्याचारों को प्रगट करते हुए अपने भाइयों की दुष्टता तथा उनके अत्याचारों को भी न छिपाने वाला हो, जो मौत के भय से भी न्याय के पथ को छोड़ने का विचार तक मन में न लाने वाला हो। पुलिटिकल-जगत् में ऐसे ही अग्रणी की आवश्यकता है। क्या कोई महात्मा आगे आने का साहस करेगा और क्या उसके पीछे चलने वाले पांच पुरुष भी निकलेंगे ? यदि इतना भी नहीं हो सकता तो स्वराज्य प्राप्ति के प्रोग्राम को पचास वर्षों के लिये तह करके रख दो।" इतना लम्बा उद्धरण यहां इसी लिये दिया गया है कि चरित्रनायक की राजनीतिक-आत्मा का यथार्थ चित्र इसमें अंकित है। ऐसे ही एक दूसरे लेख में आपने लिखा था—"यदि अग्नि और खड्ग की धार पर चलने वाले दस पागल आर्य भी निकल आवें तो राजा और प्रजा दोनों को होश में ला सकते हैं। .... भगवन ! आर्य-समाजियों की आंखें जाने कब खुलेंगी ?" इसी दृष्टि से आप नरम-दल वालों के लिये 'भिक्षार्थी', गरम-दल वालों के लिये 'सुखार्थी' और सरकार के लिये 'गोराशाही' शब्दों का प्रयोग किया करते थे।

ये विचार सम्वत् १९६४-६५, सन् १९०७-८, में प्रगट किये गये थे। जिस अग्रणी या महात्मा के आगे आने की

आवश्यकता ऊपर के विचारों में कही गई थी, गांधीजी ने उसको पूरा किया और गांधी जी का व्यक्तित्व ही स्वामी जी को 'राजद्रोही-सत्याग्रही' के रूप में देश के सार्वजनिक-राजनीतिक-जीवन में ऐसे खींच लाया, मानो कि वे गुरुकुल-कांगड़ी से देहली रहने को इसी काम के लिये आये थे।

(ख) राजद्रोही–सत्याग्रही

न केवल आप के विचार किन्तु आप की वृत्ति भी बहुत कुछ महात्मा गांधी के साथ मिलती थी। उस पारस्परिक आकर्षण को पैदा करने वाली अनुकूल परिस्थिति भी आप ही पैदा हो गई। यूरोप के महायुद्ध की सेवाओं का पुरस्कार पाने की आशा में बैठे हुए देश को रॉलेट एक्ट का पुरस्कार प्राप्त हुआ। देश में भयंकर और ठोस आंदोलन उठ खड़ा हुआ। प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व और आप के तत्वावधान में निकलने वाले देहली के दैनिक 'विजय' ने उस आंदोलन में अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी। कौंसिल में प्रायः सभी भारतीय सदस्यों ने एक्ट के विरोध का निश्चय किया और कौंसिल से उठ आने तक का भी विचार पक्का कर लिया। माननीय श्रीनिवास शास्त्री विरोध में ज़ोरदार भाषण देने पर भी उठ आने से सहमत नहीं हुए। मालवीय जी स्वामी जी के

पास आये कि वे शास्त्री जी को भी उस के लिये तय्यार करें। शास्त्री जी के यहां पहुंचते ही वे महात्मा गांधी की सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की ओर संकेत करते हुए बोले—"क्या आप ने अपने महात्मा का नया रंग देखा है? लीजिये, इस को पढ़िये। मुझ को ज़रूर इस का विरोध करना होगा।" स्वामी जी ने केवल उस के ऊपर का हिस्सा पढ़ कर शास्त्री जी से कहा—"मानवीय अधिकारों की रक्षा का यह पहिला सिद्धान्त है। मैं स्वयं इस पर हस्ताक्षर करने को तय्यार हूं। क्या उस को प्रकाशित करने से पहिले उन्होंने आप में से किसी से सलाह नहीं की?" आप ने शास्त्री जी से यह भी कहा--"क्यों आप ऐसे कार्य का व्यर्थ में विरोध करते हैं, जिस की ज़िम्मेवारी आप पर नहीं है। यदि आप गांधी जी से सहमत नहीं हैं तो आंदोलन में उन का साथ मत दीजिये।" शास्त्री जी ने जब एक न मानी और यही जवाब दिया कि—'मैं तो विरोध करूंगा ही', तब स्वामी जी ने उठते हुए कहा—'तो फिर मैं भी तुरन्त महात्मा जी को तार देता हूं कि रौलेट-एक्ट के प्रतिकूल सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर मैंने भी हस्ताक्षर कर दिये हैं।' निवास-स्थान पर वापिस आते ही आपने महात्मा जी को तार दिया— 'अभी अभी सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर किये हैं। इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने में मैं बहुत प्रसन्न हूं।" इस तार के 'धर्मयुद्ध' शब्द से भी स्वामी जी की मनोवृत्ति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता

है। देहली से यह तार गांधी जी के पास जा रहा था और गांधी जी देहली की ओर आ रहे थे।

देहली में दोनों भाइयों में दिल खोल कर बातें हुईं। स्वामी जी ने महात्मा जी के सामने अपना यह कार्यक्रम उपस्थित किया कि पंचायती अदालतें स्थापित कर के सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाय। अक्तूबर सन १६१६ तक भारत में दस ज़िले तय्यार किये जायं, जो एक साथ भूमि का लगान देना बन्द कर दें। आप ने पञ्जाब के पांच ज़िलों को तय्यार करने का भार स्वीकार करते हुए गुजरात के पांच ज़िलों को तय्यार करने का काम गांधी जी को स्वयं करने को कहा। महात्मा जी देश भर के सत्याग्रह के संचालन का काम बम्बई की कमेटी के आधीन रखना चाहते थे। स्वामी जी का मत था कि स्थानीय कमेटियों को भी कुछ स्वाधीनता दी जानी चाहिये। महात्मा जी ने इस पर हंसते हुए एक ही बात कही—"भाई साहब! आप देखेंगे कि सत्याग्रह के संचालन में मैं पूर्णतया तज्ज्ञ हूं और मैं जानता हूं कि मुझे क्या करना चाहिये।" स्वामी जी ने महात्मा जी की बात को मान लिया। देहली में ७ मार्च सन् १६१६ को सत्याग्रह की तय्यारी के लिये पहिली सार्वजनिक-सभा हुई। १८ हज़ार की उपस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द जी पहिली बार राजनीतिक-मंच पर खड़े हुए। आपने सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए लोगों को बताया कि

यह आंदोलन राजनीतिक की अपेक्षा अधिक धार्मिक है। देहली के पंडित रामचन्द्र जी महोपदेशक सरीखे कट्टर आर्यसमाजी भी स्वामी जी के प्रभाव से राजनीति की ओर खिंच आये। प्रायः समस्त देश के आर्यसमाजियों पर स्वामी जी के राजनीतिक-क्षेत्र में प्रवेश करने का अच्छा असर पड़ा। गुरुकुल-कांगड़ी के लिये शिल्प-शिक्षा-सम्बन्धी योजना बनाने का काम आपने पहिले ही से हाथ में लिया हुआ था। उसके लिये ही आप बड़ोदा और बम्बई की ओर गये, किंतु बम्बई की सत्याग्रह-कमेटी ने आप से अपने आंदोलन का काम भी करा लिया। इसी कारण आप बंगलौर, मद्रास और बंगाल की यात्रा पर नहीं जा सके। बम्बई में आपके पांच व्याख्यान सत्याग्रह पर ही हुए। सूरत में १७-१८ मार्च को दो व्याख्यान हुए। भड़ौच में भी १९ को व्याख्यान के लिये ही ठहरना पड़ा। २० को अहमदाबाद में वहां के मज़दूरों और मिल-मालिकों की आपस की सुलह के वार्षिक समारोह में आप सम्मिलित हुए, जिसमें ५० हज़ार की जनता में आपका भाषण हुआ। शाम को १५ हज़ार की उपस्थिति में सत्याग्रह पर दूसरा भाषण हुआ। यही वह भाषण था जिसने वायसराय चैम्सफ़ोर्ड को भी घबराहट में डाल दिया था और उसने भारत-सचिव मि० माण्टेगू को विशेष तार भेज कर स्वामी जी के गांधी जी के साथ मिल जाने की शिकायत की थी। उस तार का आशय यह था—"आंदोलन तेज़ी

पर है। महात्मा मुन्शीराम जिसने अब स्वामी श्रद्धानन्द नाम रख लिया है, गांधी के साथ इस आंदोलन में एक होगया है। वह बहुत पुराना धार्मिक नेता है और समाज-सुधार के नाते भी उसने बहुत नाम पैदा किया है। अब मालूम होता है कि राजनीतिक-आंदोलक के नाते भी वह नाम पैदा करना चाहता है। कष्ट-सहन करने का जब समय आयगा तब मालूम होगा कि उसमें सहन करने की कितनी शक्ति है ? उसका बड़ा पुत्र ब्यूनो एरिए में कभी सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी..........का मेहमान था। उसका छोटा लड़का देहली से सरकार-विरोधी देशी-भाषा का गरम दैनिक-पत्र निकाल रहा है, देखें, क्या होता है ?" ब्यूनो एरिए दक्षिण अमेरिका के एक प्रजातन्त्र राज्य की राजधानी है। बड़े लड़के से तात्पर्य पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, छोटे से पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति और पत्र से 'विजय' का है। इस तार की नक़ल कोई उड़ती हुई सरकारी चिड़िया स्वामी जी के हाथ में दे गई थी। स्वामी जी ने उसको महात्मा गांधी को भी दिखाया था।

२२ को देहली आकर आपने देखा कि देहली सोया पड़ा है। आप के पीछे न कोई सभा हुई थी, न कुछ आंदोलन और न प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर ही करवाये गये थे। ता० २४, २७ और २६ मार्च को सभायें हुईं! तीनों में आप के ज़ोरदार भाषण हुए। ता० २६ की सभा में ता० ३० की हडताल का

ऐलान किया जाना था। यह हड़ताल ३० मार्च को रौलट एक्ट के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में होने वाली थी।

३० मार्च का दिन शुभ लक्षणों के साथ प्रारम्भ हुआ। प्रातः काल उठते ही चारों ओर हड़ताल के दृश्य दिखलाई दिये। सब बाजार एकदम बन्द थे। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या सिख और क्या जैनी सबने एकदम हड़ताल कर दी। नौ बजे तक शहर में बिलकुल शांति रही, फिर तरह-तरह के क्षोभजनक समाचार फैलने लगे। एक समाचार यह फैला कि हौज काजी के पास कुछ लड़कों ने एक मोटर को रोककर सवारों को नीचे उतरने को कहा। दैवयोग से उन सवारों में पुलिस के कप्तान भी थे, उन्होंने आव देखा न ताव सीटी बजाते हुए झट से पुलिस को बुला लिया। पुलिस ने आते ही डण्डा बरसाना शुरू कर दिया। इस पर भीड़ बिखर गई, जिसके पश्चात् पुलिस ने दो आदमियों को गिरफ्तार कर कोतवाली में भिजवा दिया। थोड़ी देर में चार-पाँच हजार आदमी इकट्ठे हो गये। लोगों ने इन बेकसूर आदमियों को छोड़ देने का आग्रह किया। इधर यह बातचीत हो रही थी और उधर किले से मशीनगनों के साथ गोरों का रिसाला आ पहुँचा। हथियारबन्द पुलिस वहाँ पहले ही विद्यमान थी, लेकिन लोग डरे नहीं। कहते हैं कि चौदह साल का एक बालक कूदकर मशीनगन पर चढ़ गया और निर्भयता का उपदेश देने लगा। पुलिस ने उसे खींचकर नीचे उतारा। इस समय अकस्मात सिपाहियों ने पहले भीड़ पर संगीनों का वार

किया और फिर गोली चला दी।

संगीनों एवं गोलियों ने कितने लोगों को घायल किया, इसके बारे में एक मत नहीं हो सका। दर्शकों की सम्मति थी कि सत्ताईस के लगभग लोग घायल हुए जिसमें से दो वहीं मर गये। लाशों और घायलों को घसीट कर सिपाही कम्पनी बाग में ले गये। उधर अफवाह फैल गई कि कम्पनी बाग में सैकड़ों लाशें पड़ी हैं। अब चाँदनी चौक में इकट्ठे लोग बाग के सामने वाले द्वार पर जमा हो गये तथा लाशों की माँगें करने लगे। पुलिस ने दूसरी बार फिर गोली चला दी, जिससे कम से कम दस आदमी घायल हो गये। इस प्रकार भारत के इस नवीन अभ्युत्थान का श्रीगणेश रक्तपात से हुआ। इस रक्तपात में हिन्दुओं का रक्त भी था तथा मुसलमानों का भी। कुर्बानी के इस अनूठे उदाहरण ने बूढ़ी दिल्ली में जवानी का खून भर दिया।

उधर स्वामी जी के आगे-पीछे बीस-पच्चीस हजार की भीड़ 'भारत माता की जय! हिन्दू-मुसलमान की जय' के नारे लगाती हुई चली। उनके पीछे कई मशीनगनें और घुड़सवार सिपाही पहरा देते हुए चले जा रहे थे। जब जनसमुदाय घण्टा घर पहुँचा तो देखा, गोरखा सिपाही लाइन बाँधे खड़े हैं, पर जनता में से न तो कोई भयभीत हुआ तथा न ही किसी ने दिल्ली के नाम को कलंकित करने वाला ऐसा कोई कार्य किया।

उधर सिपाहियों ने संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'हट जाओ नहीं तो हम छेद देंगे।' स्वामी जी एक कदम

और बढ़ गये। संगीन स्वामी जी की छाती को छू रही थी। उन्होंने गरजते हुए कहा, 'मारो गोली।' यह दृश्य शायद मिनट भर रहा होगा। हतप्रभ सिपाहियों ने बन्दूकें नीचे कर लीं तथा स्वामी जी के साथ जुलूस आगे बढ़ गया। हिन्दू-मुसलमानों के इस बलिदान ने चमत्कार दिखलाया और लोग 'हम' शब्द की व्याख्या करने लगे—'ह' से हिन्दू तथा 'म' से मुसलमान। हिन्दू-मुसलमानों की यह एकता अभूतपूर्व थी। ३० मार्च को ही गोली से आहत एक मुसलमान का जनाजा निकालने का निश्चय हुआ।

३१ मार्च को पचास हजार की मातमपुरसी में मुसलमान शहीद का जनाजा निकला। इस शहीद के चरणों में पहली बार स्वामी जी की स्वर्गीय हकीम अजमल खाँ साहब से क्या मुलाकात हुई, हिन्दू और मुसलमान पहली बार गले से गले मिले। बरसों से बिछुड़े हुए एक हृदय के दो टुकड़े फिर एक हुए। शाम को भी वैसे ही पाँच जनाजे और निकले। शहीदों के खून से तैयार हुई भूमि में बिखेरे गये एकता के बीजों का सिंचन आँखों से बहती हुई प्रेम की जलधारा से किया गया। वह कैसा दृश्य था! विमानों पर बैठकर यदि इन्द्रपुरी के देवगण उसको देखने आ सकते तो दोनों हाथों से देहली निवासियों पर पुष्प-वर्षा करते।

४ मार्च को देहली ने एक और सुनहरी तथा भव्य दृश्य उपस्थित कर दिखाया। शाही जामा मस्जिद के मिम्बर पर से

एक आर्य हिन्दु संन्यासी ने "त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अथाते सुम्नयीमहे ।" के वेदमन्त्र द्वारा ईश्वर के माता और पिता के रूप का वर्णन किया और 'ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!' के साथ अपना भाषण समाप्त किया। कई मसजिदों में ऐसे ही दृश्य देखने में आये और कई मन्दिरों में भी मुसलमानों के भाषण होने की अद्भुत घटनायें दीख पड़ने लगीं। शुद्धि तथा संगठन के सन् १९२६ के दिनों में भी स्वामी जी ने लिखा था—"परस्पर मनोमालिन्य की इतनी दुर्घटनायें घट जाने के बाद भी वह अद्भुत दृश्य मेरी आंखों के सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है और मैं इसी आशा पर ज़िन्दा हूं कि आपस के सन्देह की सब घटायें शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायेंगी, धर्म तथा सत्य का सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ फिर उदय होगा और फिर वैसे ही सुवर्णीय दृश्य देखने में आयेंगे।" ता० १८ अप्रैल की रात तक देहली में राम-राज रहा। शहर में एक भी ताला नहीं टूटा, एक भी मारपीट नहीं हुई, एक भी जेब नहीं कतरी गई—और तो क्या जुएख़ाने तथा शराबख़ाने भी बन्द रहे और सब ने देवियों को मां बहन और बेटी समझ कर उन का आदर किया। इस रामराज में सरकार की पुलिस व फ़ौज की कहीं छाया तक देखने में न आती थी। शहर का सब प्रबन्ध जनता के अपने हाथों में था।

इस रामराज के दिनों में स्वामी जी को गुरुकुल के दिनों से भी अधिक मेहनत से काम करना पड़ा। शाम को सात बजे लौट कर आठ बजे भोजन करते, फिर ग्यारह बजे तक कार्यकर्ताओं के साथ सलाह-मशवरा होता और आप को एक-मात्र पंच मानकर फ़ैसले के लिये आये हुए मामलों को निबटाया जाता। ग्यारह बजे बिस्तर पर लेटते। अढ़ाई बजे सवेरे ही उठ कर बैठ जाते। पांच बजे तक नित्य कर्म से निवृत्त होकर शहर में गश्त लगाने निकल पड़ते। दुपहर को बारह बजे पानी या शरबत का एक गिलास लेकर दिन भर निकाल लेते और रात को आठ बजे चौबीस घण्टों में केवल एक बार भोजन करते। सरकारी 'अदालतों में पांच-पांच वर्ष तक फ़ैसला न हुए हुए मामले भी स्वामी जी अथवा हकीम जी द्वारा खड़े खड़े निबटा दिये गये। १६ अप्रैल को देहली की हड़ताल खुली और स्वामी जी को सुस्ताने को कुछ समय मिला। हड़ताल के इन दिनों में किसी-किसी दिन तीन-तीन चार-चार सभाओं में बोलना और घण्टों लोगों के साथ दिमाग़ लड़ाना पड़ता था। पंजाब और सिंध के दौरे पर जाते हुए महात्मा जी को देहली ठहरने का निमन्त्रण भी स्वामी जी ने देहली निवासियों की ओर से दिया था। उस निमन्त्रण को स्वीकार कर महात्मा जी देहली आते हुए पलवल में गिरफ़्तार करके बम्बई वापिस लौटा दिये गये थे। उस दिन भी लोगों को क़ाबू रखना बहुत कठिन

था । देहली की जनता जानती है कि उन दिनों में स्वामी जी ने जिस निर्भीकता, वीरता, साहस, धैर्य, लोकसेवा तथा सच्चे नेतृत्व का परिचय दिया, उसमें देहली के दूसरे नेता पूरे नहीं उतरे। खुफ़िया पुलिस की शरारतों को सफल न होने देना कोई साधारण बात नहीं थी। देहली में पंजाब के मार्शल लॉ की घटनाओं का न होने देना भी स्वामी जी के अनथक परिश्रम का परिणाम था। १९ अप्रैल को बड़े सवेरे दीनबन्धु एण्डरूज़ ने आपके निवास स्थान पर आकर आपको सूचना दी कि यदि आज हड़ताल न खुली तो शहर में फ़ौजी शासन की घोषणा कर दी जायगी। पर, स्वामी जी के परिश्रम के फलस्वरूप उस दिन हड़ताल खोलना पहिले ही तय हो चुका था। हड़ताल खुल गई और नेताओं को नीचा दिखाने की ताक में बैठे हुए अधिकारी हाथ मलते रह गये। देहली के सत्याग्रही शहीदों की यादगार खड़ी करने का आंदोलन उठाया गया। उसके लिये एक कमेटी भी बनाई गई । पर, आपने अपनी ही हिम्मत पर उसके लिये पहिले ही काम शुरू कर दिया था। पाटोदी-हाउस का स्थान ख़रीद कर वहां स्मारक बनाने के लिये एक लाख की प्रतिज्ञा भी स्वर्गीय दानवीर सेठ रग्घूमल जी से ले ली थी। डा० अन्सारी और हकीम अजमल खां आदि तो अंगोरा फ़ण्ड के लिये एक लाख जमा करने में लग गये। स्वामी जी ने इस स्मारक के लिये सब आवश्यक रुपया स्वयं ही शहर में घूम-घूम

कर जमा किया और पाटोदी-हाउस की सब ज़मीन को ख़रीद लिया।

सत्याग्रह के सम्बन्ध में महात्मा जी के साथ आपका कुछ ऐसा तीव्र मतभेद हुआ कि २ मई सन् १९१९ को आपने सत्याग्रह कमेटी से त्याग-पत्र दे दिया। इस मतभेद के कुछ कारण ये थे :—महात्मा जी ने सत्याग्रह बन्द करते हुए गोली चलाये जाने का सब दोष लोगों पर ही डाला था। देहली की ओर से प्रतिवाद करने पर भी महात्मा जी ने अपनी भूल स्वीकार नहीं की। लाला शङ्करलाल पर ख़ुफ़िया पुलिस के फ़क़ीर मुहम्मद को पीटने का झूठा मुक़द्दमा चलाया गया था। महात्मा जी ने सब मामला जाने बिना ही उनको मुक़दमा न लड़ने के लिये तार दे दिया था। बम्बई से छपकर पोस्टरों के रूप में आने वाले सन्देशों में स्थानीय अवस्थाओं का कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता था। देहली में ये पोस्टर कहीं भी न चिपका कर स्वामी जी द्वारा नष्ट करा दिये जाते थे। महात्मा जी का आदेश था कि पुलिस के मांगने पर सत्याग्रह कमेटी के सदस्यों की सूची उसको दे दी जाय। स्वामी जी इससे सहमत नहीं थे। अपने त्याग-पत्र में भी आपने इन बातों की ओर निर्देश किया था और उसमें लिखा था—"मेरी सम्मति में रौलट एक्ट मानवीय स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूलभूत सिद्धांत पर ही कुठाराघात करते हैं और आप मेरी दृष्टि में अपने देश की प्राचीन-

आध्यात्मिक-संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, इसलिये राजनीति से कोई सीधा सम्बन्ध न रखते हुए भी आपकी पुकार पर अपने तन-मन से आप का साथ देना मैंने अपना कर्तव्य समझा। परन्तु देहली तथा अन्य स्थानों पर अधिकारियों के जान बूझ कर जनता को भड़काने और पंजाब में क़ानून तथा व्यवस्था के नाम पर किये गये अत्याचारों पर आपने जो मौन साधा है, उसमें मैं आपका साथ नहीं दे सकता। इस समय भी आपके तथा आपके उच्च चरित्र के लिये मेरे हृदय में बहुत अधिक सम्मान है और आप से मतभेद होने का मुझको हार्दिक खेद है। अन्तरात्मा में मतभेद रखते हुए भी यदि उसको मैं प्रगट नहीं करता और उस के परिणाम को सहन नहीं करता तो मैं अपने प्रति ही मिथ्या व्यवहार करूंगा। संन्यासी की हैसियत से मैं सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य रूपी धर्म के प्रचार में लगा रहूंगा। रौलट एक्ट के सम्बन्ध में मेरी अब भी वही धारणा है और समय आने पर उसकी अवज्ञा करना मैं अपना कर्तव्य समझूंगा। इस समय मैं विशेषरूप में अपने को देश में ऐक्य की स्थापना करने, पंचायतों द्वारा आपस के झगड़े निबटाने, स्वदेशी तथा राष्ट्र भाषा हिंदुस्तानी के प्रचार करने और सरकारी यूनिवर्सिटियों से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा को विकसित करने में लगाना चाहता हूं। अन्त में मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मेरे दिल में आप के लिये प्रेम तथा आशा के भाव वैसे ही विद्यमान हैं, जैसे

पहिले थे और जब आपकी ओर से किसी ऐसे धार्मिक काम के लिये फिर बुलाया जाऊंग, जिसमें मैं आप से सहमत हो सकूं, तो आपके पीछे चल कर क्रिया द्वारा साथ देने में ज़रा भी आगा-पीछा न करूंगा।"

स्वामी जी की ही प्रेरणा से लोकमान्य की बरसी पर देहली में एक पंचायत की स्थापना की गई थी और हकीम साहेब उसके संयोजक बनाये गये थे। इसी बीच में आप की गिरफ़्तारी की बहुत गप्पें सुनाई देने लगीं। यह भी कहा जाने लगा कि आप देहली से बाहर पैर रखते ही गिरफ़्तार कर लिये जायेंगे। ता० ८ जून को इलाहाबाद में कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी की बैठक में अमृतसर में कांग्रेस होने न-होने के सम्बन्ध में विचार होने वाला था। उस के लिये आप को भी वहां बुलाया गया था। वहां आप गये, पर गिरफ़्तारी की अफ़वाहें सच्ची सिद्ध नहीं हुईं।

(ग) पञ्जाब तथा अमृतसर में

हृदय से कांग्रेस आंदोलन के साथ न होते हुए भी आप कांग्रेस की ओर अनजाने ही खिंचते चले गये। इलाहाबाद में आप के ही आग्रह पर कांग्रेस का अमृतसर में होना तय हुआ। सम्भवतः इसीलिये उस के आयोजन का सब भार भी आप के कन्धों पर ही आ पड़ा। दीन, दुखियों और संतप्त

लोगों को संकट में सहायता करना आप का स्वभाव-सा हो गया था। पञ्जाब फ़ौजी-शासन की अन्यायपूर्ण असहनीय चोटों के घावों से घायल हुआ पड़ा था। जलियांवाला बाग़ में सैकड़ों के भाई, पति और बालक डायर की गोलियों के शिकार हो गये थे। कितने ही घरों में मातम छाया हुआ था। अचिंतित आपत्ति के आतंक से प्रांत के लोग चोट खाने के बाद मुंह से आह तक नहीं निकाल सकते थे। अत्याचारपूर्ण उस शासन की गरमी में जब ऊपर आकाश में स्वच्छन्द विचरने वाले परिन्दों के भी पर जलते थे, तब भूमि पर विचरने वाली निःशस्त्र एवं मूक प्रजा का तो कहना ही क्या था? स्वामी जी ने अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के आसन से दिये गये भाषण में मार्शल-लॉ के ख़ूनी शासन का रोमांचकारी चित्र खींचते हुए कहा था—"जिन हकूमत के नशे में चूर मनुष्यों का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उन की समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न वे सत्याग्रह की शान को समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डांवाडोल हो गया। इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दर वाले आत्मा के तेज को दुनियांदार स्वार्थ न सहन कर सका। जिन बहादुर बृटिश जनरलों और गम्भीर नीतिमान ब्रिटिश शासकों ने एक तिहाई दुनियां को जीत कर जर्मन-साम्राज्य की शक्ति ख़ाक में मिला दी थी, उस के योद्धा इस नई शक्ति के उद्भव से दहल गये

और उसी का नतीजा पञ्जाब का घोर उपद्रव है। अराजकता का राज हो गया, मनुष्य की जान का कुछ मूल्य न रहा, जेलख़ाने भर दिये गये, बोलना अपराध हो गया, नंगे चूतड़ों पर कोड़े खाकर चिल्लाना पाप हो गया, इज़्ज़तदारों ने ख़ाली इज़्ज़त बचाने के लिये पुलिसरूपी यमदूतों के घर भर दिये और साध्वी सतियों के लिये अपने सतीत्व की रक्षा कठिन हो गई। जलियांवाला बाग़ की घटना सामने लाओ और जनरल डायर के इस कथन को याद करो—'हां, मैं समझता हूं कि बिना गोली चलाये भी शायद मैं उन को मुन्तशिर कर सकता था।' इस पर प्रश्न हुआ कि फिर आप ने ऐसा ही क्यों न किया? उत्तर मिला—'वे लौट कर मेरी हंसी उड़ाते और मैं बेवक़ूफ़ बनता।' शायद इसी मौक़े के लिये शायर ने कहा था—'किसी की जान जाये आप की अदा ठहरी।' एक बहादुर ब्रिटिश जनरल की शान पर सैंकड़ों युवा, बूढ़े और बालकों के सीस चढ़ जांय तो क्या परवा है, उस की शान में फ़रक़ न आना चाहिये। उन ग्यारह से पन्द्रह वर्ष की विधवाओं का चित्र अपने सामने लाइये, जिन के पति शूली पर चढ़े या भून डाले गये और जिन के उदासीन मुखों के दर्शन-मात्र ने मुझे, नेहरू जी और मालवीय जी को आठ-आठ आंसू रुलाया। एक युवक के नंगे चूतड़ों पर बेतों की मार का हाल सुना कर एक वृद्ध ऐसा रोया कि उस की घिग्घी बंध गई। सिंह पुरुष चौधरी बुग्गा की वीर

रमणी का एक गोरे के हाथ से खींच कर मकान से बाहर लाया जाना केवल एक घटना है। …………नियम के नाम पर विप्लव और शान्ति के नाम पर अत्याचार का राज्य फैल गया। मार्शल-लॉ ने नर-नारी, बाल-वृद्ध और युवा सब को बेजान कर दिया। वैशाख की पवित्र संक्रान्ति के दिन जो रक्त से भूमि लाल हुई, उस के श्रवण मात्र से सब के छक्के छूट गये। हां, उस दिन मार्शल-लॉ का विजय हुआ और शांति फैल गई, परन्तु वह श्मशान-भूमि और क़बरिस्तान की शान्ति थी—वह मौत की शांति थी।"

पञ्जाब की ऐसी अवस्था में उसकी सुध लेने वालों में और आहत पञ्जाब के अधिकांश भाग का पुलिस तथा ख़ुफ़िया-पुलिस की छाया में दौरा करने वालों में वीरवर, निर्भीक और साहसी स्वामी श्रद्धानन्दजी का नाम सबसे पहला है। इलाहाबाद की भारत-सेवा-समिति के, जिसके महामना मालवीयजी स्थिर प्रधान थे, उप-प्रधान होकर आपने पीड़ित और आहत पञ्जाब के अनाथों और विधवाओं को सहायता देने का काम अपने ज़िम्मे लिया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव और व्यक्तिगत अपीलों से सवा लाख से अधिक रुपया इस काम के लिये जमा किया। सहायता के बाद बचा हुआ लगभग एक लाख रुपया समिति को सौंप दिया, जिससे मालवीयजी ने समिति के स्थिर कोष की स्थापना की। जिस काम के लिये समिति के उप-प्रधान

हुए थे, उसको सम्पन्न करने के बाद आप उससे अलग हो गये। सहायता देने का यह काम करते हुए आपने मूर्छित और मृतप्राय पञ्जाब को संजीवनी प्रदान कर फिर से जीवित किया और उसमें पहिले से भी अधिक उत्साह, तेजस्विता तथा नैतिकता का संचार किया। कांग्रेस की उस जांच-कमेटी को, माननीय मोतीलालजी नेहरू जिसके प्रधान और महात्मा गान्धी, देशबन्धु दास और महामना मालवीय जी जिसके सदस्य थे, आपने जो सहायता पहुंचाई उसको खोल कर लिखने की आवश्यकता नहीं। गुप्त कागज़-पत्र और चोरी से लिये हुए चित्र पूरे विश्वास के साथ बिलकुल निःसंकोच होकर लोग आपको ला देते थे और आपके पास आकर भीतर के भेद भी खोल जाते थे। जहां से साक्षियां मिलनी कठिन होती थीं, वहां आपके पहुंचते ही लोग निर्भय हो जाते थे। बात तो यह थी कि पंजाब आपका अपना प्रदेश था। वहां के लोगों के हृदयों पर आप कोई आधी शताब्दि पहिले से ही अधिकार किये हुए थे। आपके प्रेम, सचाई और सहृदयता की उन पर छाप लगी हुई थी। कांग्रेस की जांच-रिपोर्ट पर आपका नाम तो नहीं है, किन्तु वह आपका ही किया-कराया हुआ सब काम है।

दुखी, पीड़ित, सन्तप्त तथा आहत पंजाब में और वहां भी उस अमृतसर शहर में, जिसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग छिदा हुआ था, उस वर्ष कांग्रेस के अधिवेशन के होने की कोई कल्पना भी नहीं कर

सकता था। सरकारी लोगों के विरोध को विफल बना कर सब नेताओं को भी आपने अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने को मना लिया, किन्तु आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के उस वर्ष के प्रधान महामना मालवीयजी को मनाना कठिन हो गया। आपने अपने भाई एण्डरूज़ को मालवीयजी के पास केवल उनको मनाने के लिये भेजा। पर, वे नहीं माने। फिर आप स्वयं मालवीयजी से मिले। मालवीयजी इस शर्त पर अमृतसर में कांग्रेस होने देने को सहमत हुए कि दूसरे नेताओं और प्रान्तों से किसी प्रकार की भी सहायता की अपेक्षा नहीं रखनी होगी। आपने सब ज़िम्मेवारी अपने पर ले ली। अब प्रश्न यह था कि स्वागत-समिति का अध्यक्ष कौन हो? स्वामीजी को जिन अवस्थाओं में इस ज़िम्मेवारी को भी अपने ही कन्धों पर उठाने के लिये वाधित होना पड़ा था, उनका उल्लेख अपने भाषण में करते हुए आपने कहा था—"पहिला कारण मेरे लिये इस वेदी पर आने का यह है कि पंजाब में जिन रत्नों ने भारतमाता के उज्ज्वल माथे को दाग़ से बचाने के लिये फांसी तथा जन्म-क़ैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए भी रहम की दरख़ास्त को पाप समझ कर क़ैदख़ाने को काशी और क़ाबे का रुतबा दिलाया—हरकिशनलाल, दुनीचन्द, रामभजदत्त, किचलू, सत्य-पाल—उन्होंने अपनी भरी सभा से मुझको आज्ञा भेजी कि मैं स्वागतकारिणी का सभापति बनूं। फिर मैंने जेल के ख़ूनी पिंजरों

से श्रद्धा-सम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो से सिंह-पुरुषों की भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ वीरों की धर्मपत्नियों ने यह कहते हुए कि 'बन्दी-गृहों में घिरे हुए हमारे पति-महाशयों की आत्मा तभी शान्त होंगी, जब कांग्रेस का महोत्सव न टले'—भिक्षु संन्यासी से भिक्षा मांगी तो उसे मातृशक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा। यह पहिला कारण मेरे इस वेदी पर आने का है। दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्तव्य है। सनातन वैदिक-धर्म की रक्षा के लिये जो सम्प्रदाय (सनातन-धर्म समाज, आर्यसमाज और अन्य सभा-समाज) भारतवर्ष में स्थापित हैं, उनका प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध ? मेरा उत्तर—"वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ वर्षों की उमर तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूं, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फँसू नहीं।" भाषण में बताये गये इन कारणों के अलावा एक कारण और भी था। देवियों के डेपुटेशन के प्रार्थना करने के बाद आपने महात्मा गांधी से भी इस सम्बन्ध में सम्मति मांगी थी। गाँधी जी ने साबरमती से भाद्रपद शुक्ला १० सम्वत् १९७५ को आपको इस आशय का पत्र लिखा था—"भाई साहब ! आपका पत्र मिला। मेरा यह विश्वास है कि जब तक हम लोग धार्मिक भावना से राजनीतिक-क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते, तब तक भारत का सच्चा और वास्तविक अभ्युदय नहीं हो सकता। यदि आप

स्वागत समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिये आपको स्वागत-समिति का सभापति होना ही चाहिये। यही सलाह मैं आप को दे सकता हूं।" इस सलाह ने निर्णय कर दिया। आप ने पहिले ही से अपने ज़िम्मे लिये हुए काम को स्वागत-समिति के सभापति की हैसियत से और भी अधिक उत्साह से शुरू कर दिया। भगवान् को भी, मालूम होता है, आपकी हिम्मत की परीक्षा लेने का यही अच्छा अवसर हाथ आया था। पण्डाल के लिये तय्यार की हुई भूमि बार-बार पानी से भर गई। अमृतसर में कुछ ऐसा मूसलाधार पानी बरसना शुरू हुआ कि अन्य बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद वर्षा ने कल्पनातीत संकट उपस्थित कर दिया। २४ दिसम्बर को, जिस दिन बारह स्पेशल ट्रेनें आने को थीं, सब मेहनत तथा साधन लगा कर पण्डाल खड़ा कर लेने के बाद ऐसी वर्षा हुई, जैसे पिछले चालीस वर्षों में कभी नहीं हुई थी। अमृतसर की गलियों में घुटनों पानी चलने लगा। प्रतिनिधियों के लिये डाली हुई छोलदारियां पानी में तैरने लगीं। शहर में बाढ़ का-सा दृश्य उपस्थित होगया। स्वामी जी शहर में घूमे और एक-एक मुहल्ले में जाकर लोगों से अपील की कि कांग्रेस पर आने वालों के लिये अपने घरों में स्थान खाली करो और अतिथि-सेवा के धर्म का पालन करते हुए अपने शहर की लाज बचाओ। इस

अपील ने शहर में जादू कर दिया। लोग स्टेशन और रास्तों पर जा खड़े हुए। जिसके सामने जो आया, उसको ही वह अपने घर ले गया। घरों में केवल ठहराने का ही प्रबन्ध नहीं किया गया किन्तु भोजनादि की भी सर्वोत्तम व्यवस्था की गई। अमृतसर गये हुए प्रतिनिधि आज तक भी अमृतसर वालों की अतिथि-सेवा को याद करते हैं। इस प्रकार प्राकृतिक और सांसारिक सभी तरह की विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर कांग्रेस के ऐतिहासिक अधिवेशन को सफलता की दृष्टि से भी ऐतिहासिक बनाने में आपने जिस सत्साहस का परिचय दिया, वह कांग्रेस के इतिहास में चिरस्मरणीय होगया।

आप का राष्ट्रभाषा हिन्दी में दिया गया ओजस्वी भाषण भी ऐतिहासिक ही था। एक संन्यासी का भगवे वेश में कांग्रेस के मंच पर से अधिकारयुक्त वाणी से भाषण करना जहां कांग्रेस के इतिहास में पहली महान् घटना थी, वहां इस महान् घटना के अन्तर्गत कई ऐसी छोटी-मोटी महत्त्वपूर्ण घटनायें घट गईं जिन्होंने उस घटना की महानता को और भी अधिक बढ़ा दिया। सोने में सुगन्ध पैदा कर दी। अहमदाबाद में कांग्रेस का जो राष्ट्रीय रूप खिले हुए कमल के रूप में दीख पड़ा, उसका बीज स्वामी जी के हाथों से अमृतसर में ही रोपा गया था। राष्ट्रभाषा हिन्दी को कांग्रेस के मंच पर अधिष्ठित करने के साथ साथ देशवासियों से भिखारियों की सूखी राजनीति

को तिलांजलि देकर कांग्रेस के मंच पर से यह मार्मिक अपील पहली ही बार की गई थी—"यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बन कर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी हों शिक्षक और क़ौमी हो शिक्षा-पद्धति, तब ही क़ौम की ज़रूरतों को पूरा करने वाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आप की सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की ग़ुलाम बनी रहेगी।" त्याग, तपस्या और चरित्रनिर्माण के लिये अपील करते हुए पहिली ही बार कांग्रेस के मंच से यह कहा गया था कि—

"अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधु साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम् ॥"

और पहली ही बार यह कहा गया था—"सब व्यक्ति हमारे भाई हैं, उन में जो दोष घुस जाते हैं वे ही हमारे शत्रु हैं। ओडायर और डायर, जानसन और ओब्रायन ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक ही पिता की तो सब सन्तान हैं। उन के अन्दर क्रोध और असाधुता के जो भाव हैं, वे ही हमारे शत्रु हैं। …………जिस वेदना में से गुज़रने का पञ्जाब को सौभाग्य प्राप्त हुआ है उस का फल यह है कि जाति को 'तप' का गौरव मालूम हो गया। मार्शल-लॉ के दिनों में पता लगा कि पुलिटिकल अधिकारों का शोर मचाने वाले यदि चरित्रहीन हों तो वे

देश को रसातल में ले जाते हैं। इसलिये सब से बढ़कर काम चरित्र-संगठन का है, जिसे जाति को अपने हाथ में लेना चाहिये।"

जो हरिजन आन्दोलन इस समय महात्मा गान्धी सरीखे देवपुरुष की कठोर साधना के बाद देशव्यापी बन रहा है और जिसके लिये उस दिव्य-पुरुष ने अपने प्राणों की बाज़ी लगा दी है, उसके लिये भी कांग्रेस के मंच पर से सबसे पहिली आवाज़ इस ऐतिहासिक भाषण में ही उठाई गई थी। उसमें कहा गया था—"लण्डन नगर में भारत की रिफार्म-स्कीम-कमेटी के सामने ईसाई-मुक्ति-फौज के बूथ टकर साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छः करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहियें और उसके लिये हेतु दिया था—'क्योंकि वे भारत में बृटिश गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लंगर हैं।' इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिये और सोचिये कि किस प्रकार आपके साढ़े छः करोड़ भाई, आपके जिगर के टुकड़े, जिन्हें आपने काट कर फेंक दिया है, किस प्रकार भारतमाता के साढ़े छः करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज़ के लंगर बन सकते हैं। मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूंगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेमजल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि—'आज से वे साढ़े छः करोड़ हमारे लिये अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियां

और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे। उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे। हमारे स्वतन्त्रता प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे।' हे देवियो और सज्जन पुरुषो! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रकार के मौलिक विचारों से भरे हुए उस भाषण में विदेशी खान-पान, विदेशी वस्त्र-भूषा और विदेशी भोगमय जीवन को तिलांजलि देने की भी ज़ोरदार अपील पहली ही बार कांग्रेस के मंच पर से की गई थी।

स्वामी जी द्वारा जिन धार्मिक भावों का समावेश गांधी जी कांग्रेस में कराना चाहते थे, उन भावों से वह भाषण अथ से इति तक भरा हुआ था। महात्मा गांधी ने 'यंग इण्डिया' में उस ऐतिहासिक भाषण के सम्बन्ध में लिखा था—"स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण उच्चता, पवित्रता, गम्भीरता और सचाई का नमूना था। वक्ता के व्यक्तित्व की छाप उस में आदि से अन्त तक लगी हुई थी। मनुष्य-मात्र के प्रति उस में सद्भावना प्रगट की गई थी। उन्होंने ठीक ही कहा था कि अंग्रेज़ों को प्रेम से जीतना चाहिये।" कांग्रेस के प्रबन्ध की प्रशंसा करते हुए बम्बई के 'इण्डियन-सोशियल-रिफार्मर' ने लिखा था—"अमृत-

सर-कांग्रेस के सप्ताह में सहसा ही सब को अपनी ओर आकर्षित और अपने व्यक्तित्व से हर किसी को प्रभावित करने वाले महान् व्यक्ति स्वामी श्रद्धानन्द थे, जिन्होंने अपने देश-वासियों के लिये भयानक संकटापन्न अवस्था में उस पवित्र कर्त्तव्य का भार स्वयं ही अपने कन्धों पर उठा लिया था। भारत की पवित्रता के द्योतक काशाय वस्त्रों के वेश में वह विशाल, ओजस्वी तथा प्रतिभाशाली मूर्ति, जिस के चेहरे पर शक्ति तथा तेज चमक रहा था, साधारण से साधारण दर्शक की भी स्वयं सेवा करते हुए और महान् संगठन के छोटे से छोटे कार्य का भी स्वयं निरीक्षण करते हुए यहां-वहां सभी जगह व्यापक दीख पड़ती थी।" न केवल देशवासियों की सेवा के कर्तव्य-पालन में किन्तु भगवान की कठोर परीक्षा में भी स्वामी जी पूरे उतरे। अमृतसर में कांग्रेस की वह महान् सफलता स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व की महान विजय थी।

मांटफोर्ड-सुधार-योजना के लिये मि० मांएटेगू को धन्यवाद देने और उस सुधार-योजना को स्वीकार करने के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, देशबन्धु दास और महामना मालवीय जी आदि नेताओं में इतना अधिक मतभेद था कि कभी-कभी अमृतसर में भी सूरत का दृश्य उपस्थित होने का भय दीखने लगता था। अमृतसर में सूरत के इतिहास की

पुनरावृत्ति न होने देने में भी स्वामी जी का बहुत अधिक हाथ था। नेताओं को एक मार्ग पर लाकर कांग्रेस के अधिवेशन की सफलता द्वारा आप ने न केवल पञ्जाब का ही मस्तक ऊंचा किया, किन्तु समस्त देश का ही माथा गौरव के साथ ऊंचा कर दिया और बता दिया कि राजनीतिक-क्षेत्र में भी आप क्या कुछ कर सकते हैं।

कांग्रेस के बाद एक मास और पीड़ित पञ्जाब की सेवा में निकल गया। कांग्रेस के अपने ऐतिहासिक-भाषण में आपने 'जलियांवाला-बाग़' को 'अमर-बाटिका' का नाम दिया था। वहां शहीदों का स्मारक बना कर उसको वस्तुतः 'अमर-बाटिका' बनाने का विचार किया गया। आपने देहली के 'पटौदी हाउस' के समान वहां की सब भूमि को खरीदने का प्रस्ताव किया। उस प्रस्ताव को पूरा करने के लिये चन्दा आदि जमा करने के यत्नों में अन्य नेताओं के साथ पूरा हाथ बटाया। जबतक सब भूमि खरीद न ली गई, तब तक आप को सन्तोष नहीं हुआ और जब तक उस की योग्य व्यवस्था नहीं कर दी गई, तब तक आप नेताओं विशेषतः महात्मा जी के साथ बराबर पत्र-व्यवहार करते रहे।

अमृतसर की कहानी पूरी करने से पहिले एक और घटना का यहां उल्लेख कर देना आवश्यक है। पञ्जाब के फ़ौजी-शासन की ज्यादतियों के सम्बन्ध में जांच करने के लिये

सरकार की ओर से लार्ड हण्टर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई थी। कांग्रेस ने उस कमेटी का बहिष्कार नहीं किया था। लार्ड हण्टर ने गांधी जी से पूछा—"आप के लेफ़्टीनेण्ट स्वामी श्रद्धानन्द ने क्या आप के सत्याग्रह को दूषित समझ कर आप से सम्बन्ध तोड़ लिया था?" महात्मा जी ने उत्तर दिया—"लैफ्टिनैण्ट न कहिये, मेरे सहयोगी कहिये। स्वामी श्रद्धानन्द ने मेरे सत्याग्रह को दूषित नहीं समझा था, प्रत्युत वे मुझ से भी कुछ आगे जाना चाहते थे और मैं उन के साथ आगे नहीं बढ़ सकता था।" इस प्रश्न के पूछने में लार्ड हण्टर का भाव शुद्ध नहीं था, परन्तु महात्मा जी के उत्तर से स्वामी की उग्र और प्रगतिशील वृत्ति का परिचय मिलता है।

फरवरी १९२० में आप को गुरुकुल-कांगड़ी जाने के लिये विवश किया गया। गुरुकुल जाने और उस से फिर अलग होने का उल्लेख गुरुकुल के प्रकरण में किया जायगा। अक्तूबर सन् १९२१ में गुरुकुल से अलग होने के बाद की जीवन-कथा का आरम्भ असहयोग आन्दोलन से होता है।

(ख) असहयोग के मैदान में

गुरुकुल चले जाने के बाद आप ने सब से पहला यत्न गुरुकुल के स्थिर-कोष को पूरा करने का किया। इसी उद्देश्य

से जब आप कलकत्ता गये हुए थे, तब वहां कांग्रेस का विशेष अधिवेशन स्वर्गीय लाला लाजपतराय जी की अध्यक्षता में हुआ था। उस में भी आप सम्मिलित हुए थे और आप ने अछूतोद्धार-सम्बन्धी एक प्रस्ताव विषय-नियामक-समिति में उपस्थित करने के लिये स्वागत-समिति के पास भेजा था। प्रस्ताव को अनावश्यक समझ कर विषय-नियामक-समिति में भी उपस्थित नहीं होने दिया गया। महात्मा गांधी के असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव की धूम थी। गांधी जी समेत यदि देश के उस समय के सौ नेता मान लिये जांय, तो निन्यानवे उस के प्रतिकूल थे। स्वामी जी ने विषय-नियामक-समिति में महात्मा जी का पूरा साथ दिया था, किन्तु खुले अधिवेशन में 'डिवीज़न' होने पर भी आप तटस्थ रहे थे। इस का कारण यह था कि नेताओं ने महात्मा जी को नीचा दिखाने के लिये मुख्य प्रस्ताव में धींगा-धींगी से 'सब विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार' को भी शामिल कर दिया था। महात्मा जी अहिंसा की दृष्टि से बहिष्कार के प्रतिकूल थे। स्वामी जी भी ऐसे बहिष्कार को व्यावहारिक नहीं मानते थे, इसलिये वे उस के विरुद्ध थे। खुले अधिवेशन में महात्मा जी ने बहिष्कारवादी नेताओं के साथ समझौता कर के उन की बात मान ली थी। विषय-नियामक-समिति की इस धींगा-धींगी की कथा और समझौते का हेतु स्वामी जी जब अपने भाषण में बताने लगे, तब सभापति ने

आप को बोलने से रोक दिया। स्वामी जी मंच पर से तुरन्त अपनी जगह लौट आये और जनता के आग्रह पर भी आप ने सभापति की आज्ञा की अवज्ञा नहीं की। जिस अनुशासन का देश के सार्वजनिक-जीवन में प्रायः अभाव है, उसके पालन का वह एक ही दृश्य था। कलकत्ता के बाद महात्मा जी जब मद्रास के दौरे पर गये, तब आप को अछूतोद्धार का इतना महत्व मालूम हुआ कि कांग्रेस के नागपुर के अधिवेशन में बारह मास में स्वराज्य प्राप्त करने की शर्तों में अछूतोद्धार का भी समावेश किया गया। नागपुर-कांग्रेस में भी स्वामीजी सम्मिलित हुए थे और वहां से ऐसे बीमार होकर लौटे थे कि तीन मास लगातार बिस्तर पर ही पड़े रहे थे। बिस्तर पर पड़े हुए भी आप प्रति-दिन दो घण्टा भारत के लिये स्वराज्य-प्राप्ति की प्रार्थना करने में बिताया करते थे। बिस्तर से उठते ही आप अप्रैल सन् १९२१ के मध्य में पं० मोतीलाल जी नेहरू की कन्या के शुभ-विवाह में सम्मिलित होने के लिये इलाहाबाद गये। वहां कांग्रेस के प्रायः सभी नेता पधारे थे। शिमला से महात्मा जी को वायसराय लार्ड रीडिंग से मिलने के लिये मालवीय जी के तार व पत्र आये। दीनबन्धु एण्डरूज भी कुछ ऐसा ही सन्देश लाये थे। महात्मा जी ने इस सम्बन्ध में जब स्वामी जी की सम्मति पूछी, तब आपने कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी की सलाह के बिना जाने का स्पष्ट विरोध किया। पर, महात्मा जी इस सलाह को न मान लने के करमि

लिये चले ही गये। स्वामी जी की दृष्टि में यह बहुत बड़ी भूल थी, जिससे कांग्रेस को लाभ न होकर हानि ही हुई। वेजवाड़ा में आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी में भारतीय राष्ट्र का चरखे वाला तिरङ्गा झण्डा तथा तीन माह में स्वराज्य-प्राप्ति के लिये एक करोड़ सभासदों, एक करोड़ रुपये और बीस लाख चरखों का कार्यक्रम बनाया गया। आप ऐसे कार्यक्रम से सहमत अवश्य थे और ठोस विधायक दृष्टि से ही उसकी आवश्यकता भी स्वीकार करते थे, किंतु स्वराज्य-प्राप्ति के लिये तीन मास या बारह मास की आशायें दिलाने के आप सख़्त विरोधी थे। आपका कहना था कि इस अवधि में स्वराज्य तो मिलेगा नहीं और उसकी प्रतिक्रिया बहुत बुरी होगी। 'श्रद्धा' में भी आपने इस नीति का प्रतिवाद किया था और महात्मा गांधी को पत्र लिख कर भी उनके प्रति अपना भाव प्रगट किया था।

इसी बीच में एक उल्लेखनीय और हलचल पैदा करने वाली घटना और हुई। वह यह थी कि सरकार के उस समय के होम मेम्बर सर विलियम विंसेण्ट ने बार-बार एसेम्बली में यह कहा था कि उसके पास इसका लिखित प्रमाण है कि मौलाना मुहम्मद अली अंगरेज़ों के विरुद्ध क़ाबुल के साथ पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। स्वामी जी को किसी ने यह भी बताया था कि मौलाना का अपने हाथ का लिखा हुआ ऐसा एक पत्र सर तेज बहादुर सप्रू को सरकार की ओर से दिखाया भी गया था। स्वामी जी ने

इस सब विषय को 'श्रद्धा' में प्रकाशित कर सरकार को चैलेंज दिया था कि वह मौलाना के पत्र का ब्लाक बना कर प्रकाशित करे। सरकार को इस चैलेंज को स्वीकार करने का साहस नहीं हुआ।

महात्मा जी का अपने अनुयायियों पर अन्धा विश्वास था। स्वामी जी इससे भी उनको बराबर सावधान करते रहते थे। मुसलमान अपनी ख़िलाफ़त कान्फ्रेंसों में प्रायः कुरान-शरीफ़ की काफ़िरों के प्रति जहाद करने की आयतों को पढ़ा करते थे। स्वामी जी ने उनके सम्बन्ध में गांधी जी को लिखा था—"यह अहिंसा के सिद्धांत के प्रतिकूल है। समय आने पर मुसलमान उन्हीं आयतों का प्रयोग हिंदुओं के प्रतिकूल भी अवश्य करेंगे।" अन्य अवसरों पर भी आप कांग्रेस के नेताओं की हिंसात्मक वृत्ति से महात्मा जी को सावधान करते रहते थे। नागपुर-कांग्रेस की समाप्ति पर बीमारी के बिस्तर पर पड़े हुए भी आपने श्री महादेव भाई देसाई के द्वारा इसी सम्बन्ध में एक सन्देश महात्मा जी को भेजा था। मुसलमानों के हिज़रत करने के विचार से भी आप सहमत नहीं थे। आपने लिखा था—"भिन्न-भिन्न धर्म तथा सम्प्रदाय भी देश में राजनीतिक तथा सामाजिक एकता पैदा करने में बाधक नहीं हो सकते और इकत्तीस करोड़ भारतवासी देश में सच्ची राष्ट्रीयता स्थापित कर सकते हैं। जिस एक केन्द्र में सब इकट्ठा हो सकते हैं —

धर्मी, आर्यसमाजी, ब्राह्म, जैन, बौद्ध, पारसी, मुसल्मान, ईसाई और यहूदी आदि सब अपने-अपने ढंग से पूजा-पाठ करते हुए भी भारतमाता की पूजा में, जन्मभूमि की सभ्यता के नाम पर, एक होकर भ्रातृभाव का सुदृढ़ सैनिक-संगठन पैदा कर सकते हैं।" पहिले प्रबन्ध किये बिना सेना तथा पुलिस आदि की नौकरियों से सब को एक दम हटा लेने के भी आप पक्ष में नहीं थे।

गांधी जी के साथ ऐसे छोटे-मोटे मतभेद रखते हुए भी देश में जो नव-चेतना पैदा होरही थी, उसमें आपको आशा की स्पष्ट रेखा दृष्टिगोचर होरही थी। आपका मन-मयूर देश में पैदा होते हुए नवजीवन के साथ नाच रहा था। गुरुकुल में बैठे रहना आपके लिये सम्भव नहीं रहा। प्रतिनिधि-सभा की पुरानी मण्डली के साथ आपकी फिर भी नहीं पटी। आपने फिर सार्वजनिक-क्षेत्र के मार्ग का ही अवलम्बन करना उचित समझा। प्रतिनिधि-सभा के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को आपने २५ सितम्बर सन् १९२० को लिखा—"इस समय मेरी संम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आंदोलन अकृत कार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न पचास वर्ष पीछे जा पड़ेगा। इसलिये मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊंगा। यदि आप की सम्मति में इस काम में

स्वामी जी की हस्तलिपि

२४ सितम्बर १९२०

गुरुकुल
१० आश्विन, १९७७

श्रीमान् लाला रामकृष्ण जी प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

नमस्ते।

इस समय मेरी सम्मति में "अछूत लोगों" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन असफल हुआ और महात्मा जी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो गया है।

इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लग-
जाऊंगा। यदि आपकी सम्मति में
इस काम में लगने के लिए गुरुकुल को आर्य-
समाज के अन्य कामों से अलग रहना
चाहिए तो जैसा आप तजवीज़
करें तो मैं पत्रिका में छपवा दूंगा। मैं
इस कार्य से उकता नहीं सकता, मुझे
यह काम इस समय सबसे पवित्र लगता
है।

आपका
श्रद्धानन्द

(पृष्ठ ५०६—५०७ में यह पत्र दिया गया है)

लगने के लिये मुझे गुरुकुल या आर्यसमाज के काम से अलग हो जाना चाहिये तो जैसा पत्र आप तजवीज़ करेंगे, मैं पब्लिक में भेज दूंगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता। मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है। "इस प्रकार असहयोग-आंदोलन के लिये ही गुरुकुल छोड़ कर आप सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र में आये। मुलतान में पंजाब-प्रांतिक-राजनीतिक-कांफ्रेंस में आप सम्मिलित हुए। देश में खिलाफ़त-आंदोलन की लहर भी ज़ोरों पर थी। आप भी उससे अलग नहीं रहे। पर, आपकी मनोवृत्ति कुछ दूसरे ही ढंग पर काम कर रही थी। मुलतान से लौटते हुए लाला जी से आप मिले और उनके सामने अपना मन खोल कर रखते हुए आपने अछूतोद्धार की समस्या को सब से अधिक महत्वपूर्ण बताया। लाला जी ने ५०० रु० इस काम के लिये आपको देते हुए अधिक सहायता कांग्रेस-फ़यड में से लेने की सलाह दी। अगस्त में देहली पहुँच कर आपने देखा कि सरकार की ओर से अछूतों को कांग्रेस के मुक़ाबले में खड़ा किया जा रहा था और कांग्रेस के लोग उधर से बिलकुल बे-ख़बर थे। कांग्रेस वालों की उदासीनता से आप इतने खिन्न हुए कि कांग्रेस-फयड में से सहायता लेने का विचार त्याग कर आपने स्वतन्त्ररूप में उस काम को शुरू किया और देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना की। इस सभा की ओर से देहली के चारों ओर के ज़िलों में अछूतों को बेगार

के अन्याय और सरकार के जाल से बचाने का आदर्श कार्य किया गया। इसी समय ९ सितम्बर को महात्मा गान्धी को आप ने एक पत्र लिखा था। उससे पता लगता है कि उस समय आप की मनोवृत्ति किस ढंग पर काम कर रही थी? उस पत्र में आपने लिखा था—"स्वदेशी कपड़े के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु जब तक साढ़े छः करोड़ हमारे पांव तले रोंधी हुई जातियां बृटिश नौकरशाही की शरण ले रही हैं, तब तक स्वदेशी का पूरा प्रचार कैसे होगा? मैं अब अपनी थोड़ी-सी शक्ति हद वाली सीमा में केवल दलित जातियों के उद्धार में लगाना चाहता हूं। मैं नहीं जानता कि साढ़े छः करोड़ उन भाइयों के अलग रहते हुए, जिन्हें अज्ञानवश अछूत समझा जाता है, स्वराज्य अगर मिल भी गया तो हिन्दुस्तानी क़ौम के लिये कैसे हितकर सिद्ध होगा? मैंने वह पत्र यह सूचना देने के लिये लिखा है कि अब कांग्रेस की कारकुन कमेटी (वर्किंग कमेटी) से मैं कोई धन इस काम के लिये नहीं मांग सकता। मैं जितना अपनी अल्पशक्ति से हो सकेगा, उतना ही करूंगा।" नागपुर-कांग्रेस द्वारा निश्चित कार्यक्रम की आलोचना करते हुए इसी पत्र में आपने लिखा था—"मद्रास के ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का झगड़ा आपस में निबटाया नहीं जा सका और दलित जातियों के अपनाने में तो सर्वसाधारण ने एक पग भी आगे नहीं रखा। आपने जो कुछ भी इस अंश में किया वह अत्यन्त सराहनीय

है, परन्तु उसका असर दूसरे असहयोगियों ने दूर कर दिया।"
यह पत्र लिख कर स्वामीजी पूरी तरह दलितोद्धार के काम में लग गये।

३-४-५ नवम्बर सन् १६२१ को देहली में आल-इण्डिया कांग्रेस-कमेटी का अधिवेशन हुआ। सामुदायिक-सत्याग्रह का प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए उसके लिये छूत-छात को पूरी तरह, नहीं तो अस्सी सैकड़ा, दूर करना भी एक आवश्यक शर्त रखी गई। गान्धीजी ने बारडोली तहसील को सामुदायिक सत्याग्रह के लिये तय्यार करने का निश्चय किया। इस अधिवेशन की एक घटना उल्लेखनीय है। महात्माजी ने यह घोषणा की थी कि यदि २१ दिसम्बर सन् १६२१ तक स्वराज्य न प्राप्त हुआ तो मैं हिमालय चला जाऊंगा। सब लोग इसके लिये चिन्तित थे। पर, इस सम्बन्ध में महात्माजी से प्रश्न करना कठिन था। स्वामीजी ने ही प्रश्न किया। गान्धीजी ने उत्तर दिया कि यदि लोगों का स्वराज्यके लिये ऐसा ही उत्साह बना रहा तो मैं हिमालय क्यों जाऊंगा?

आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के बाद ७-८ नवम्बर को हिन्दुओं की एक कान्फरेंस हुई, जिसमें खिलाफ़त के ढंग पर हिन्दुओं में गोरक्षा के नाम पर असहयोग-आन्दोलन को संगठित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ। इस के लिये संगठित की उपसमिति के सभापति स्वामीजी बनाये गये।

१६ नवम्बर को आप देहली से नवसारी गये। वहां गुरुकुल की शाखा खोलने का विचार था। वह काम तो उस समय नहीं हुआ, किन्तु आपने सूपा, सूरत, बारडोली आदि में कई स्थानों का दौरा किया और वहां के राष्ट्रीय स्कूलों का निरीक्षण भी किया। बड़े दुःख के साथ आपने देखा कि किसी भी विद्यालय में अछूतों के बालकों का प्रवेश नहीं था। जिस बारडोली के सत्याग्रह की सब देश में धूम थी, उसमें खादी का तो पूरा साम्राज्य था; किन्तु अस्पृश्यता नाम को भी नहीं दूर हुई थी, यद्यपि सत्याग्रह के लिये वह भी एक आवश्यक शर्त थी। आपको इस अवस्था पर बड़ा दुःख हुआ। स्थानीय कार्यकर्ताओं और जनता का भी आपने इस कमी को ओर ध्यान आकर्षित किया।

यही समय था, जब युवराज के स्वागत के बहिष्कार को दबाने के लिये सरकार की मूर्खतापूर्ण दमननीति ने देश में नया जीवन फूंक दिया था। सत्याग्रह के जिस अवसर को ढूंढ़ते हुए सत्याग्रही निराश हो रहे थे, वह अनायास ही हाथ लग गया। इसी सत्याग्रह की गरमा-गरमी में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस-नगर में स्वामीजी का अपना कैम्प अलग ही था, जहां दर्शनार्थी भक्त लोगों की सदा भीड़ लगी रहती थी। तिलक-नगर की स्वराज्य सरकार की ओर से आप न्यायाधीश नियत किये गये थे। सन्दिग्ध अथवा अपराधी व्यक्ति पकड़ कर आपके सामने लाये जाते थे। आप उससे अपराध

स्वीकार कराकर और फिर वैसा न करने का वायदा लेकर उसको छोड़ देते थे। विषय-नियायक-समिति और आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी के विवादों में भी आपने पूरा भाग लिया। इसी कांग्रेस पर महात्माजी डिक्टेटर नियुक्त किये गये थे और अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार भी उनको दे दिया गया था। स्वामीजी की सम्मति यह थी कि उत्तराधिकारी की नियुक्ति वर्किंग-कमेटी पर छोड़ दी जानी चाहिये। इस और ऐसे अन्य मतभेदों पर भी आपने स्वराज्य की लड़ाई में साथ देने का महात्माजी को पूरा विश्वास दिलाया, क्योंकि आपका यह पूरा विश्वास था कि वर्तमान अवस्थाओं में मातृभूमि का उद्धार उनके आन्दोलन द्वारा ही सम्भव था। लालाजी जेल में थे। इसलिये पञ्जाब के लोग आपको पञ्जाब ले जाना चाहते थे और हकीम जी आपको देहली से हिलने नहीं देना चाहते थे। निर्णय महात्मा जी पर छोड़ा गया और उन्होंने देहली के पक्ष में निर्णय कर दिया। बम्बई, अकोला और अमरावती आदि में 'वैदिक-स्वराज्य का सन्देश' सुनाने के बाद आप २१ जनवरी सन् १९२२ को देहली आ गये। देहली में आपने सत्याग्रह शुरू करने का विचार किया, किन्तु देहली-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी के सभापति डा० अन्सारी सदा यह कह कर आपको रोकते रहे कि पहिले स्वयं-सैनिकों का उपयुक्त संगठन हो जाने दीजिये। डाक्टर साहब का संगठन तो पूरा नहीं हुआ, किंतु देवियों ने स्वामीजी का आशी-

र्वाद प्राप्त कर युवराज के आने पर देहली में हड़ताल कराने की पूरी तय्यारी शुरू कर दी। आपने भी हिन्दू-गोरक्षिणी-उपसमिति के सभापति की हैसियत से आन्दोलन शुरू कर दिया। कांग्रेस के स्थानीय नेताओं की अकर्मण्यता और उदासीनता ने आपको इतना विक्षिप्त कर दिया कि आपका दिल ही उधर से हट गया। आ. .को यह भी शिकायत थी कि देहली ज़िला और प्रान्त की कांग्रेस-कमेटियों के अध्यक्ष युवराज के बहिष्कार के दिनों में सरकार से मिले हुए थे। महात्माजी को देहली की निराशा और दुःख पैदा करने वाली उस स्थिति के सम्बन्ध में आपने एक पत्र भी लिखा था। उसमें अपनी आंतरिक वेदना का उल्लेख करते हुए आपने गान्धीजी को सूचित किया था कि युवराज के आने के बाद १५ या १६ फ़रवरी को मैं देहली से चला जाऊंगा और अपने को आर्यसमाज का इतिहास लिखने में लगा दूंगा। भगवान् ने जिस प्रकार आपको देशवासियों में सत्य, निर्भयता और स्वतन्त्रता की भावना पैदा करने में समर्थ बनाया है, उसी प्रकार वे आपको भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने में समर्थ बनावें—यही मेरी प्रार्थना है।

इधर स्वामीजी देहली से निराश हो रहे थे और उधर सारे देश को गहरी निराशा में डालने वाली चौरीचौरा की दुर्घटना घटने को थी। उस दुर्घटना ने स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग पर सरपट दौड़ते हुए देशवासियों के आशापूर्ण हृदयों पर ऐसी गहरी चोट

की, जिसने उसकी वेगवति प्रगति के प्रवाह को एक दम रोक दिया। स्वामी जी ने इस दुर्घटना पर महात्मा जी को निम्न आशय का तार दिया था—"चौरीचौरा की दुर्घटना बड़ी भयानक है। कृपा कर आक्रामक आंदोलन को रोकें। आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी का अधिवेशन देहली में बुलाकर नया कार्यक्रम निर्धारित करें।" २४-२५ फ़रवरी को देहली में आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी की बैठक बुलाई गई। कई दृष्टियों से अधिवेशन बहुत महत्वपूर्ण हुआ। सत्याग्रह और अहिंसात्मक असहयोग को मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिये मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानते हुए उसके लिये कुछ शर्तें नियत की गईं और प्रांन्तिक-कांग्रेस-कमेटियों को उन शर्तों के पूरा करने पर सत्याग्रह शुरू करने का अधिकार दिया गया। स्वामी जी की सम्मति यह थी कि उन शर्तों के साथ यह भी स्पष्ट कर देना चाहिये कि आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी कांग्रेस के बाहर के लोगों द्वारा किये गये उपद्रव अथवा हिंसा के लिये ज़िम्मेवार न होगी और यदि कोई कांग्रेसवादी ऐसा करेगा तो वह कांग्रेस की सब संस्थाओं से अलग कर दिया जायगा। इसी आशय का संशोधन पेश करने की आपने सूचना भी दी थी। सत्याग्रह के प्रारम्भ से ही महात्मा जी से स्वामी जी का यह मतभेद बना हुआ था, किंतु आंदोलन की प्रबल गति को हानि न पहुंचाने के विचार से उसके सम्बन्ध में महात्मा जी को निजी

पत्रों में बराबर लिखते हुए भी आपने कभी प्रगट में वैसा आंदोलन नहीं किया था। महात्मा जी ने अपने निवास-स्थान डा० अन्सारी के यहां बुला कर आपसे उक्त संशोधन वापिस लेने का आग्रह किया। महात्मा जी ने यहां तक कहा—"सभा में आप का कोई भी समर्थन नहीं करेगा और अपने भाई-साहब के संशोधन को समर्थन न मिलने पर रद्द होते हुऐ देख कर मुझको दुःख होगा।" स्वामी जी ने कहा—"यह मेरे लिये अन्तरात्मा का प्रश्न है, यदि मुझको एक भी मत नहीं मिला तब भी मुझको बड़ा सन्तोष होगा कि मैंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ को दबाया नहीं।" महात्मा जी इस पर भी आग्रह करते रहे और अन्त में बोले—"यदि आप नहीं मानेंगे, तो हमको मीटिंग में हरकत होगी।" स्वामी जी ने खुले अधिवेशन में संशोधन वापिस लेने का वायदा करते हुए यह भी कह दिया कि कि "मैं इसके बाद कांग्रेस के किसी भी काम में विशेष भाग नहीं लूंगा।" १२ मार्च को कांग्रेस के सब पदों से त्यागपत्र देकर आप कुरुक्षेत्र-गुरुकुल जाकर साहित्यिक कार्य में लग गये, किंतु देश के राजनीतिक-वातावरण का घटना-चक्र बड़ी तेज़ी के साथ घूम रहा था और उसमें अभी आपको अपना हिस्सा अदा करना बाक़ी था। राजपूताना-प्रांतिक-राजनीतिक-परिषद् से डा० अन्सारी के द्वारा महात्मा जी ने स्वामी जी को त्यागपत्र वापिस लेने के लिये आग्रहपूर्ण सन्देश भेजा। स्वामी जी के पास यह

सन्देश पहुँचते न पहुँचते १८ मार्च को अजमेर से लौटते हुए महात्मा जी गिरफ़्तार कर लिये गये। डा० अन्सारी ने साफ़ कह दिया कि मैं आपका त्यागपत्र कांग्रेस-कमेटी में पेश नहीं करूंगा। २८, २९ और ३० अप्रैल को बटाला में पंजाब-प्रांतिक-राजनीतिक-परिषद् थी। महात्मा जी की गिरफ़्तारी के नाम पर पंजाब के नेताओं ने आपसे पधारने की आग्रहपूर्ण प्रार्थना की। देश के अन्य माननीय नेता भी वहां पधारने वाले थे। उस समय महात्मा जी की गिरफ़्तारी भी देश के लिये एक संकट ही था। संकट के समय देश का साथ न देना स्वामी जी के लिये सम्भव नहीं था। बटाला जाने का न कोई निश्चय था और न तैयारी ही, फिर भी ठीक समय पर आप बटाला चल दिये। वहां सर्व-श्री विट्ठल भाई पटेल, अब्बास तय्यब जी, लाला दूनीचन्द, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि ने आपसे आग्रह किया कि आप कांग्रेस से अलग न हों। जनता के सेवक स्वामी जी ने देश के नेताओं के आग्रह को सिर माथे रखा और कांग्रेस के विधायक कार्यक्रम विशेषतः अछूतोद्धार के काम को करने का निश्चय किया। बटाला, अमृतसर आदि में भाषण देते हुए आप कुरुक्षेत्र लौटे और वहां फैलाये हुए साहित्यिक कार्य को समेट कर फिर देहली आगये।

लखनऊ में ता० ६-७ जून को आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी का वह स्मरणीय अधिवेशन हुआ, जिस में सत्याग्रह-

जांच-कमेटी की नियुक्ति की गई थी । स्वामी जी ने इस में अछूतोद्धार सम्बन्धी प्रस्ताव पेश करने की सूचना दी थी । उस प्रस्ताव को स्वीकृत कराने के लिये ही आप लखनऊ गये थे । लखनऊ के आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के इस अधिवेशन से ही आप के कांग्रेस से अलग होने का इतिहास शुरू होता है। इसलिये इस अधिवेशन की घटनाओं का उल्लेख कांग्रेस से जुदाई के प्रसंग में ही करना अच्छा होगा ।

(ङ) अमृतसर जेल में

स्वामी जी के गिरफ़्तार किये जाने की अफ़वाहें तो समय समय पर प्रायः सुनने में आती रहती थीं । पर, आप गिरफ़्तार तब किये गये जब उस की किसी को कल्पना भी नहीं थी । स्वामी जी के जीवन की अधिकांश महत्वपूर्ण घटनायें प्रायः ऐसे ही समय में हुआ करती थीं, जब उनकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था । देहली के सत्याग्रह के दिनों में, जब देहली में राम-राज छाया हुआ था तब, आपकी गिरफ़्तारी की प्रति-क्षण प्रतीक्षा की जाती थी । फिर पञ्जाब के मार्शल-लॉ की हकूमत के कर्ता-धर्ता छोटे लाट ओडवायर की यह शिकायत थी कि पञ्जाब में सारी विद्रद देहली से आती है । सब उपद्रव के दिमाग़ महात्मा जी और भौतिक देह स्वामी जी समझे जाते थे । लाला दुनीचन्द को स्वामी जी ने लिखा था कि ज़रूरत हो तो मैं

लाहौर पहुंचूं। स्वामी जी की यह चिट्ठी ओडवायर के हाथ लग गई थी। उस पर ओडवायर ने स्वयं यह हुक्म पास किया था कि "स्वामी जी को अमृतसर में न पकड़ा जाय, बल्कि लाहौर पहुंचने पर पैर में बेड़ी और हाथ में हथकड़ी लगा कर बाज़ारों में घुमाया जाय। शहर में मशीनगनें लगा दी जांय, दो हज़ार हथियारबन्द फ़ौज बाज़ारों में खड़ी कर दी जाय और स्वामी जी को इस तरह अपमानित किया जाय कि लोग दहल जांय।" ओडवायर के इस हुक्म की एक नक़ल २४ जून १६१६ को स्वामीजी के हाथ तब लगी थी. जब आप पीड़ितों की सहायता करने पञ्जाब पहुंचे थे। उन दिनों में लाहौर जाना नहीं हुआ और ओडवायर अपने दिल की हवस पूरी नहीं कर सके। फिर शिमला में सी० आई० डी०. के डाइरेक्टर सर चार्लस क्रीवलैंड ने देहली के राजभक्त वकील, रायबहादुर और खानबहादुर साहबान के साथ स्वामी जी की गिरफ़्तारी का परामर्श किया। किसी ने भी स्वामी जी को देहली में गिरफ़्तार करने की सलाह नहीं दी और कह दिया कि देहली में गिरफ़्तार किया तो फिसाद हो जाने का डर है। अमृतसर में कांग्रेस-अधिवेशन की तय्यारियों में जब आप लगे हुए थे, तब भी बराबर ऐसी बातें सुनने में आती थीं। गुरुकुल में दुबारा आने पर आपने 'श्रद्धा' पत्र निकालना शुरू किया था, उस के कुछ लेखों के आधार पर भी आप पर मुक़दमा चलाने की बात कही जाती थी।

पर, वह भी सारहीन ही सिद्ध हुई। गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये चन्दा जमा करने को आप सन् १९२१ में वर्मा गये थे। वहां एक मास के दौरे में खुफ़िया पुलिस बराबर आप के आगे पीछे रही। वहां भी आप के शुद्ध वैदिक स्वराज्य और मनुष्य के स्वतन्त्रता के जन्मसिद्ध अधिकारों के सम्बन्ध में दिये गये भाषणों पर उड़ी हुई गिरफ़्तारी की बातों में कुछ तथ्य न निकला। देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना करके दलित जातियों को सरकारी कुचक्र से बचाने की कोशिश में जब आप लगे हुए थे, तब भी आप और डा० सुखदेव जी की गिपफ़्तारी की अफ़वाह ज़ोरों पर थी। युवराज के देहली पधारने के समय जब सब कांग्रेसी नेता सिर छिपाये हुए थे, तब आप ने ही उस के स्वागत के बहिष्कार का आंदोलन किया था। लोगों की पक्की धारणा थी कि आप ज़रूर गिरफ़्तार किये जायेंगे। गिरफ़्तारी की हवा का वह झोंका भी खाली ही निकल गया। उस समय आप तो आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी के लखनऊ के अधिवेशन के बाद, कांग्रेसी नेताओं की अछूतोद्धार के सम्बन्ध में की गई आनाकानी से निराश हो, कांग्रेस के सब कामों से किनारा कर, हिन्दू जाति के संगठन को ब्रह्मचर्य द्वारा दृढ़ करके अछूतोद्धार में ही सब ध्यान लगा देने की तय्यारी कर रहे थे, पर आप को भी क्या मालूम था कि वही अमृतसर, जिस की मार्शल-लॉ की ख़ूनी हकूमत से क्षत-विक्षत होने पर

आप मरहमपट्टी करने पहुंचे थे, आप को देशसेवा तथा देश-भक्ति का योग्य पुरस्कार देने के लिये अपनी ओर बुला रहा था ? जलियांवाला-बाग़ के अत्याचारों की पीड़ा से विह्वल हृदय गुरुका-बाग़ में होने वाले अनाचार से कैसे आंखें मूंद सकता था ? आपद्ग्रस्त लोगों के लिये हथेली पर सिर रखकर सदा तय्यार रहने वाला संन्यासी १० दिसम्बर सन् १६२२ के सवेरे अमृतसर पहुंचा। दिल्ली की शाही जामा-मसज़िद के मिम्बर की शोभा बढ़ाने वाले आर्य संन्यासी ने अमृतसर के अकाल-तख्त की भी शोभा बढ़ाई। वहां लगे हुए दीवान में दिल्ली निवासियों का यह सन्देह सुना दिया कि देहली से 'शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी' का इशारा पाते ही सौ आदमी तुरन्त आने को तय्यार हैं। पांच हज़ार तक की सहायता देहली करेगा और आशा दिलाई कि संयुक्तप्रांत भी पीछे नहीं रहेगा। दुपहर को एक बजे आप गुरुका-बाग गये। शाम को साढ़े पांच बजे अमृतसर लौटने की तय्यारी ही में थे कि एक पुलिस इन्स्पेक्टर ११७, १४३, १४७ और १०६ धारा के अनुसार गिरफ़्तारी का परवाना लेकर आ पहुंचा। आपको पुलिस के पहरे में शाम को साढ़े सात बजे अमृतसर-जेल के संगीन दरवाज़े के भीतर चार-दिवारी में लगभग १२ फ़ीट लम्बी और ८ फ़ीट चौड़ी कोठड़ी में बन्द कर दिया गया। ५ अक्तूबर तक मुकद्दमा चला और आपको ११७ में एक वर्ष और १४३ में ४ मास

की सादी कैद की सज़ा दे दी गई। कभी के राजभक्त और छोटे तथा बड़े लाट के भी विश्वासपात्र महात्मा मुन्शीराम स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में आज वास्तव में सरकार के मेहमान हुए। गुरुओं के लाखों शिष्यों को अमृत छका उनमें शाहीदाना-मस्ती भर कर अमर-पद दिलाने वाली अमृत-नगरी को ही स्वामी श्रद्धानन्दजी के मस्तक पर देशभक्ति का शहीदाना-राजतिलक लगाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सार्वजनिक-जीवन के जन्म-काल से पञ्जाब की की गई चिरस्मरणीय सेवा का पुरस्कार पञ्जाब की ही प्रधान नगरी ने अपनी गोद में बिठा कर आपको दिया। लार्ड चैम्सफोर्ड और उस के साथियों ने भी देख लिया होगा कि शारीरिक बीमारियों के घर, ६७ वर्ष के बूढ़े तथा कृश शरीर में, कष्ट-सहन करने की कितनी सामर्थ्य थी ?

लाहौर के उर्दू के एक दैनिक-पत्र के आर्य-सम्पादक ने आर्य-संन्यासी के इस प्रकार जेल जाने पर सन्देह प्रगट किया था और गृहस्थों के सन्देश को अमृतसर पहुंचाना संन्यासी के धर्म के बाहर बताया था। आपने इस सम्बन्ध में कहा था—"मैंने संन्यास का अर्थ कर्म का न्यास नहीं समझा, प्रत्युत गुरुवर आचार्य दयानन्द के चरण-चिन्हों पर चलने का यत्न करते हुए कर्मफल में अनासक्ति को ही संन्यास समझा है। इसलिये मैं उनके साथ सहमत नहीं हूं जो कहते हैं कि सर्व कर्मनासी संन्यासी होता है। यदि दिल्ली वालों का सन्देश धर्मानुकूल था तो

संन्यासी से बढ़ कर उस को पहुंचाने वाला और कौन हो सकता था ?"

२६ अक्तूबर को आपको पुलिस की संगीनों के पहरे में लारी पर सवार करा खासा रेलवे स्टेशन से सींखचों की गाड़ी में बन्द करके मियांवाली जेल पहुंचा दिया गया। यहां आपका दैनिक कार्यक्रम यह था। सवेरे २ बजे उठते, लघुशङ्का कर हाथ मुंह धो-पोंछ कर ध्यान में बैठ जाते। चार बजे फिटकरी के पानी से दातुन का काम लेते। शौच जाने के बाद साढ़े चार से साढ़े छः तक लिखने का काम करते। साढ़े छः बजे अपना कमरा और उसके बाहर की जगह झाड़ू और कपड़े से साफ़ करते। फिर २० मिनट व्यायाम करते और सरसों के तेल की मालिश, सवा सात बजे स्नान-उपासना-गीता तथा उपनिषदों का पाठ, कुछ आर्य युवकों को सन्ध्या के मन्त्रों पर उपदेश और टहलना नौ बजे तक होता। साढ़े दस बजे भोजन और उसके बाद थोड़ा विश्राम लेते। बारह से दो तक स्वाध्याय और उसके बाद साढ़े तीन बजे तक कथा होती। फिर शौच आदि नित्य कर्म और टहलते हुए कुछ मित्रों के साथ बातचीत करते। साढ़े छः बजे शाम को कोठरी में मोमबत्ती की रोशनी करके लिखने बैठते तो आठ बजे तक लिखते रहते। साढ़े आठ बजे के बाद लघुशंका आदि से निवृत हो आध घन्टा आत्मचिन्तन करते और ठीक नौ बजे ज़मीन पर बिस्तर लगा कर सो जाते। तीक्ष्ण

सर्दी होने पर भी इस दैनिक-कार्यक्रम में कभी शिथिलता नहीं की जाती थी। व्यायाम का तो आपको कुछ व्यसन ही था। आपने लिखा है—"डाक्टरों के मना करने पर भी इस अभ्यास को नहीं छोड़ सका, शायद काम भी इसी की बदौलत करता रहा हूं। ऊपर की दिनचर्य्या के निरन्तर पालन से ही मैं जेल में स्वस्थ रहा।"

२७ नवम्बर को पंजाब के छोटे लाट सर एडवर्ड मैकलेगन जेल का निरीक्षण करने आये। स्वामी जी के साथ आपका पहिले का परिचय था। कई बार गवर्नमेण्ट हाउस में भी परस्पर मिलना-जुलना हुआ था। आज जेल में मुलाक़ात हुई। स्वामी जी के सिर और दाढ़ी के बाल बढ़े हुए थे। इसलिये छोटे लाट आपको पहिचान नहीं सके। सुपरिण्टेण्डेण्ट से पूछ कर आप आपके पास आये और आपसे पूछा—"क्या आप में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ?" आपने उत्तर दिया—"हां, जेल में मैंने क्षौर नहीं कराया।" छोटे लाट ने फिर पूछा—"क्या आपको छः मास यहां होगये?" आपने कहा—"नहीं, अभी अढ़ाई मास ही हुए हैं।" चुप करके कुछ ठहरे, सम्भवतः इसलिये कि स्वामी जी कुछ कहेंगे। जब स्वामी जी कुछ न बोले तब आप ने फिर पूछा—"कहिये, आप सर्वथा आराम से तो हैं?" स्वामी जी ने कहा—"हां, मुझ को सभी जगह आराम है।" वस्तुतः

उस बुढ़ापे में भी स्वामी जी ने जेल-जीवन बड़े आनन्द के साथ पूरा किया ।

२६ दिसम्बर की दुपहर को कथा का अभी आरम्भ ही हुआ था कि जेलर आये और आकर बोले—"चलिये बाहर, आप यहां नहीं रह सकते । आपकी रिहाई का वारंयट आगया है !" कथा पूरी कर सब भाइयों से मिलकर आप दो-ढाई बजे जेल से बाहर हुए । शहर में अचानक ही पहुँचने पर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ । शाम को सिंह-सभा में भाषण हुआ । २७ की सवेरे समाज-मन्दिर में धर्मोपदेश देकर ग्यारह की गाड़ी से चल दिये और २८ की सवेरे ८ बजे अमृतसर आ पहुँचे । रास्ते में दर्शनार्थी भक्तों की भीड़ से आप तंग आगये । अमृतसर-स्टेशन पर जनता विशेषतः अकाली भाइयों ने आप का हार्दिक स्वागत किया और सीधा आपको उसी अकाल तख़्त पर ले गये, जहां दिये हुए भाषण के कारण आप जेल गये थे । २ बजे समाज मन्दिर में आर्य भाइयों ने निमन्त्रित किया और वहां आपके स्वागत-सत्कार के उपलक्ष में फल-भोज हुआ । दुपहर को ३।। बजे कलकत्ता मेल पर सीधे गया-कांग्रेस पर जाने के विचार से सवार हुए थे, पर जालन्धर-स्टेशन पर आर्य भाइयों के आग्रह को टालना कठिन होगया । रात को गांधी मण्डप में भाषण हुआ । २९ दिसम्बर के प्रातः ८।। बजे आप देहली पहुँचे ।

इस तीन-चार मास के जेल-जीवन के आपके अनुभवों में से यहां दो बातों का ही उल्लेख करना आवश्यक है। पहिली तो यह कि आपने जेल मे आने के बाद यह स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "जेल मनुअल केवल दिखलावा है।..........यह सूर्य के प्रकाश की तरह प्रसिद्ध हो जाना चाहिये कि वहां हाथी के दांत खाने के और तथा दिखलाने के और हैं।" दूसरी यह कि "मुझे निश्चय हुआ कि अभी चरित्र-गठन में बड़ी कमी है। कम से कम मैं तो ऐसे सांचे में ढला हूं कि कई अंशों में स्वयं सदाचार की कमी अपने अन्दर अनुभव करते हुए भी चरित्र-हीन पुरुषों के साथ काम नहीं कर सकता। मेरी सम्मति में स्वदेश के राष्ट्र के लिये पहिली आवश्यकता यह है कि जनता को ब्रह्मचारी बना कर और उसमें सहन-शक्ति फूंक कर एक आत्मोन्नत स्वराज्य-सेना खड़ी की जाय, तब वैयक्तिक गुलामी की जंजीरें काट कर अत्याचार से युद्ध हो सकेगा। कांग्रेस, हिंदू-महासभा, खिलाफ़त और अन्य अखिल-भारतवर्षीय-संस्थाओं के कार्य चलाने के लिये तो बड़े-बड़े व्यक्ति विद्यमान हैं, मुझ से अल्प शक्ति वाले मनुष्य के लिये यही बड़ा काम है कि ब्रह्मचर्य के उद्धार और दलित जातियों के उत्थान का मार्ग जो अपने को सूझा है, उस का निर्देश आर्य जाति के आगे रखने का यत्न करूं।" यह भी आपने बिलकुल ठीक ही लिखा था कि "बृटिश सरकार ने जेल का प्रबन्ध ऐसा रखा है, जिससे दुराचारी कैदी अधिक दुरा-

चारी हो जायें। उनके भोजन-छादन, पाखाना-पेशाब, रहन-सहन को ऐसा बना दिया है कि नया फँसा अपराधी भी अनुभवी और निर्लज्ज बदमाश बन जाता है और पुराना पापी ऐसा डूबता है कि फिर उसके उठने की आशा ही नहीं रहती। जेलखानों में एक ओर तो पठान लम्बरदार कैदियों को गन्दी से गन्दी गालियां देने, बात-बात पर उनकी गर्दनियां नापने, धकेलने और लातों-घूसों से मारने के लिये नियत किये हुए हैं और दूसरी ओर ऐसी ढीली निगरानी है कि बड़े जेलों में रिश्वत देकर न केवल शराब, अफ़ीम, चरस, सिगरट आदि मँगाये जा सकते हैं, परन्तु हज़ारों का जुआ भी हो सकता है।"

वैसे स्वामी जी के लिये तो जेल और बाहर एक ही-सा था। पर, देशभक्ति के जिस युग में जेल जाना अनिवार्य-सा हो गया था, उस में आप सरीखे देशभक्त-नेता का जेल से वंचित रहना सम्भव नहीं था। स्वामी जी ने अपनी जेल-यात्रा के सम्बन्ध में लिखा था—"मैं विना खून लगाये ही शहीदों में दाखिल हो गया।" स्वामी जी की दृष्टि में आप का जेल जाना ऐसा ही था, किन्तु देशवासियों की दृष्टि में वह आप की दृढ़ देशभक्ति का आवश्यक पुरस्कार था, जिस से राजनीतिक शहीदों की सूची में भी ऊपर के नामों में आप का नाम सुवर्णाक्षरों में सदा लिखा जाता रहेगा।

(च) कांग्रेस से जुदाई

दूसरी बार गुरुकुल से अलग होने से कुछ ही समय पहले स्वामी जी ने स्थिर कोष के लिये की गई अपील के अन्त में लिखा था—"यदि गुकुरुल-विश्वविद्यायल-कांगड़ी तथा उस की वर्तनाम शाखाओं के लिये धन की चिन्ता न रहे और यदि देश के धार्मिक दानी थोड़ा सा भी ध्यान दे दें तो इस चिन्ता से मैं एक वर्ष में मुक्त हो सकता हूं। तब मेरा संकल्प है कि जिन्हें अछूत बतला कर जाति का चौथाई अंग काट दिया गया है, उन की शिक्षा का काम हाथ में लिया जावे और उन्हें भारत-माता के शत्रु बनाने का जो यत्न इंगलैण्ड और अमेरिका की ओर से शुरू हो गया है, उस यत्न का मुक़ाबला करके दिखला दिया जावे कि साठ करोड़ से एक भी कम भुजा भारत जननी की नहीं है।" इस के साथ पिछले पृष्ठों में दी गई उन घटनाओं को फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं, जिन से मालूम होता है कि स्वामी जी के लिये दलितोद्धार की समस्या सब से अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण थी। कांग्रेस के अमृतसर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के भाषण में इस सम्बन्ध में कहे गये शब्द बिलकुल स्पष्ट थे। कांग्रेस को अपनी कुछ शक्ति इस काम में लगाने के लिये प्रेरित करने को ही आप कलकत्ता के विशेषाधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। नागपुर में और बारडोली के प्रस्तावों में स्वराज्य की प्राप्ति और सामुदायिक

सत्याग्रह शुरू करने के लिये अस्पृश्यता-निवारण भी एक शर्त रखी गई थी। स्वामी जी ने देहली में दलितोद्धार-सभा की स्थापना कर के अपने को इस काम में पूरी तरह लगा दिया था। महात्मा जी के जेल जाने के बाद कांग्रेसी नेताओं ने इस ओर से आंखें ही मूंद लीं थीं। इसी अवस्था की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए स्वामी जी ने ता० २३ मई सन् १६२२ को कांग्रेस के उस समय के प्रधान-मन्त्री श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल को इस आशय का एक पत्र लिखा था कि "कभी महात्मा जी ने तो दलितोद्धार को कांग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाया था और अब उस को आंखों से बिलकुल ओझल कर दिया गया है। खादी के कार्य में हमारे कुछ अच्छे से अच्छे कार्यकर्ता अपना सब समय लगा सकते हैं, उस के लिये एक अच्छी बड़ी रकम भी अलग की जा सकती है और राष्ट्रीय शिक्षा पर भी योग्य ध्यान दिया जा सकता है, किन्तु दलितोद्धार के प्रश्न को बिलकुल दबा दिया गया है। मेरी यह स्पष्ट सम्मति है कि हमारे छः करोड़ भाइयों को हमारे विरुद्ध खड़ा कर के नौकरशाही हमारे खादी के काम को भी पूर्णतया सफल न होने देगी। मैं ७ जून को लखनऊ में होने वाली आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी में यह प्रस्ताव उपस्थित करना चाहता हूं कि आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी के तीन सभासदों की एक उपसमिति दलितोद्धार के काम के लिये नियुक्त की जाय और पांच लाख

रुपया इस काम के लिये उस के सुपुर्द किया जाय। भविष्य में दलितोद्धार सम्बन्धी सब काम इस उपसमिति की ही अधीनता में हो।" इस पत्र की पहुंच आने पर हरिद्वार से ता० ३ जून सन् १९२२ को आप ने कांग्रेस के प्रधान-मन्त्री को दूसरा पत्र इस आशय का लिखा था—"आप जानते हैं कि दलितोद्धार की समस्या मेरे लिये कितनी महत्वपूर्ण है ? मैं देखता हूं कि पञ्जाब तक में कांग्रेस की ओर से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया गया है। बारडोली के प्रस्ताव में लिखा गया है कि जहां अस्पृश्यता का प्रश्न अधिक जटिल हो, वहां कांग्रेस-कोष से दलित भाइयों के लिये अलग कुये और स्कूल बनवाये जांय। इस से कट्टर अथवा कमज़ोर लोगों को दलित भाइयों के लिये कुछ भी न करने का बहाना मिल जाता है।" इस के आगे बिजनौर, अम्बाला, लुधियाना, बटाला, लाहौर, अमृतसर और जण्डियाला तथा देहली आदि के कांग्रेस कार्यकर्ताओं की अपनी आंखों देखी हुई उपेक्षा के सम्बन्ध में लिखने के बाद आप ने लिखा था—"जब तक बारडोली के प्रस्ताव का संशोधन नहीं किया जायगा, तब तक कांग्रेस के विधायक कार्यक्रम का सब से प्रधान हिस्सा पूरा नहीं किया जा सकेगा। इसलिये मेरा प्रस्ताव यह है कि उस को बदल कर यह कर दिया जाय कि दलित भाइयों की ये मांगें तुरन्त पूरी की जांय कि उन को सार्वजनिक स्थानों में सब के साथ बैठने दिया जाय, उनको कुओं से पानी

भरने दिया जाय और राष्ट्रीय स्कूलों तथा कालेजों में उन के बच्चों को भरती किया जाय, वहां सब बच्चों के साथ उन को मिलने-जुलने तथा उठने-बैठने दिया जाय।"

पहिले प्रस्ताव पर वर्किंग-कमेटी और आल-इन्डिया-कांग्रेस-कमेटी में बहस होने के बाद निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया गया—"स्वामी श्रद्धानन्द, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री गंगाधरराव देशपांडे और श्री इन्दुलाल याज्ञिक की एक उपसमिति नियुक्त की जाती है, जो वर्किंग कमेटी के अगले अधिवेशन में पेश करने के लिये दलितोद्धार के सम्बन्ध में आयोजना तय्यार करे। फ़िलहाल उस आयोजना के लिये दो लाख रुपया जमा किया जाय।" स्वामी जी दो लाख की जगह पांच लाख चाहते थे और चाहते थे कि एक लाख कांग्रेस के कोष में से तुरन्त इस काम के लिये अलग कर दिया जाय। श्री राजगोपालाचार्य ने वर्किंग कमेटी की ओर से कहा कि कांग्रेस-कोष में से एक लाख देने के लिये प्रस्ताव में आग्रह न किया जाय, किन्तु यह लिख दिया जाय कि कार्य की आयोजना तय्यार हो जाने पर जितना भी सम्भव हो उतना इस काम के लिये कांग्रेस के कोष में से अलग कर दिया जाय। सभापति हकीम साहेब के समझाने से स्वामी जी ने अपने प्रस्ताव के लिये आग्रह नहीं किया। उक्त समिति के संयोजक का प्रश्न जब सामने आया तब श्रीयुत बिट्ठल भाई पटेल ने कहा—"जब

स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम सब से पहले है तब यह स्पष्ट है कि वे ही उस उपसमिति के संयोजक हैं।" स्वामी जी के दूसरे प्रस्ताव के लिये, जो बारडोली के प्रस्ताव के संशोधन के सम्बन्ध में था, कहा गया कि वह वर्किंग कमेटी द्वारा उपसमिति के पास विचारार्थ भेजा जायगा।

देहली लौट कर स्वामी जी ने उक्त प्रस्ताव के अनुसार काम शुरू कर दिया, किन्तु कुछ स्थानों पर जा कर जांच किये बिना काम करना और कोई आयोजना तय्यार करना सम्भव न देख कर स्वामी जी ने वर्किंग कमेटी को लिखा कि दस हज़ार रुपया दलितोद्धार-उपसमिति को पेशगी दिया जाय। इस पर वर्किंग कमेटी ने यह प्रस्ताव किया—"पेशगी रुपया देने के सम्बन्ध में स्वामी जी का ८ जुलाई सन १९२२ का पत्र पढ़ा गया और निश्चय हुआ कि श्री गंगाधरराव देशपांडे उपसमिति के संयोजक बनाये जांय और स्वामी श्रद्धानन्दजी का पत्र उपसमिति के पास विचारार्थ भेजा जाय।"

कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी की इस मनोवृत्ति पर स्वामी जी ने कांग्रेस के प्रधान-मन्त्री को लिखा था—"देहली के आस-पास दलितोद्धार की समस्या बहुत विकट होरही है। मैं उस में पूरी तरह गुता हुआ हूं वर्किंग कमेटी की आना-कानी के कारण दलितोद्धार-उपसमिति कुछ भी काम नहीं कर सकती और वर्किंग कमेटी को देश की अन्य राजनीतिक समस्याओं से ही इतनी फुर-

सत नहीं है कि वह दलितोद्धार के कार्य की ओर कुछ ध्यान दे सके। इन अवस्थाओं में उपसमिति में मेरा रहना व्यर्थ है और मैं उससे अलग होता हूं।" २३ जुलाई सन् १९२३ को कांग्रेस के उस समय के प्रधान-मन्त्री पं० मोतीलाल जी नेहरू ने बम्बई से आपको त्यागपत्र वापिस लेने के लिये लिखते हुए लिखा—"यह बहुत दुर्भाग्य होगा कि उपसमिति इस सम्बन्ध में आपके दीर्घ अनुभव और इस समस्या के आप के विस्तृत अध्ययन से वंचित रहेगी।" उसी दिन आप ने प्रधान-मन्त्री को लिख दिया—"मैंने अमृतसर और मियांवाली जेलों में यह अनुभव किया है कि चरित्र-गठन और अस्पृश्यता-निवारण द्वारा स्थापित हुए राष्ट्रीय-ऐक्य के बिना कांग्रेस अथवा उस सरीखी राजनीतिक संस्थायें कुछ भी नहीं कर सकेंगी। मैं अब अपनी सब शक्ति इस कार्य में ही लगाना चाहता हूं। इसलिये आप मेरा त्यागपत्र स्वीकार करें। इसी पत्र में आपने वर्किंग-कमेटी के उस अनुचित प्रस्ताव की ओर भी संकेत किया था, जिस द्वारा आप के स्थान पर श्री गंगाधरराव देशपांडे को उपसमिति का संयोजक नियत किया गया था। वर्किंग कमेटी के इस कार्य को अनुचित समझते हुए आप की यह भी धारणा हो गई थी कि उस की ओर से दलितोद्धार के कार्य के सम्बन्ध में आना-कानी की जा रही है। आप ने लिखा भी था—"कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी के दलितोद्धार के सम्बन्ध में की गई कार्रवाई ने

मुझ को निराश कर दिया है। मुझ को आशा नहीं कि कांग्रेस इस सम्बन्ध में निकट भविष्य में कुछ भी कर सके। इसलिये मैं इस सम्बन्ध में जो कुछ भी कर सकता हूं, अब दलितोद्धार सभा देहली के द्वारा ही करूंगा। मैं कांग्रेस का साधारण सभासद भी इस समय इसलिये हूं कि वह सत्य और धर्म के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अपना ध्येय पूरा करना चाहती है, किन्तु इस के वर्तमान नेताओं की कार्यप्रणाली वैसे ही कुटिल नीति पर अवलम्बित है जैसे कि पुराने समय में थी, जब कि पढ़े लिखे धनाढ्य लोगों के पास स्वराज्य प्राप्ति के लिये वैध-आंदोलन के सिवा और कोई मार्ग नहीं था। मैं मानता हूं कि मैं ऐसे राजनीतिक मार्ग का अवलम्बन करने के सर्वथा अयोग्य हूं। इसलिये ऋषि दयानन्द के बताये हुए वैदिक धर्म के मार्ग का ही अवलम्बन कर मैं अपने काम में लगूंगा। अब मैं ब्रह्मचर्याश्रम-पद्धति की पुरातन शिक्षा-प्रणाली का पुनरुद्धार करने, जन्मगत जात-पात को मिटाते हुए अछूत कही जाने वाली जातियों का महान आर्य जाति में सम्मिश्रण करने, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का यत्न करने और अहिंसा का क्रियात्मक प्रचार करने में लगूंगा। सन् १९१९ में सत्याग्रह-कमेटी से त्यागपत्र देते हुए भी आप ने ऐसे ही भाव प्रकट किये थे।

यह परिस्थिति थी, जिसमें स्वामी जी कांग्रेस से अलग हुये थे। इस परिस्थिति को कुछ अधिक स्पष्ट रूप में जानने के लिये

स्वामी जी के विचारों को विशेषतः असहयोग आन्दोलन के सम्बन्ध में आपके मतभेद को भी जानने की आवश्यकता है। राजनीतिक आन्दोलन के साथ तन्मय हो जाने और उस क्षेत्र में पुराने नेताओं से भी अधिक सचाई, ईमानदारी तथा तत्परता दिखाते हुए भी महात्मा गांधी के साथ स्वामी जी का जो मतभेद था, उसको आपने कभी किसी भी कारण से और किसी भी अवस्था में छिपाया नहीं था। पिछले पृष्ठों में इसी दृष्टि से उस मतभेद का भी यथास्थान उल्लेख किया जाता रहा है। महात्मा गान्धी के साथ स्वामी जी के पुराने सम्बन्ध, प्रेम, बहुत कुछ आपस की श्रद्धा और आकर्षण के कारण भी उस मतभेद ने कभी उग्ररूप धारण नहीं किया, किन्तु महात्मा जी के जेल चले जाने और पीछे दूसरे किसी नेता के साथ वैसा सम्बन्ध न होने से स्वामी जी का मन कांग्रेस से फटता चला गया। व्यक्तिगत सत्याग्रह में स्वामी जी का इतना विश्वास नहीं था। सामुदायिक-सत्याग्रह के सम्बन्ध में आपका यह स्पष्ट मत था कि एक बार शुरू करने के बाद कांग्रेस के बाहर होने वाले उपद्रव अथवा हिंसा के कारण उसको कभी भी बन्द नहीं करना चाहिये, क्योंकि सरकार का अपने लोगों द्वारा उपद्रव अथवा हिंसा कराना कुछ भी कठिन नहीं और उसको सर्वथा बन्द करना असम्भव है। विधायक-कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये आप कौंसिलों में जाने के भी पक्ष में थे, किन्तु उनमें

अड़ंगा-नीति से काम लेने के पक्ष में नहीं थे। विधायक-कार्यक्रम में आपका अटल विश्वास था; सत्याग्रह की दृष्टि से नहीं, किन्तु राष्ट्र में उस समय के लिये शक्ति पैदा करने की दृष्टि से, जिससे कभी किसी दैवीय-साधन से स्वराज्य प्राप्त हो जाय, तो उसकी रक्षा की जा सके। सत्याग्रह द्वारा स्वराज्य-प्राप्ति में भी आपका इतना विश्वास नहीं था। इस सम्बन्ध में आप प्रायः यह कहा करते थे कि स्वराज्य की प्राप्ति तो भूकम्प के समान किसी अनहोनी घटना से ही होगी। उस समय के लिये हमको तय्यार रहना चाहिये, जिससे वैसा अवसर आने पर हमारे पैर लड़खड़ाने और हाथ कांपने न लगें। अपने इन विचारों को आपने कांग्रेस की सत्याग्रह-जांच-कमेटी के सामने १४ अगस्त सन् १९२२ को साक्षी देते हुये भी स्पष्ट कर दिया था। इसी दृष्टि से आप अपने को कांग्रेस की ओर से उसके विधायक-कार्यक्रम के प्रधान अंग अस्पृश्यता-निवारण में ही लगाना चाहते थे। पर, वैसा होना नहीं था। अस्पृश्यता-निवारण की समस्या आपके लिये इतनी अधिक महत्वपूर्ण थी कि उसको हल करने-कराने की आशा से ही आपने साधु-महामण्डल को भी सहयोग दिया था और जब उससे यह आशा पूरी न हुई, तब उससे भी आप अलग हो गये। साधु-महामण्डल से त्यागपत्र देते हुये आपने स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को लिखा था—"गया से लौटे भाइयों से ज्ञात हुआ कि अब आप साधु-महामण्डल के

मन्त्री नहीं रहे और स्वामी प्रकाशानन्द महामन्त्री चुने गये हैं। मैंने सेठ जमनालाल बजाजसे पांच सौ रुपये इसलिये ले दिये थे कि कुछ काम होगा! स्वामी प्रकाशानन्द ने अपने सुपुर्द किया हुआ संगठन का ही कुछ काम न किया तो और क्या करेंगे? सबसे बढ़कर जो काम साधु-महामण्डल कर सकता है, वह दलित जातियों को उनके अधिकार दिलाने का है। वह स्वामी प्रकाशानन्द के मन्त्री होते हुये होने का नहीं। मैं हिन्दु (आर्य) जाति का भला इस समय दलित जातियों के उद्धार में ही समझता हूं और यथाशक्ति उनके लिये ही अपनी तुच्छ अल्पशक्ति का प्रयोग करना चाहता हूं। अतएव साधु-महामण्डल के सभासद्-पद से त्यागपत्र देता हूं। मुझे ज्ञात नहीं कि महामन्त्री जी का कार्यालय कहां है? इसलिये यह त्यागपत्र आपकी सेवा में भेजता हूं। आप इसे स्वामी प्रकाशानन्द जी के पास भेज दीजिये।"

कांग्रेस तथा साधु-महामण्डल से निराश होकर दलितोद्धार के लिये ही स्वामी जी हिन्दु-महासभा की ओर झुके थे, किन्तु उससे भी आपको इस सम्बन्ध में बुरी तरह निराश होना पड़ा था।

पण्डित मोतीलाल जी नेहरू को त्यागपत्र के सम्बन्ध में अन्तिम पत्र देने के बाद कांग्रेस से अलग हो जाने पर भी पण्डित जवाहरलाल जी नेहरू और श्री देवीदास गांधी की

गिरफ्तारी पर आप के हृदय में फिर कांग्रेस के राजनीतिक क्षेत्र में कूदने की तीव्र इच्छा पैदा हुई और कांग्रेस में आने के लिये ही आपने आर्य-सार्वदेशिक-सभा के प्रधान-पद से त्याग पत्र भी दे दिया, किन्तु उस समय के राष्ट्रपति हकीम साहेब के इस आदेश पर कि असहयोग-आंदोलन के कार्यक्रम से मतभेद रखने वालों को कांग्रेस के संगठन में पदाधिकारी नहीं होना चाहिये, आप आगे बढ़ते हुए भी रुक गये। डाक्टर अन्सारी को अपने मतभेद के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"इस अवस्था में मैं अपने अन्तःकरण में यह अनुभव करता हूं कि मुझ को कांग्रेस की प्रबन्धकारिणी का सभासद नहीं रहना चाहिये। इसलिये मैं अपने २६ मार्च के त्यागपत्र को फिर से पेश करता हूं।" इसी से आप ने देहली की प्रांतिक-कांग्रेस-कमेटी का सभापति होना भी स्वीकार नहीं किया था और डाक्टर अन्सारी को लिखे हुए पत्र में ही आप ने लिखा था—"इस के बाद फिर यदि कोई अनहोनी घटना न हो जाय तो ये मेरा अन्तिम निर्णय है। यदि कहीं आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी ने कलकत्ता के अधिवेशन में सब प्रांतों में एक साथ सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया तो मैं किसी एक प्रांत का सम्भवतः पञ्जाब का नेतृत्व करने के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध हूं।" सन् १९२४ में बेलगांव-कांग्रेस में आप महात्मा गांधी के आग्रहपूर्ण व्यक्तिगत निमन्त्रण को स्वीकार करके दर्शक रूप में

ही सम्मिलित हुए थे। इतना आग्रह महात्मा जी ने यह प्रगट करने के लिये ही किया था कि मतभेद हो जाने पर भी आप दोनों का पुराना प्रेम-सम्बन्ध नहीं टूटा था। महात्मा जी के आग्रह पर ही आप उन के साथ स्वदेशी-प्रदर्शिनी तथा चरखा प्रतियोगिता के समारोह और कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उनके भाषण के दिन उपस्थित हुए थे। सन् १९२५ में कानपुर-कांग्रेस पर भी दर्शक के रूप में ही आप गये थे। वैसे सन १९२३ के शुरू में ही स्वामी जी कांग्रेस के कार्य से अलग हो गये थे। किन्तु उस के चार आने वाले सदस्य आप बराबर बने रहे थे, क्योंकि उस के ध्येय और मार्ग पर आप को विश्वास था। कांग्रेस से अलग होने के समय दिये गये त्याग-पत्र में भी आप ने लिखा था—"जब तक कांग्रेस का वर्तमान ध्येय यही रहेगा, मैं उस का साधारण सभासद् अवश्य रहूंगा।"

६. गुरुकुल में फिर दो वर्ष

(क) आगमन

सार्वजनिक राजनीतिक क्षेत्र की सब कहानी एक साथ देने के कारण से गुरुकुल में फिर से बिताये गये दो वर्ष का वर्णन बहुत पीछे पड़ गया है। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के

कार्य से निवृत्त हो कर आप जलियांवाला-बाग़ को 'अमर-वाटिका' बनाने के काम में लगने का निश्चय किये हुए थे। पर, गुरुकुल के हितैषियों ने आप को आ घेरा और आप से कहा कि यदि आप गुरुकुल को नहीं संभालेंगे तो गुरुकुल के सामयिक आचार्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति हुए बिना ही उसको एकाएक फरवरी के मध्य में छोड़ जायेंगे और गुरुकुल की इतिश्री हो जायगी। अन्तरंग-सभा के निश्चय, प्रतिनिधि-सभा के प्रधान के आग्रह और गुरुकुल-प्रेमियों के अनुरोध पर आप महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी से जलियांवाला-बाग़ के लिये चन्दा इकट्ठा करने के काम से छुट्टी मांग कर गुरुकुल चले आये। अन्तरंग-सभा में २५ माघ सम्वत् १९७६ को आचार्य के पद से श्री रामदेव जी और मुख्याधिष्ठाता के पद से श्री रामकृष्ण जी का त्याग-पत्र स्वीकृत करते हुए यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था कि "वर्तमान अवस्था में इस सभा की सम्मति में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ही पूर्ण योग्यता से इस कार्य को सम्पादन कर सकते हैं। इसलिये यह सभा सर्वसम्मति से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती है कि वे पूर्ववत् इस कार्य को संभालने की कृपा करें। सभा उनको गुरुकुल का आचार्य और मुख्याधिष्ठाता नियत करती है। श्री स्वामी जी के वही अधिकार होंगे जो उन दिनों में थे, जब वे पहले गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता थे। चूंकि स्वामी जी की शारीरिक अवस्था इस योग्य

नहीं कि वे अन्तरंग सभा के प्रत्येक अधिवेशन में सम्मिलित हो सकें, इसलिये निश्चय हुआ कि गुरुकुल के प्रबन्ध-सम्बन्धी सब अधिकार प्रधान-सभा, श्री विश्वम्भरनाथ जी तथा मुख्याधिष्ठाता की उपसभा को प्राप्त होंगे।" स्वामी जी ने गुरुकुल का काम फिर से अपने हाथ में लेने के लिये निम्न लिखित शर्तें पेश की थीं—(१) दो वर्षों तक पाठविधि और प्रबन्ध में परीक्षार्थ जो परिवर्तन किये जांय, उन में सभा हस्तक्षेप न करे। (२) गुरुकुल की धन-सम्पत्ति अलग ही सूद पर चढ़ाई जाय और उस का अधिकार उस के लिये बनाई गई उपसमिति को ही हो। (३) दो वर्ष के लिये अन्तरंग-सभा के स्थान में तीन सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाय। उसी की ओर से बजट सीधा बृहदधिवेशन में पेश किया जाया करे। (४) कृषि-विभाग पुनः जारी करने और औद्योगिक तथा व्यापारीय विद्यालय खोलने की स्पष्ट आज्ञा दी जावे। (५) गुरुकुल प्रेस में प्रिंटिंग मशीन तथा अन्य सामान के लिये दस हज़ार रुपया लगाया जावे। (६) गुरुकुल-नियन्त्रण-परिषद का जो प्रस्ताव दस-ग्यारह वर्ष पहिले पेश किया था, उस को पास कराने का पुनः यत्न हो।" ऊपर के प्रस्ताव से स्वामी जी के प्रति गुरुकुल के संचालकों अथवा स्वामिनी-सभा की अन्तरंग-सभा के विश्वास, श्रद्धा तथा भरोसे का पता लगता है और स्वामी जी की शर्तों से मालूम होता है कि गुरुकुल के सम्बन्ध में अपने असिद्ध स्वप्न की

पूर्ति की आशा और पुरानी महत्वाकांक्षा से ही आप फिर गुरुकुल आये थे।

(ख) 'श्रद्धा'

११ फरवरी सन १९२०, ४ फाल्गुन १९७६ को स्वामी जी ने कुलपति के रूप में फिर गुरुकुल में पदार्पण किया और पांच छः दिन में गुरुकुल की योग्य व्यवस्था कर के आप इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, मटिण्डू के शाखा गुरुकुलों के उत्सव भुगताने के लिए देहली लौट आये। तीनों उत्सव भुगता कर ता० १७ मार्च के लगभग देहली का सब काम समेट कर फिर गुरुकुल पहुंच गये। गुरुकुल की आवाज़ जनता तक पहुंचाने के लिए 'श्रद्धा' नाम से साप्ताहिक-पत्रिका निकालनी शुरू की। पहले अङ्क में 'श्रद्धा' के उद्देश्य तथा कार्यक्रम के सम्बन्ध में स्वामी जी ने लिखा था—"ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा और उद्देश्यों का ठीक प्रचार 'श्रद्धा' का मुख्य उद्देश्य है। परन्तु यतः ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध संसार की सब स्थितियों के साथ है, इसलिए संसार की सब घटनाओं को ही 'श्रद्धा' की कसौटी पर परखना 'श्रद्धानन्द' का काम होगा। मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और मनुष्य के लिए स्वाभाविक समझता हूं। इसलिए इस 'श्रद्धा' के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा यात्रा पर भेजा करूंगा। ....मैंने ब्रह्मचर्य आश्रम

के पुनरुद्धार को ही सब विषयों, समाचारों का प्रधान लक्ष्य रखा है। ....मातृभूमि की भक्ति बिना मनुष्यमात्र को अपना भाई नहीं समझा जा सकता। इस भूलोक की सारी मही का उत्तम फल भारतभूमि थी और अब भी है। केवल भारतपुत्रों ने धर्म के आदर्श से गिर मातृभूमि के गौरव को घटाया और उसके साथ ही सारे संसार में भोग और स्वार्थ का राज फैल गया। संसार से यदि भोग और स्वार्थ का राज नष्ट करना हो तो पहले भारतभूमि का तेज पुनः उत्तेजित होना चाहिए। वह आत्मिक तेज ही सारे संसार में भोग की प्रधानता का नाश करके शांति का राज स्थापन कर सकता है। अतः मातृभूमि के पुराने आत्मिक बल को फिर से जगाना 'श्रद्धा' का काम होगा।" ऊपर बताये गये 'श्रद्धा' के अन्तिम काम पर मनुष्यमात्र के भ्रातृभाव के नाम से अपने राष्ट्र की उपेक्षा करने वालों को कुछ अधिक ध्यान देना चाहिये। यही स्वामी जी का 'राष्ट्र-धर्म' था। स्वामी जी की इस स्वदेशभक्ति में दूसरों के प्रति घृणा, तिरस्कार और उन पर शासन करने की आसुरी-लालसा की गन्ध भी नहीं थी। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम से स्वामी जी की राजनीतिक-विचार-सरणि को भी समझा जा सकता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी की राजनीति पर धर्म का एक खोल चढ़ा हुआ था, जिससे कांग्रेस की सूखी राजनीति पर विश्वास रखने वाले नेताओं के साथ आपका निभना कठिन था। 'श्रद्धा'

के कार्यक्रम में स्वामी जी ने अपनी आत्मा का पूरा और वास्तविक चित्र अंकित कर दिया था। 'श्रद्धा' के उक्त कार्यक्रम को सामने रखते हुए ही ब्रह्मचर्य-सूक्त और मानव-धर्म-शास्त्र की व्याख्या प्रति अङ्क में क्रमशः नियमपूर्वक की जाती थी, जिसको स्वामी जी स्वयं लिखते थे। राजनीतिक-क्षेत्र से अलग होजाने पर भी आपका 'श्रद्धा' के द्वारा ही उसके साथ मानसिक-सम्बन्ध बना रहा था। स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल-समाचार आदि के अलावा सामयिक प्रसंगों पर भी आपके विचार 'श्रद्धा' द्वारा खुले शब्दों में प्रगट किये जाते थे। खिलाफ़त के प्रश्न को लेकर मुसलमानों में उठे हुए 'हिजरत' के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"मेरे भाइयो! भागना कायरों का काम है। हम यहां ही रहेंगे, यहां ही जियेंगे और इसी पवित्र भूमि में माता की सेवा करते हुए प्राण त्यागेंगे। यहां से 'हिजरत' के स्थान में यहां ही शहीद बनेंगे। अपने सहन तथा तप से गोरी जातियों के कठोर हृदयों को भी ऐसा पिघला दें कि उन्हें भारत के एक-एक बच्चे से दीन प्रार्थना करनी पड़े और बृटिश गवर्नमेण्ट के प्रतिनिधि यह कहने के लिये विवश हों कि 'उठो भारत के सच्चे पुत्रों और उसकी सच्ची पुत्रियो! अपनी अमानत को संभालो क्योंकि अब हम अमानत में ख़यानत नहीं करना चाहते।" पंजाब के मार्शल-लॉ के ख़ूनी शासन के सम्बन्ध में नियुक्त सरकारी हण्टर कमेटी की रिपोर्ट की आपने 'श्रद्धा' में विस्तृत और तीव्र

आलोचना करते हुए बहुत बुरी धज्जियां उड़ाईं थीं। लोकमान्य तिलक के देहावसान पर 'राजनीति का सूर्यास्त' शीर्षक से आपने 'श्रद्धा' में एक मुख्य लेख लिखा था—"भारतवर्ष में राजनीति को अंग्रेज़ी पढ़ों के पुस्तकालयों से बाहर निकाल कर जनता की झोंपड़ियों में पहुँचाने वाले अगुवा वही थे। 'केसरी' पहिला राजनीतिक पत्र है जो किसानों की झोंपड़ियों और मज़दूरों की गोष्ठियों में पढ़ा जाना शुरू हुआ था और गणपति-पूजा पहिला संगठन है जिसने जनता के बड़े भाग को एक राजनीतिक सूत्र में पिरो दिया था। राजनीति का सूर्य अस्त होगया। फिर क्या अन्धेरा हो जायगा ? हे पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाली भारत प्रजा ! सूर्य अस्त होगया, परन्तु उसका अत्यन्ताभाव नहीं हुआ। जो काम एक सूर्य करता था, उससे प्रकाश पाये हुए सहस्रों तारे उसको पूरा करेंगे। भारतमाता के उज्ज्वल मुखकी ओर देखो, उसका मुख मलिन नहीं है; क्योंकि वह जानती है कि जो प्रकाश उसके समर्थ पुत्र ने फैलाया था, वह एक-एक भारत-पुत्र ने अपने अन्दर सुरक्षित कर लिया है। लोकमान्य तिलक के विछोड़े पर कौन आंसू न बहाएगा ? विवश होकर अश्रुधारा बह निकलती है। परन्तु वह देखो विद्युत् के अक्षरों में सूर्य लोक पर लिखा हुआ है—"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसको प्राप्त करूंगा।" इन राजनीतिक विचारों के साथ-साथ 'श्रद्धा' में पंजाब में आर्यसमाज के दो दलों को एक करने, उसकी

प्रगति और सार्वदेशिक-सभा की ओर से मद्रास-प्रचार तथा कन्या-गुरुकुल की स्थापना के लिये आंदोलन तथा गुरुकुल के सम्बन्ध में किये जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण किया जाता था ! आर्यसमाजियों की इस धारणा की भी 'श्रद्धा' में अच्छी आलोचना की गई थी कि आर्यसमाज का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । 'वैदिक धर्म और वर्तमान आर्यसमाजी,' 'आर्य कौन है ?' 'यदि इतना ही समय अपने सुधार में लगाया जाता,' 'वैदिक धर्म किन अर्थों में सार्वदेशिक है ?,' 'क्या धर्मसभा सिद्ध करके बच जाओगे?' और 'क्या संसार में वोल्शेविज़्म का राज होगा ?' इत्यादि लेख आर्य-समाजियों में राजनीतिक तेजस्विता, स्फूर्ति और उत्साह पैदा करने के लिये ही लिखे गये थे ? इनमें आर्यसमाजियों से खण्डनात्मक कार्य त्याग कर वैयक्तिक आचरणों द्वारा मंडनात्मक कार्य करने के लिए भी ज़ोरदार अपील की गई थी । दलितोद्धार के लिये 'श्रद्धा' में निरन्तर आंदोलन किया गया था । इस सम्बन्ध में 'सात करोड़ को गंवाकर क्या स्वराज्य मिलेगा ?' शीर्षक से लिखा गया लेख आज भी मनन करने योग्य है । गुरुकुल से अलग होने से पहले 'मेरा भविष्य का कार्यक्रम' शीर्षक से लिखे गए लेख में लिखा था—"इस में सन्देह नहीं कि डाक्टरों की सम्मति में मुझे आराम ही आराम करना चाहिए, कार्य से सर्वथा बचना

चाहिये। परन्तु मेरी प्रकृति ऐसी बनी हुई है कि आराम में मुझे मौत और कार्य में मुझे जीवन प्रतीत होता है। यह अवश्य है कि कार्य उतना ही करूंगा, जितनी मुझ में शक्ति है, परन्तु विना कार्य के मैं सन्तोष से नहीं बैठ सकता। मनुष्य की शक्ति अल्प है, जीवन थोड़ा है, इस को अधिक से अधिक लाभदायक बनाना चाहिये। इसलिये मेरा संकल्प यह है कि जहां कहीं भी सुगमता से मेरे उद्देश्य की पूर्ति की आशा होगी वहीं जा सकूंगा, अन्य स्थानों पर नहीं।" यही भावना थी जिससे आप जीवन की अन्तिम घड़ी तक सदा कार्य में ही लगे रहे और बाद में ईर्ष्या पैदा करने वाली मृत्यु द्वारा अपने कार्य की शृंखला को सदा के लिये दृढ़ बना गये। गुरुकुल से चले आने के बाद सन् १९२१ के अक्तूबर के मध्य, आश्विन सम्वत् १९७८, को 'श्रद्धा' बन्द हो गई। 'श्रद्धा' ने अपने पौने दो वर्ष के अल्प से जीवन में दूसरे समाचार-पत्रों के दीर्घ जीवन से कहीं अधिक काम कर दिखाया।

(ग) गुरुकुल के लिये स्थिर फण्ड

९ श्रावण सम्वत् १९७७, २३ जुलाई सन १९२०, के 'श्रद्धा' के अङ्क में 'भारतवासियों पर गुरुकुल के अधिकार' शीर्षक लेख में स्वामी जी ने गुरुकुल के लिये बीस लाख रुपए की अपील की थी और बीस लाख का स्थिर फण्ड जमा करने

के लिए समस्त भारत तथा वर्मा का दौरा करने का भी आपने संकल्प प्रगट किया था। ५ भाद्रपद की 'श्रद्धा' में 'गुरुकुल कांगड़ी की वर्तमान दशा' के शीर्षक से लिखे गए मुख्य लेख में स्वामी जी ने लिखा था—"आज............भाद्रपद मास की पहली तारीख है। आज ही मैं गुरुकुल के लिए स्थिर राशि एकत्र करने के उद्देश्य से कुलभूमि से बाहर जा रहा हूं। ....मैं कलकत्ता से काम शुरू करूँगा। मेरा विचार यह है कि भारतवर्ष का कोई कोना भी ऐसा न छूटे, जहां भिक्षा के लिए मैं न पहुंचूँ। ....कलकत्ता से मद्रास जाकर मुझे कुछ दिन उस प्रान्त में सार्वदेशिक-सभा की ओर से धर्म-प्रचार करना और कराना होगा। वहां से बम्बई टिक कर काम करूंगा। बम्बई से लौट कर कुछ दिन गुरुकुल में बिता ब्रह्मदेश पहुंचने का विचार है। नवम्बर मास के मध्य से दिसम्बर के मध्य तक वहीं रहूंगा। ब्रह्मदेश से लौटकर पंजाब के ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में घूमने का संकल्प है। पञ्जाब की जनता में गुरुकुल के लिये असीम प्रेम है। गुरुकुल-कांगड़ी ने देवियों के हृदय में विशेष स्थान बना लिया है। यदि आज से ही वे मुझे भिक्षा देने की तैयारी करने लग जायं तो आश्चर्य नहीं कि ५—६ लाख रुपया पञ्जाब से ही एकत्र हो जाय। जगा देना तथा दानशीलता की ओर ध्यान दिला देना भिक्षुक का काम है और अपना कर्तव्य पालन करना दानियों के अधीन है।"

२ आश्विन की 'श्रद्धा' में फिर आपने लिखा—"कलकत्ता से मेरा विचार धर्म-प्रचारार्थ मद्रास-प्रान्त की यात्रा का था। कलकत्ता में मैं ऐसा अस्वस्थ हो गया कि मुझे कलकत्ता से सीधा गुरुकुल लौटना पड़ा। जीवन शेष है तो मद्रास को फिर कभी अनुकूल ऋतु में जाऊंगा।" इस प्रकार मद्रास और बम्बई का कार्यक्रम तो पूरा न हो सका, किन्तु अतिसार से शिथिल गात होने पर भी आप ७ कार्तिक सम्वत् १९७७, २२ अक्तूबर सन् १९२० को गुरुकुल से वर्मा के लिये चल दिये। मार्ग में दानापुर-आर्य-समाज के उत्सव पर दो भाषण दिये। २५ को प्रातः कलकत्ता पहुंच कर २७ के प्रातः आप 'अंगोरा' जहाज़ से वर्मा के लिये विदा हुए। २९ की शाम को ५ बजे वर्मा पहुंचे। वर्मा में प्रायः सभी शहरों में आपके स्वागत के लिये स्वागत-समितियों का संगठन किया गया था और सभी स्थानों पर आपका अभूतपूर्व हार्दिक स्वागत हुआ था। ३० नवम्बर, १६ मार्गशीर्ष, को वर्मा से कलकत्ता के लिये विदा होकर मार्ग में इलाहाबाद आनन्द-भवन में पं० मोतीलालजी नेहरू के यहां ठहरते हुए २२ मार्ग-शीर्ष को आप गुरुकुल लौट आये थे। गुरुकुल में आपकी इस सफलयात्रा के लिये हर्ष मनाया गया और उसके उपलक्ष्य में सब ब्रह्मचारियों को उस दिन छुट्टी दी गई। वर्मा में इन ३१ दिनों में आपको १४ मानपत्र दिये गये, जिनके लिये कृतज्ञता प्रगट करते हुए आपको प्रायः एक अच्छा लम्बा भाषण ही देना

पड़ता था। उनके अलावा आपको साठ भाषण और देने पड़े होंगे। वर्मा की आधी से अधिक भूमि का आपने चक्कर लगाया और कोई दो लाख से अधिक स्त्री-पुरुषों को वैदिक-धर्म और मातृभूमि का सन्देश सुनाया। नौकरशाही के भय से धनाढ्य आपका दिल खोल कर स्वागत नहीं कर सके और आपके कार्य में हाथ भी नहीं बटा सके। फिर भी ६० हज़ार रुपया आप गुरुकुल के लिये एकत्र कर ही लाये, जिससे गुरुकुल के आयुर्वेद और कृषि के दो उपाध्यायों की गद्दी स्थिर हो गई। इस दृष्टि से भी वर्मा की यात्रा कुछ कम सफल नहीं हुई। यद्यपि इस सम्बन्ध में स्वामीजी की सम्पूर्ण आकांक्षा पूरी नहीं हुई थी।

(घ) 'प्रकाशपार्टी' की फिर अड़ंगा-नीति

इस प्रकार स्वामी जी गुरुकुल को स्थिर और उन्नत बनाने में लगे हुए थे कि प्रतिनिधि-सभा के कुछ सदस्यों के साथ आप का पुराना मतभेद फिर उठ खड़ा हुआ। लाहौर की 'प्रकाश-पार्टी' ने फिर अड़ंगानीति से काम लेना शुरू किया और 'प्रकाश' के सम्पादक महाशय कृष्ण जी ने अपने पत्र में गुरुकुल के उद्देश्य को लेकर फिर वही पुराना राग अलापना शुरू किया। श्री रामदेव जी अब गुरुकुल में नहीं थे, इसलिये उन्होंने भी इस काम में उनका पूरा हाथ बटाया। स्वामी जी ने पहिले इस सब विरोध

को सहन करना ही उचित समझा। इसीलिये आपने गुरुकुल के संचालन के लिये नियुक्त उपसमिति के सदस्य श्री विश्वम्भर-नाथ जी को १४ अप्रैल सन् १९२० के पत्र में लिखा था—"अन्तरंग-सभा के अधिकारों के सम्बन्ध में महाशय कृष्ण को लिखा हुआ मेरा पत्र आप ने देखा होगा। मैंने गुरुकुल आने में चाहे भूल ही क्यों न की हो, पर आप तथा अन्य गुरुकुल-प्रेमियों की अपील पर ही मैं यहां आया हूं और कम से कम तीन वर्ष लग कर यहां काम करना चाहता हूं। मैंने अपने विचार और मन्तव्य कभी किसी से छिपाये नहीं, इसलिये आप, कृष्ण, नारायणदत्त, गंगाराम तथा अन्य सज्जनों ने जब अन्तरंग में मेरे गुरुकुल आने का प्रस्ताव उपस्थित किया था और सभा ने उस को स्वीकार किया था तब सब सोच-समझ कर ही किया होगा।" इस के बाद इसी पत्र में आप ने आर्य-समाज के नेताओं के साथ अपने मतभेद को प्रकट किया था। पत्र के उस हिस्से का आशय यह था—"पहली बात जिस से मैं सहमत नहीं हूं यह है कि गुरुकुल को किसी भी सरकारी विश्वविद्यालय के साथ सम्बन्धित करना भारी भूल होगी। यदि शिक्षा का सब अधिकार देशी मन्त्रियों के हाथ में चला जाय, तो भी गुरुकुल पद्धति से शिक्षा देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। दूसरा मतभेद उपदेशकों के सम्बन्ध में है। मेरा यह मत है कि आजकल के शास्त्रार्थ वास्तविक धर्म-प्रचार के लिये

बड़ी भारी बाधा हैं। इस लिये मैं अपने शिष्यों में अन्य धर्मों के विरुद्ध खण्डनात्मक भाव भरने की अपेक्षा उन के सामने उन सब की अच्छाइयां रक्खूंगा और उन को बताऊंगा कि इन सब अच्छाइयों का मूल वेद है। सम्भव है गुरुकुल से इस प्रकार की शिक्षा से निकलने वाले उपदेशकों से आप लोग सन्तुष्ट न हों। तीसरी बात वैदिक धर्म के साथ राजनीति के सम्बन्ध की है। यदि इस सम्बन्ध में इस समय के आर्यसमाज के नेता यह समझते हैं कि उन का और अधिकांश आर्य-समाजियों का मत मुझ से नहीं मिलता है तो यह आप का धार्मिक कर्त्तव्य है कि आप मुझ को उस की तुरन्त सूचना दे दें, जिस से मेरे कारण आप में से किसी को भी कुछ उलझन में न फंसना पड़े।" इस पत्र से मतभेद के मूलभूत कारणों का पता लगता है और साथ ही स्वामीजी की उदार-धार्मिक-वृत्ति का भी, जिस का यह स्वाभाविक परिणाम है कि गुरुकुल की परम्परा ही कुछ ऐसी हो गई है कि वहां के स्नातकों की मनोवृत्ति में न तो कट्टरता है और न साम्प्रदायिकता, अपितु उदारता, सहिष्णुता और राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी रहती है।

स्वामी जी के स्वास्थ्य की दृष्टि से बनाई गई तीन सज्जनों की उपसमिति के सम्बन्ध में भी कुछ लोगों को शिकायत थी। उस को तोड़ने और सभा के अधिवेशनों में स्वयं उपस्थित होने

में असमर्थता प्रगट करते हुए आपने सभा के उस समय के मन्त्री महाशय कृष्ण जी को भी २८ चैत्र सम्वत् १९७६ को एक पत्र लिखा था, जिस में गुरुकुल आने के समय पेश की गई शर्तों को स्वीकृत कराने अधिष्ठाता तथा आचार्य के अधिकारों को अन्तरंग सभा से स्पष्ट कराने और यदि स्वास्थ्य काम करने योग्य रहा तो तीन वर्षों तक निरन्तर काम कर देने के सम्बन्ध में लिखा था। शिमला, अब देहली, के रायसाहब गंगाराम जी को भी २० आश्विन सम्वत् १९७७ के पत्र में आप ने लिखा था—"आप को शायद मालूम नहीं कि मेरे साथ की गई सब शर्तें तोड़ दी गई हैं। आप के साथ हुए फ़ैसले के अनुसार तो मैं यहां एक पल भी नहीं रहता, परन्तु अब प्रतिज्ञा कर दी है कि ऐसी अवस्था में भी ११-२-२० से ११-२-२३ तक काम कर दूंगा। यदि आप लोगों को मुझ से काम बिगड़ता दीखे तो स्पष्ट लिख दीजिये मैं उसी समय अलग हो जाऊंगा।" इस पत्र के उत्तर में रायसाहब गंगाराम जी ने भी स्वीकार किया था कि स्वामी जी के साथ की गई शर्तें तोड़ दी गई थीं।

स्वामी जी के इन पत्रों पर भी 'प्रकाश' सम्पादक का गुरुकुल के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण आन्दोलन बढ़ता चला गया। यह आन्दोलन उस समय जोरों पर था, जब स्वामी जी गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये बीस लाख रुपया जमा करने के लिये

समस्त भारत के दौरे पर निकलने की तैयारी कर रहे थे। गुरुकुल के आदर्श के सम्बन्ध में इतने विचित्र लेख लिखे गये कि उस समय के गुरुकुल के सहायक-मुख्याधिष्ठाता प्रो० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति को ९ माघ १९७७ की 'श्रद्धा' में उनके सम्बन्ध में यह लिखना पड़ा था—"कोई अनजान यदि ऐसी बात कहता तो दुःख न था, पर दुःख तो यह है कि गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव से तीन मास पूर्व, जब कि आर्यपुरुष गुरुकुल के लिये चन्दा जमा करने की तय्यारियों में थे, 'प्रकाश' सम्पादक म० कृष्णजी ने आर्य जनता को यह बतलाकर बहकावट में डाल दिया है कि गुरुकुल का उद्देश्य अभी निश्चित होने को है। जब म० कृष्णजी ने इतनी अनभिज्ञता प्रगट की तो क्या आश्चर्य था कि 'आर्य गज़ट' को गुरुकुल के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखने का अवसर मिल गया ? 'आर्य गज़ट' के लेख की उपेक्षा हो सकती है, पर म० कृष्णजी की भूल की उपेक्षा नहीं की जा सकती।" इसी लेख के अन्त में कृष्णजी से प्रार्थना की गयी थी कि गुरुकुल पर समाचार-पत्रों में तिरछे वार करना छोड़ कर प्रतिनिधि सभा अथवा अन्तरंग सभा में गुरुकुल के उद्देश्य का प्रश्न उपस्थित करके उसका निबटारा करवा लें। पर, 'प्रकाश' सम्पादक ने तिरछे वार करने बन्द नहीं किये। स्वामी जी के हृदय पर इन तिरछे वारों से लगी हुई चोट का अनुमान उन पत्रों से किया जा सकता है, जो उन्होंने इस सम्बन्ध में

सभा के मंत्री और प्रधान को लिखे थे। सभा के प्रधान को आपने १४ अप्रैल सन १९२१, २ वैशाख १९७८ को लिखा था—"मैं जानता हूं कि एक ओर तो अधिकारी और अन्तरंग सभा के सभासद् मुझे कहते जायंगे कि मैं कुछ काम न करूं और आराम से बैठा रहूं, दूसरी ओर प्रबन्ध की शिथिलता में मेरी बदनामी भी फैल जायगी। अब लाचारी है। स्वास्थ्य पर ध्यान रखे बिना ही काम करना पड़ेगा और करूंगा। परन्तु फिर भी जब आप लोगों की जबानी हमदर्दी हुआ करेगी तो मुझे आप लोगों की मानसिक दशा पर शोक हुआ करेगा।" मन्त्री को बटाला से १३ जून सन् १९२० को लिखा था—"गुरुकुल का कार्यभार पुनः सम्हालने मे पहिले यदि मुझे उन कठिनाइयों का पता लग जाता, जो इसके मार्ग में पड़ चुकी हैं, तो मैं फिर से काम सम्हालने का साहस नहीं करता। परन्तु जब एक बार बोझ उठा चुका हूं तो किसी मंजिल तक उसे पहुंचाने का यत्न करूंगा।" पर, 'प्रकाश' सम्पादक ने सीमा का इतना उल्लंघन कर दिया कि स्वामीजी को गुरुकुल से अलग होने का ही निश्चय करना पड़ा। आपने वह त्यागपत्र, जो असहयोग के प्रकरण में दिया गया है, सभा के प्रधान जी की सेवा में लिख भेजा। ३ ज्येष्ठ ७८ को आपने मन्त्री के नाम लिखे गये पत्र में लिखा—"आपने 'श्रद्धा' में मेरा लेख और उस पर ८ तथा १५

मई के 'प्रकाश' में प्रो० रामदेव की आलोचना पढ़ी होगी । यतः प्रो० रामदेव और महा० कृष्ण अनुचित प्रकार से मुझे बदनाम करके अपना मतलब सिद्ध करना चाहते हैं और न केवल 'प्रकाश' में प्रत्युत 'प्रताप' द्वारा भी मेरे विरुद्ध अन्धेर मचा रहे हैं। इसलिये मैं सभा के अधिवेशन में पहुंच कर गुरुकुल से अलग होने के सारे कारण वर्णन कर देना चाहता हूं, जिससे भविष्य में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली स्वार्थियों के स्वार्थ का शिकार न होती रहे।" ६ ज्येष्ठ सम्वत् १९७९ को देहली से आपने प्रधानजी की सेवा में फिर लिखा था—"मैंने सभा में कुछ कहने की आज्ञा मांगी थी और एक पत्र 'प्रकाश' में छपवाने को भेजा था। उस पर कृष्णजी का उत्तर आया कि आपने तथा पं० विश्वम्भरनाथजी ने उसे छपने से रोक दिया है । मैंने उनको लिख दिया है कि उस पत्र को लौटा दें। अब उस विषय में कुछ न लिखूंगा। मेरे विरुद्ध जो कुछ फैलना था, वह फैल चुका और आगे भी जो गुप्त और प्रसिद्ध रीति से फैलेगा, वह भी फैलता रहे। मैं नोटिस नहीं लूंगा। अब तो लाहौर भी नहीं जाऊंगा, न कुछ सभा को सुनाऊंगा। गुरुकुल से जो त्यागपत्र भेजा था, बल्कि जिस पर अमल कर छोड़ा है, उसे ही काफ़ी समझता हूं। ······ आपकी सभा के साथ अब मेरा सम्बन्ध समाप्त हुआ।" पर, इसके बाद भी सभा के प्रधान और मन्त्री के आग्रह पर आपने २८ मई की प्रतिनिधि-सभा के अधिवेशन

में कुरुकुल से अलग होने के सब कारण निवेदन कर दिये थे ।

म० कृष्ण और आचार्य रामदेव जी के प्रति सर्वसाधारण आर्यसमाजियों के भावों का पता इससे लग जाता है कि समाजों में आप दोनों के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव पास होने शुरू हो गये थे। स्वामी जी ने इस प्रवृत्ति को रोका और ऐसे आर्यसमाजों के नाम इस आशय के पत्र लिखे कि "यह जान कर दुःख हुआ कि आप की अन्तरंग-सभा ने महाशय कृष्ण और प्रोफेसर रामदेव पर मेरे कारण 'मलामत का वोट' पास किया है। ये दोनों सज्जन आर्यसमाज की दिल से सेवा कर रहे हैं। यदि वे सच्चे दिल से मेरे अमल को आर्यसमाज के लिये हानिकारक समझते हैं तो क्यों न मेरे विरुद्ध लेखनी उठायें ? यदि मेरा अपराध न होगा, तो मुझे कोई जोखम नहीं और यदि सचमुच मेरा अपराध है तो उस से लोगों को सावधान रहना ही चाहिए। ....महाशय ! आर्यसमाज में पहले ही काम करने वाले कम हैं। आप क्यों दो श्रेष्ठ काम करने वालों को धर्म-सेवा से उदासीन करने का पाप अपने सिर पर लेते हैं ? कृपा कर के 'मलामत का प्रस्ताव' वापिस लीजिये और जिन कठोर वचनों का आपने प्रयोग किया है, उन्हें लौटा लीजिये।"

इस प्रकार इस बार भी गुरुकुल से जुदा होने की कहानी पहली कहानी की पुनरावृत्ति है। ऊपर पत्रों में से केवल कुछ

अवतरण दे दिये गये हैं और उनपर ऊपर से कुछ भी नहीं लिखा गया है, केवल इसीलिये कि किसी को कुछ कहने का अवसर न रहे। फिर ये सब इतने स्पष्ट हैं कि उन पर कुछ लिखने की आवश्यकता भी नहीं है।

(ङ) असिद्ध स्वप्न

इस बार भी स्वामी जी गुरुकुल के सम्बन्ध में अपना आदर्श पूरा नहीं कर पाये। गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये बीस लाख रुपया जमा करने को भारत के कोने-कोने और पञ्जाब के ग्राम-ग्राम तथा नगर-नगर घूमने का विचार भी कार्य में परिणत न हो सका। गुरुकुल की रजत-जयन्ती के समारोह में आप का सम्मिलित होना गुरुकुल के भाग्य में बदा न था। रजत-जयन्ती के निमित्त से आपने अपने अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'लिबरेटर' में गुरुकुल के चंदे के लिये विशेष लेख लिखे थे। देहावसान के कोई दो-ढाई मास पहले आपने 'माई स्पेशल अपील' (मेरी विशेष अपील) के शीर्षक से लिखा था—"इस के अलावा मैं सवा लाख की विशेष अपील करना चाहता हूं। गुरुकुल की स्थापना के समय से ही मैं घरेलू उद्योग-धन्धे की शिक्षा के लिये शिल्प-महाविद्यालय खोलने के यत्न में रहा हूं। दो उदार दानियों ने उस के लिये बड़ी धनराशि देने के वायदे भी किये, किन्तु दुर्भाग्यवश उन दोनों का शीघ्र ही देहावसान

हो गया। गुरुकुल से विदाई ले लेने पर भी मैं सेठ रघूमल जी से उक्त महाविद्यालय के लिये पांच लाख देने का आग्रह करता रहा। उन्होंने मुझ को स्कीम बनाने के लिये कहा ही था कि निठुर मौत ने उन को हमारे बीच में से उठा लिया। आशा है उन के ट्रस्ट के ट्रस्टी गुरुकुल के इस अधिकारपूर्ण दावे को नहीं भूलेंगे। पर, ऐसे दिन की प्रतीक्षा में हम को नहीं बैठे रहना चाहिये, जिस दिन इतना बड़ा कोई फ़राड हाथ में आये और काम शुरू हो। पचास हज़ार मकान के लिये, पचास हज़ार सामान के लिये और पैंतीस हज़ार चालू खर्च के लिये चाहिये। छोटी रकम से कुछ न होगा, १२५ उदार दानी ऐसे चाहियें, जो एक-एक हज़ार रुपया अपने पास से या मित्रों से इकट्ठा कर के भेज दें। कोई-कोई उदार दानवीर तो दो, पांच या दस हज़ार तक भी दे सकते हैं। अपनी प्रिय संस्था के लिये यह मेरी अन्तिम अपील है।" उस समय कौन जानता था कि यह अन्तिम ही अपील थी और उस के बाद अपनी प्रिय संस्था के रजत-जयन्ती के समारोह को पुनीत किये बिना ही आप इस संसार से चल बसेंगे।

आचार्य रामदेव जी को आपने काशी से गुरुकुल से अलग हो जाने के बाद एक पत्र लिखा था, उससे भी गुरुकुल के सम्बन्ध में आपकी उच्च आकांक्षा का पता लगता है। उसमें आपने लिखा था—"यहां से जो कुछ गुरुकुल के लिये उपयोगी शिक्षा ली जा

सकती है, वह लिखता हूं। यह सब थियासोफ़िकल हाईस्कूल में देख कर लिखने का विचार हुआ। गुरुकुल की शाखाओं में लुहार, तरखान और 'बालचर-विधि का प्रचार अवश्य होना चाहिये। कांगड़ी में फिर बालचर परिपक्व अवस्था में होकर बड़ा उपकार होगा। 'फ़र्स्ट एड' की शिक्षा भी होनी चाहिये। इन सब के लिये विचार करना हो तो जन्मोत्सव पर आपसे आकर मिल लूं। कृषि का काम ये बड़ा अच्छा सिखाते हैं और वह मनोरंजक भी होता है। सबसे बढ़ कर स्कूल के ८, ९, १० के साईंस क्लासों में क्रियात्मक शिक्षा बहुत दी जाती है। मेरे सामने लड़के स्याही, साबुन और अन्य वस्तुयें बनाते थे। गायन-विद्या एक ग्रेजुएट अध्यापक सिखाता है। उसकी विधि ऐसी देखी कि बालक राग में लिप्त भी न हों और सीख भी जायें। क्रियात्मक विज्ञान के विषय में प्रोफेसर नाग ने प्रोफेसर रामशरण जी को लिखने के लिये कहा है। इन सब बातों की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यहां का सरस्वती-भवन भी देखा। दो अन्वेषण करते हुए पंडित भी देखे। संस्कृत पुस्तकों का संग्रह बहुत अच्छा, अपूर्व भी, है। क्यों न आप आगामी होने वाले स्नातकों में से दो को तय्यार करें। यदि इस काम के लिए दो योग्य स्नातक तय्यार होजावें, तो मैं प्रेरणा कर सकता हूं कि दो छात्रवृत्तियों के लिए धन आ जावे। ४० रुपये मासिक छात्रवृत्ति गवर्नमेण्ट देती है, वही हम दें।"

वास्तव में स्वामी जी जिस किसी संस्था में जाते थे, उसको इस दृष्टि से ही देखते थे कि उसमें से गुरुकुल के लिए क्या लिया जा सकता है ? आप किसी भी संस्था से गुरुकुल को पिछड़ा हुआ नहीं देखना चाहते थे।

च. स्थान-परिवर्तन

सम्वत् १९८१, २८ सितम्बर सन् १९१४, में भयंकर बाढ़ आने के बाद गुरुकुल को उस भूमि से उठाकर इस पार लाने का प्रकरण भी यहां ही पूरा कर देना चाहिए। प्रो० रामदेवजी, महाशय कृष्ण जी तथा कुछ अन्य सज्जन गुरुकुल को उस पार से उठा लाने का दृढ़ निश्चय किये हुए थे। उनके इस निश्चय को लेकर हुए सब आंदोलन को यहां देने की आवश्यकता नहीं। तीन-चार स्थानों को लेकर विवाद चल रहा था। एक पुरानी भूमि से कुछ ऊपर कांगड़ी गांव के परे की भूमि, दूसरा गंगा के इस पार की भूमि, तीसरा पंजाब में कोई स्थान और चौथा देहली के कहीं आस-पास। स्वामी जी ने आपस की बातचीत और समाचार-पत्रों द्वारा अपना मत कांगड़ी गांव के ऊपर की भूमि के लिए ही प्रगट किया था और उसके बाद आप देहली के आस-पास आने के पक्ष में थे। इस सम्बन्ध में स्वामी जी के हृदय की भावना को यहां अंकित करना सम्भव नहीं है। वह केवल अनुभव और अनुमान का विषय है। गुरुकुल में ही अन्तरङ्ग-सभा

का अधिवेशन २१ अक्तूबर सन् १६२४ को करके इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय किया गया था। उसमें स्वामी जी भी उपस्थित थे। उस भूमि को छोड़ने का निश्चय हो जाने के बाद स्वामी जी उठ कर आचार्य के बंगले के पीछे, गंगा के ठीक किनारे पर लगे हुए, 'खटुए' के वृक्ष के नीचे आकर निस्तब्ध खड़े होगए। वाणी से अमृत की मधुर वर्षा करने वाले स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने आकर कुछ पूछने का यत्न किया तो स्वामी जी की आंखों से अश्रुधारा बह निकली। संन्यासी के हृदय में भी ममता का समुद्र उमड़ आया और वह आंखों के रास्ते से बाहर भी निकल पड़ा। वह सूखी सांसारिक-ममता नहीं थी, 'तपोभूमि' के उजड़ने तथा 'कर्मभूमि' के नष्ट होने का वह मर्मान्तक दृश्य था, जिसकी कल्पना तक स्वामी जी को रुला देती थी। यह प्रश्न उनके हृदय के मर्म-स्थल पर ऐसी सीधी-चोट करता था कि उसका सुनना भी उनके लिए सह्य न था। कितनी ही बार उन्होंने बातचीत करते हुए कितनों ही के सामने और अकेले में भी उसके लिए आंसू बहाये थे। उनकी इस मर्मान्तक वेदना का पता उस पत्र से लगता है, जो उन्होंने उस समय के मुख्याधिष्ठाता श्री विश्वम्भरनाथ जी को देहली से ८ श्रावण सम्वत् १६८१ को लिखा था। उसमें आपने लिखा था—"आपने गुरुकुल का जलवायु खराब बतला कर स्थान-परिवर्तन के लिए एक सब-कमेटी बनवाई है। उसके दो सभासद् तो पहिले ही से आपके

विचार के अनुकूल हैं। सभा ने यह समझा है कि मेरा कभी गुरुकुल से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा और मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ पूछना उचित नहीं समझा। समाचार पत्रों से मालूम हुआ है कि गुरुकुल को अकृत-कार्य सिद्ध कर के लाहौर में उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद डाली जायगी। जब आप की सम्मति में गुरुकुल केवल वैदिक-धर्म या आर्यसमाज के उपदेशक उत्पन्न करने के लिये ही स्थापित हुआ था और वह उद्देश्य उस से पूरा नहीं हुआ तो उस पर सवा लाख से अधिक धन खर्चने की क्या आवश्यकता है? स्थान-परिवर्तन के स्थान में आप यही सम्मति क्यों नहीं दे देते कि गुरुकुल को बन्द ही कर दिया जाय।" 'प्रकाश'-सम्पादक के गुरुकुल के उद्देश्य को लेकर उस के प्रतिकूल किये गये दस-ग्यारह वर्ष के निरन्तर आंदोलन का परिणाम लाहौर की उक्त उपदेशक-पाठशाला की बुनियाद थी। स्वामी जी की मर्मान्तिक वेदना की स्पष्ट अवहेलना कर के गुरुकुल भी गंगा के इस पार लाया ही गया।

इस सम्बन्ध में काशी के दैनिक 'आज' ने बिलकुल ठीक लिखा था—"कांगड़ी का गुरुकुल आप के अदम्य साहस और असीम देशभक्ति का फलस्वरूप है। हमें यह जान कर दुःख हुआ कि कई सहकारियों में अनबन हुई, जिससे स्वामी जी बड़े दुःखित हुए और उन का सम्बन्ध उस स्थान से कम होता गया।

इधर गंगा की भयंकर बाढ़ ने गुरुकुल को बड़ी हानि पहुंचाई। सम्भवतः इसी से वहां के कितने ही कार्यकर्ताओं की पुरानी इच्छा और भी पुष्ट हो गयी कि वहां से गुरुकुल को हटा कर दूसरे स्थान पर ले जांय। अब स्वामी जी के विरोध करते रहने पर भी यह निश्चय हो गया। स्वामी जी ने मर्म-स्पर्शी भाषा में अपने भावों को व्यक्त करते हुए इस पर दुःख प्रकट किया है और अपने हाथ के किये हुए कार्य से विदा ले ली है। हमारा भी मत है कि गुरुकुल के अधिकारी भूल कर रहे हैं। प्रत्येक शिक्षा-संस्था की परम्परा उसके मकानों के साथ एक जान हो जाती है और दूसरे स्थान पर जाने से वे भाव कदापि क़ायम नहीं रह सकते जो निर्माण के प्रारम्भिक कष्टों के समय उत्पन्न होते हैं और जो वहां की एक-एक ईंट से याद आते हैं। यही गलती काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के संचालकों ने की, जब अपना पुराना कमच्छा का भवन छोड़ वे नगवा जा बसे थे। धन के अपव्यय के अतिरिक्त उन्होंने पुराने सद्भावों का भी सब अपव्यय कर डाला। हमें दुःख है कि कांगड़ी के गुरुकुल वाले भी यही गलती कर रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्द अवश्य वहां से विदा होगये, पर स्वामी श्रद्धानन्द का नाम न वह संस्था और न वह भूतल ही भूल सकता है। आधुनिक भारत के शिक्षा-सुधारकों में भी उनका नाम अजर-अमर रहेगा, चाहे किसी को उनसे कितना ही मतभेद क्यों न हो ?"

(छ) कुलपति

गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता के कार्य से पहली ही बार अलग हो जाने के बाद से आप को गुरुकुल वासी और प्रवासी सब 'कुलपति' के नाम से याद करते थे। आप ने भी उस पद की जिम्मेवारी को बराबर निभाया। आप गुरुकुल को विस्तृत और लोकप्रिय बनाने का कार्य तथा आंदोलन बराबर करते रहे। गुरुकुल की शाखाओं तथा कन्या-गुरुकुल के स्थापित किये जाने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। नवसारी के पास सूपा में गुरुकुल की शाखा स्थापित कर के आपने गुजरात में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की विजय-पताका फहराई थी। मद्रास और बंगाल में भी उस के लिये यत्न जारी था। ता० १८ दिसम्बर सन् १९२५ को आपने श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति को लिखा था—"इस समय मद्रास के सब प्रान्तों में गुरुकुल खोलने की चर्चा चल रही है। स्थान-स्थान पर तय्यारी है। मैं तो फिर भी उधर जाकर मद्रास के प्रान्तों को हिलाऊंगा, परन्तु उस से कोई लाभ उठाने वाले होंगे, तभी काम चलेगा।" कलकत्ता के श्री तुलसीदत्त जी आर्य को बंगाल में गुरुकुल खोलने के लिये आप निरन्तर प्रेरित किया करते थे और इस सम्बन्ध में उनके साथ आप ने बहुत-सा परामर्श भी किया था। पर, आप का वह मनोरथ पूरा न हो सका। कुलपति के रूप में आप ब्रह्मचारियों तथा स्नातकों में भी सदा ही नवस्फूर्ति

पैदा करते रहते थे और वे आप की ओर प्रकाश पाने की आशा तथा विश्वास से सदा देखते रहते थे। सम्वत् १९७९ की फाल्गुन कृष्णा १० की पंजिका में गुरुकुल के कुल-पुत्रों के नाम एक सन्देश दर्ज है, जिस से ऊपर की पंक्तियों की यथार्थता का पता लगता है। वह सन्देश यह है—"भारतमाता के लिये पुत्रों को धन और तन की ही नहीं, मन के अर्पण करने की भी आवश्यकता है। उस के लिये ब्रह्मचर्यरूपी पूर्ण तप की आवश्यकता है। क्या तुम ने उस तप का अनुष्ठान किया है ? यदि नहीं तो आज ही शुद्ध हृदय-पूर्वक आरम्भ कर दो। तुम्हारे पुराने आचार्य को माता की सेवा में बलि देने के लिये तपस्वी पुत्रों की जरूरत है। क्या कोई आगे बढ़ेगा ? जगत्पिता तुम सब पर तेज की वर्षा करें। यह मेरा हार्दिक आशीर्वाद है" सन् १९२१ में असहयोग आंदोलन में वर्धा से गुरुकुल के पहले स्नातक के जेल जाने पर आप ने देहली से इस आशय का तार दिया था—"तुम्हारे जेल जाने के समाचार से मुझ को बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम्हारे आचार्य की बधाई तुम को जेल में भी प्राप्त हो।" गुरुकुल के सभी स्नातकों के सम्बन्ध में आप पूरी जानकारी रखते थे और उनको सदा ही उचित परामर्श देते रहते थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों और स्नातकों के लिये आप का वियोग ऐसी भारी क्षति है, जिसकी पूर्ति न हुई है और न होनी सम्भव है। गुरुकुल भी आप के वियोग से अनाथ-सा हो गया है।

७. आर्य-सार्वदेशिक-सभा और मद्रास प्रचार

(क) प्रधान-पद की जिम्मेवारी

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद स्वामी जी ने आर्य-सार्वदेशिक-सभा को हिलाने और जगाने का यत्न किया। पर, उस को जगाना एक असाधारण काम था। प्रान्तीय-प्रतिनिधि-सभाओं में अपने-अपने प्रान्तीय स्वार्थों के कारण कुछ जीवन दिखाई देता है, किन्तु सार्वदेशिक-सभा में किसी प्रान्त-विशेष का स्वार्थ नहीं—वह सब का काम है, इसीलिये किसी का भी नहीं है। सार्वदेशिक-सभा के प्रति उस के सदस्यों की उदासीनता एवं अकर्मण्यता से पैदा हुई उस की दुर्दशा का पता इसी से लग जाता है कि उस के साधारण अधिवेशनों में तो क्या, अन्तरंग-सभा के अधिवेशनों में भी पांच सभासदों का कोरम हाथ पैर मारने पर भी पूरा नहीं होता था। इस पर भी स्वामी जी उस में जीवन फूंकने की चेष्टा में बराबर यत्नशील रहे। स्वर्गीय सेठ रग्घूमल जी की सहायता से देहली के आस-पास कन्या-गुरुकुल खोलने का पहला यत्न स्वामी जी ने इस सभा की ओर से ही किया था। मद्रास में दलितोद्धार और वैदिक-धर्म के सब प्रचार के श्रेय का सेहरा भी आप इस सभा

के माथे ही बांधना चाहते थे। सभा के सभासदों की पूर्ण उपेक्षा पर भी आप ने उस के लिये अकेले ही कमर कस ली। संवत् १९७४ में मद्रास-प्रान्त में योग्य उपदेशक भेजने का प्रस्ताव पास करने के बाद भी उस पर वर्षों तक अमल नहीं किया गया था। इस काम के लिये प्रांतीय-प्रतिनिधि-सभाओं ने अपने जिम्मे ली हुई रकम तीन-चार वर्ष तक भी नहीं भेजी थी। ५ आषाढ़ सम्वत् १९७७ को 'श्रद्धा' में आप ने इसी काम के लिये फिर पांच हज़ार रुपये की अपील की थी और गुरुकुल के दीर्घावकाश में स्वयं भी मद्रास जाने का विचार प्रगट किया था। २३ श्रावण सम्वत् १९७७ को 'श्रद्धा' में फिर आपने लिखा था—"मद्रास में उच्च कोटि का प्रचारक भेजने के लिये पन्द्रह सौ रुपये का बजट रखा गया, किन्तु केवल पञ्जाब प्रतिनिधि सभा की ओर से उस के लिये साढ़े तीन सौ रुपये आए। संयुक्त प्रांत की सभा के अधिकारियों ने प्रतिज्ञा की हुई है कि जो रकम पंजाब सभा देगी उतनी ही वह भी देंगे, अर्थात् साढ़े तीन सौ रुपये नकद और साढ़े तीन सौ रुपये वायदा। इतने ही में सार्वदेशिक-सभा के प्रधान ने लंगोटी में फाग खेल डाला और ५ आषाढ़ के 'श्रद्धा' पत्र में ५ हज़ार की अपील निकाल कर प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार को मद्रास की ओर विदा कर दिया। "प्रो० सत्यव्रत जी ने मद्रास पहुंच कर हिंदी का प्रचार शुरू किया। स्वामी जी का इस सम्बन्ध में यह स्थिर मत था कि "हिंदी प्रचार वैदिक-धर्म

को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन है। इसलिये मैं धर्म-प्रचार के साथ इस पर भी अधिक बल दे रहा हूं।" इस लेख में आपने अपने मद्रास जाने का कार्यक्रम देते हुए वहां स्थिर तथा निरन्तर काम करने और उसी वर्ष मद्रास प्रांत में कुम्भकोणम् नगर में होने वाले कुम्भ पर वैदिक-धर्म के प्रचार की आवश्यकता की ओर भी आर्य जनता का ध्यान आकर्षित किया था। इस काम के लिये फिर आपने सार्वदेशिक-सभा की ओर से दस हज़ार रुपयों की अपील की थी। कलकत्ता से आप को, स्वास्थ्य गिर जाने के कारण, एकाएक लौटना पड़ा। मद्रास जाने का कार्यक्रम इस वर्ष पूरा नहीं हो सका। कलकत्ता जाते हुए आप गुरुकुल-विश्वविद्यालय के दो और योग्य स्नातकों को भी मद्रास छोड़ आने के लिये साथ ले गये थे। पंडित देवेश्वर जी सिद्धान्तालङ्कार को आपने इन्हीं दिनों में मद्रास-प्रचार के लिये ही भेजा था। श्री सत्यव्रत जी और श्री देवेश्वर जी ने बड़ी योग्यता और तत्परता के साथ उस प्रांत में दो वर्ष तक प्रचार किया। उन द्वारा स्थापित 'दयानन्द-ब्रह्मचर्य-आश्रम' अभी तक चल रहा है। मसोर में पंडित भीमसेन जी विद्यालंकार और पं० गोपालदत्त जी शास्त्री को प्रचार-कार्य के लिये ही भेजा था। इस प्रकार दक्षिण में प्रायः सभी स्थानों पर कार्यकर्त्ताओं को नियुक्त करने में आप लगे हुए थे।

(ख) दक्षिण-भारत की धर्म-यात्रा

मद्रास-प्रांत में वैदिक-धर्म-प्रचार की चर्चा आर्यसमाज में बहुत पहिले से जारी थी। आर्यप्रतिधि-सभा-पंजाब की ओर से उसके लिये धन-संग्रह भी किया गया था। स्वामी जी की दृष्टि भी उधर बहुत समय से थी और इस सम्बन्ध में उनकी उच्च-आकांक्षा भी बहुत बड़ी थी। आप मद्रास-प्रांत के प्रत्येक केन्द्र में गुरुकुल के एक-एक स्नातक को बिठा देना चाहते थे। गुरुकुल के उप-स्नातकों को उसके लिये प्रेरित भी किया करते थे। उस प्रेरणा का ही परिणाम है कि पंडित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति और पं० केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धान्तालङ्कार पंजाब के सीमा-प्रांत को छोड़ कर मद्रास-प्रांत में जा बसे हैं। अमृतसर-कांग्रेस पर आपने कांग्रेस का अछूतोद्धार की ओर जो ध्यान आकर्षित किया था, उससे प्रभावित होकर मद्रास-प्रांत के नेता दीवान माधवराव, 'हिन्दू' के स्वर्गीय-सम्पादक श्री कस्तूरी रंगा अय्यंगर और वयोवृद्ध कांग्रेस-नेता श्री सी० विजयराघवाचार्य आदि ने आपसे मद्रास-प्रांत के दौरे के लिये अत्यन्त आग्रह किया था और आपको यह आशा भी दिलाई थी कि जिस प्रकार मार्शल-लॉ से पीड़ित पंजाब के लिये आपकी अपील पर मद्रास ने ३५ हजार की सहायता प्रदान की थी, वैसे ही दलितोद्धार के काम के लिये भी मद्रास आपकी अपील पर दिल खोलकर आपका साथ देगा। मद्रास जाने की चिर-संचित आकांक्षा सन् १९२४

के अप्रेल मास, सम्बत् १९८२ में पूरी हो सकी। आपने २५ अप्रेल को देहली से मद्रास के लिये प्रस्थान किया। २७ अप्रेल से १ मई तक बम्बई रहे, जहां मारवाड़ी-बालिका-विद्यालय आदि स्थानों की सार्वजनिक सभाओं में और दूसरे स्थानों पर दलित भाइयों की सभाओं में आपके कई भाषण हुये। दलित भाइयों को आपने यह सन्देश दिया—"यदि तुम्हें बाह्य मन्दिरों में जाकर देव-दर्शन करने से रोका जाता है, तो अपने अन्तरात्मा के पवित्र मन्दिर में सर्वव्यापक परमात्मा का दर्शन और पूजा करना सीखो, जहां जाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। अपने बुजुर्गों की तरह अपना सिर कटवा दो, परन्तु धर्म न छोडो।" बम्बई में आप जुहू जाकर महात्मा गान्धी जी से भी मिले। हिन्दू-संगठन का काम करने वाले कार्यकर्ताओं और स्वामी जी के प्रति महात्मा जी के मन में जो सन्देह पैदा कर दिये गये थे, उन पर खूब खुल कर चर्चा हुई। संगठन के काम में पड़ने के बाद स्वामी जी की महात्मा जी के साथ यह पहिली ही मुलाकात थी। २ और ३ मई को पूना में आपके व्याख्यान हुये और आप महाराष्ट्र-प्रान्तीय-राष्ट्रीय-शिक्षण-परिषद के सभापति भी हुये। ४ मई को बंगलौर शहर और छावनी होते हुए ५-६ को मद्रास पहुंचे। मद्रास से स्वामी जी ६ मई को कालीकट-वायकोम में दलित जातियों द्वारा मन्दिरों के आस-पास की निषिद्ध सार्वजनिक सडकों के प्रतिकूल किये जाने वाले सत्याग्रह का

निरीक्षण करने गये। वहां आपने दलित भाइयों को आर्य-धर्म की दीक्षा दी और उनको आर्यसमाज में आने का निमन्त्रण दिया। देहली से लौटकर दो हजार से अधिक की सहायता इस सत्याग्रह को दिलवाई और पंडित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति को इसी काम पर नियुक्त किया। इस सत्याग्रह का आरम्भ कांग्रेस के कुछ लोगों की ओर से किया गया था, जिनमें श्री जार्ज जोसेफ़ सरीखे सज्जन भी सम्मिलित थे। चूंकि अस्पृश्यता का प्रश्न हिन्दू-समाज का प्रश्न था, इस लिये स्वामी जी ने यह आन्दोलन किया कि उसका संचालन हिन्दुओं की ओर से ही होना चाहिये और केवल हिन्दुओं को उसमें भाग लेना चाहिये। अब महात्मा गांधी ने भी इसी नीति का अवलम्बन किया है। १० मई को आप मंगलौर आये, जहां सार्वजनिक भाषणों के अलावा आपने समाज मन्दिर का उद्घाटन भी किया। 'डिप्रेस्ड-क्लास-मिशन' के संस्थापक स्वर्गीय रंगराव जी पर आपका कुछ ऐसा रंग चढ़ा कि उन्होंने कुछ समय बाद संन्यास ही ले लिया और अपने सब साथियों के विरोध पर भी अपने कर्तव्य-कर्म से विचलित नहीं हुए। वहां से वेलूर गये, जहां कि ईसाई प्रचारकों का बड़ा भारी केन्द्र है। वहां आपने भी अपना एक केन्द्र स्थापित किया। धर्मदेव जी को अध्यक्ष और सनातनदास जी को वहां प्रचारक नियत किया। मंगलौर से कालीकट, मदुरा आदि होकर आप २० को
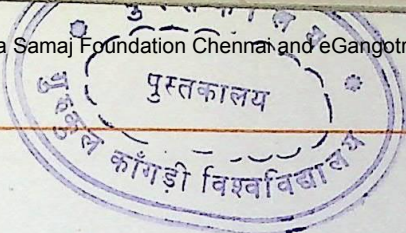
फिर मद्रास लौट आये। वहां गोखले-हॉल में आपका वह मर्म-स्पर्शी भाषण हुआ, जिसने सब दक्षिण-भारत को ही हिला दिया। उस भाषण में आपने कहा था—"पुरोहित आदि के अहंकार के कारण आपके यहां ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरों का झगड़ा तो चल ही रहा था कि अब उससे भी अधिक बुरा एक झगड़ा आपके सामने खड़ा होने वाला है। यदि आपने अस्पृश्य कहे जाने वाले भाइयों के उद्धार की ओर विशेष ध्यान न दिया तो मैं आपको सचेत करता हूं कि वह दिन दूर नहीं, जब आपके ये दलित भाई, जिन्हें आप पंचम कहते हैं, आप से सब तरह का सम्बन्ध तोड़ देंगे। या तो सब के सब दूसरे सम्प्रदायों में चले जायेंगे, अथवा अपनी जाति ही अलग बना लेंगे। मैं स्वयं कम-जोर, रोगी और वृद्ध होता हुआ भी सब देश में घूम जाऊंगा, दलित भाइयों का संगठन करूंगा और उनको कहूंगा कि वे हर एक ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण को स्पर्श करके वैसा ही भ्रष्ट कर दें, जैसा आप उनको मानते हैं। तब निश्चय ही आप सब उनके पैरों में माथा टेक देंगे।" मद्रास से २३ को बेज़बाड़ा और २४ को गोदावरी होते हुए २५ मई को गुडीवाड़ा पहुंचे, जहां आपकी अध्यक्षता में आन्ध्र-प्रान्तीय-दलितोद्धार-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। वहां के भाषण का उपस्थित जनता विशेष कर ईसाई हुए दलित भाइयों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे आपको अपना रक्षक मानने लग गये। उन्होंने आपके

निवास-स्थान पर घण्टों आप से बातचीत की। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन हजारों ने फिर आप से दीक्षा लेकर हिन्दू-धर्म में प्रवेश किया। गुडीवाड़ा-सम्मेलन के बाद आपने आन्ध्र-प्रान्त का दौरा प्रान्त के मुख्य शहर राजमहेन्द्री से शुरू किया। वहां के स्वर्गीय प्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री वीरेशलिंगम् पन्तलु गारु द्वारा संचालित विधवा-आश्रम का निरीक्षण करते हुए आपकी आंखों से अश्रुधारा बह निकली और आपने दुःखपूर्ण शब्दों में कहा—"भगवान् की सृष्टि के इन कोमल फूलों के प्रति हिन्दू-समाज ने बहुत बड़ा पाप किया है। उसको आज नहीं तो कल इस पाप का प्रायश्चित करना ही होगा। यह सच है कि जहां देवियों का सम्मान होता है, वहां ही दिव्य गुणों का विकास सम्भव है।" राजमहेन्द्री से स्वामी जी बहरामपुर और गया होते हुए ३० मई को कलकत्ता पहुंचे। सिराजगञ्ज में वङ्गाल-प्रान्तीय-हिंदू-सम्मेलन में सम्मिलित होने के बाद ५ जून को देहली लौट आये।

यह कहना न होगा कि आपकी इस दक्षिण-यात्रा से सब प्रान्त में जागृति और चेतना पैदा हो गई। एक-एक दिन में कभी कभी आप को चार-चार, पांच-पांच तक भाषण देने पड़ते थे। भाषणों में जनता तो प्रायः आंसू वहाती ही थी, हिंदू-समाज की दुर्दशा पर बोलते हुए आप की भी आंखें डब-डबा जाती थीं। इस यात्रा के लिये विदा होने से पहिले

आपने अंग्रेज़ी और हिन्दी में अस्पृश्यता को धो डालने के लिये, महान् आर्य जाति के पुत्र और पुत्रियों के नाम, एक अपील 'वर्तमान-समस्या' शीर्षक से पुस्तिका के रूप में छपवाई थी, जो हर जगह व्याख्यान के बाद बांटी जाती थी। उसमें अस्पृश्यता-निवारण और दलितोद्धार के काम के लिये पच्चीस लाख की अपील भी की गई थी। मद्रास में श्रीयुत महम्मद याकूब की अध्यक्षता में आपको मद्रास प्रान्त की ओर से मान-पत्र देने का विशाल आयोजन किया गया था। इस प्रकार मद्रास की इस धर्म-यात्रा में आप को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। सब से अच्छा काम इस यात्रा में यह हुआ कि भिन्न-भिन्न संस्थाओं की ओर से काम करने वाले सभी प्रचारकों को आप ने एक भावना की एक माला में पिरो दिया, सब काम का स्वयं निरीक्षण किया और मद्रास-प्रांत की जिस विकट हरिजन-समस्या को महात्मा जी के दूसरे उपवास का कारण बताया जाता है. उस का आप ने अध्ययन किया। पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति पहले ही उस प्रांत में काम कर रहे थे। इस यात्रा में पण्डित केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धान्तालङ्कार को भी आप वहां ही छोड़ आये।

(ग) दक्षिण-भारत को सन्देश

ता० २१ मई सन् १९२५ को मद्रास निवासियों के नाम निम्नलिखित सन्देश आप ने श्री धर्मदेव जी की मार्फत भेजा

था—"इस पवित्र अवसर पर तुम यह मत भूलो कि वैदिक धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ नहीं है। वह अनादि धर्म है, जिस के बिना संसार की सामाजिक व्यवस्था एक पल के लिये भी नहीं रह सकती। प्राचीन काल में अनगिनत आध्यात्मिक खज़ानों को खोलने वाली चाबी तुम्हारे ही हाथों में दी गई थी और अब भी अशान्त संसार को शान्ति देना तुम्हारा ही काम है; किन्तु पहले तुम को अपनी ही अपवित्रताओं को धोना होगा। आज गम्भीर भाव से यह प्रतिज्ञा करो कि तुम दैनिक पंच-यज्ञों के अनुष्ठान में प्रमाद नहीं करोगे, तुम अस्वाभाविक जाति भेद के बन्धन तोड़ कर वर्णाश्रम-व्यवस्था को अपने जीवन में परिणत करोगे, तुम अपनी मातृभूमि के देह पर लगे हुए अस्पृश्यता के कलंक को धो डालोगे और तुम आर्यसमाज के सार्वभौम-मन्दिर का द्वार, मत-सम्प्रदाय-जाति-रंग आदि के भेद-भाव का कुछ भी विचार न कर, मनुष्यमात्र के लिये खोल दोगे। परम-पुरुष परमात्मा इस गम्भीर प्रतिज्ञा के पालन करने में तुम्हारे सहायक हों, जिस से जब कभी फिर इस संन्यासी को तुम्हारे बीच में आने का अवसर मिले, तो उस को निश्चित उद्देश्य की ओर तुम्हारे अग्रसर होने के चिन्ह अथवा दृश्य स्पष्ट दीख पड़ें।" जितना दिव्य और स्फूर्तिदायक यह सन्देश है, उतनी ही दिव्य और स्फूर्तिदायक आप की दक्षिण की धर्म-यात्रा हुई थी। इस सन्देश से स्वामी जी के हृदय की विशालता तथा

उदारता का परिचय मिलता है और साथ में यह भी पता लगता है कि आर्य जीवन के लिये आचरण की पवित्रता पर आप कितना ज़ोर देते थे।

(घ) दक्षिण-भारत की दूसरी धर्म-यात्रा

सन् १९२५, सम्वत् १९८३, के अक्तूबर-नवम्बर के महीनों में स्वामी जी मद्रास की दूसरी धर्म-यात्रा पर गये थे। ता० ३० अक्तूबर के सवेरे देहली से विदा होकर ३०, ३१ अक्तूबर और १ नवम्बर को आप नवसारी में स्थानीय-दयानन्द-जन्म-शताब्दि में सम्मिलित हुए, ता० २ से ४ नवम्बर तक बम्बई ठहरे, फिर ३० नवम्बर तक मद्रास-प्रांत के सुदूर नगरों तक का आपने दौरा किया। पहली धर्म-यात्रा के समान इस धर्म-यात्रा का भी अच्छा प्रभाव पड़ा। सन् १९२४ की धर्मयात्रा में जो कार्य शुरू किया गया था, उस को इस से और भी अधिक दृढ़ किया गया। आप का यह स्वभाव था कि जिस काम को भी हाथ में लेते थे, अन्त तक उस को निवाहते थे। मद्रास की ओर आपका ध्यान कुछ ऐसा आकृष्ट हुआ था कि सन् १९२४ के अक्तूबर-नवम्बर में दक्षिण में बाढ़ आने पर वहां के दलित भाइयों की सहायता के लिये आप ने बाढ़-फ़गड की स्थापना की थी। समाचार-पत्रों में की गई अपील और कुछ व्यक्तिगत प्रभाव से आप ने हज़ारों रुपया जमा कर के श्री सत्यकेतु जी

विद्यालंकार को बाढ़-पीड़ितों की सहायता के कार्य के लिये ही उस ओर भेजा था। गुरुवयूर के समीप चावघाट में केन्द्र खोल कर हज़ारों बाढ़-पीड़ित भाई-बहनों की सहायता की गई थी। न केवल अनाज बांटा गया था, किन्तु नष्ट हुए घरों को फिर से बसाने के लिये भी यथेष्ट सहायता दी गई थी। मलाबार के मोपला-काण्ड के समय भी स्वामी जी ने अपने कार्यकर्ताओं को उस प्रदेश में भेज सैंकड़ों परिवारों को आर्थिक सहायता देकर उन को संकट से बचाया था। फिर सन् १९२७ में मद्रास-प्रांत की तीसरी धर्मयात्रा करने का आप का विचार था, किन्तु वह विचार मन का मन में ही रह गया।

(ङ) दक्षिण-भारत में प्रचार की उच्च आकांक्षा

मद्रास-प्रान्त के सम्बन्ध में स्वामी जी की प्रचार-सम्बन्धी उच्च आकांक्षा का कुछ पता आपके उन पत्रों से लगता है, जो वे प्रायः कार्यकर्ताओं को लिखा करते थे। पण्डित धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति मुलतान-ज़िले के निवासी हैं। इस नाते से मुलतान-शाखा-गुरुकुल की प्रबन्धक-कमेटी ने आप से उस गुरुकुल का आचार्य बनने के लिये अत्यन्त आग्रह किया और आप में भी स्थानीय-देशभक्ति कुछ ऐसी जाग उठी कि आप मद्रास छोड़ कर मुलतान चले आये। इसी

समय आपसे दयानन्द सेवा-सदन का सभासद होने का भी आग्रह किया जा रहा था। स्वामी जी की दृष्टि में आप के लिये सर्वोत्तम कार्य-क्षेत्र मद्रास प्रांत ही था। अतः स्वामी जी ने आप को ११ अक्तूबर सन १९१६ को लिखा—"मालाबार में सेठ जुगुलकिशोर जी बिड़ला काम अवश्य करना चाहते हैं, परन्तु मुझे आदमी चाहियें। अभी उधर काम करने वाले सब स्थानीय आदमी हैं। एक उनका अध्यक्ष चाहिये। मेरा विचार यह है कि तुम मेरे साथ नवम्बर के द्वितीय सप्ताह में चलो। बेलगांव, बंगलोर, मैसूर होकर मंगलोर पहुँचेंगे। वहां का हाल देख कालीकट, कैनानोरगो, पालघाट होते हुए मालाबार घूमेंगे। फिर तुम दक्षिण कनारा और मालाबार के अध्यक्ष का काम सभाल लेना।" इस पत्र की स्वीकृति आने पर फिर स्वामी जी ने आपको लिखा—"मालूम यह होना चाहिये कि क्या तुमने अपनी धर्मपत्नी सहित मंगलोर जाने का पक्का इरादा कर लिया है ?" इसी प्रेरणा का यह परिणाम है कि श्री धर्मदेव जी विद्या-वाचस्पति श्रीमती विद्यावती जी के साथ मद्रास में ऐसे रम गये हैं कि आप दोनों ने पंजाब को भुला कर और श्री केशवदेव जी ज्ञानी सिद्धांतालङ्कार तथा श्रीमती शांतादेवी जी ने केरा छोड़कर मद्रास को अपना घर बना लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि स्वामी जी को मद्रास के सम्बन्ध में अपना कार्यक्रम पूरा करने का यथेष्ट अवसर मिला होता अथवा मथुरा की दयानन्द-जन्म-

शताब्दी में पेश की गई योजना को ही आर्यसमाज ने पूरा किया होता, तो मद्रास-प्रांत में गुरुकुल के स्नातकों का जाल बिछ गया होता और सामाजिक-अज्ञानान्धकार के उस दुर्ग की कई दीवारें कभी की गिर गई होतीं, जिसकी चारदीवारी में न केवल कुछ भाइयों को छूना ही पाप समझा जाता है, किंतु उनकी छाया तथा दृष्टि और ब्राह्मणों की पवित्र भूमि के लिये उनके पैर का स्पर्श तक पाप माना जाता है। वसे तो समस्त देश और जाति की ही स्वामी जी के देहावसान से कभी न पूरी होने वाली क्षति हुई है, किंतु मद्रास की जो क्षति हुई है वह देश और जाति से भी बढ़ कर है।

मद्रास के समान ही दूसरे प्रांतों पर भी आपकी पूरी दृष्टि थी। इस जीवनी का लेखक उन दिनों में मध्यप्रांत में था। बरार-मध्यप्रांत में दलितोद्धार के कार्य के लिये दो-ढाई मास देने का आप उसके साथ वायदा कर चुके थे। बंगाल के दौरे का तो पूरा और पक्का कार्यक्रम बन चुका था। वर्मा में आपने पंडित सत्यपाल जी विद्यालङ्कार को, जो इस समय पंजाब-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी के डिक्टेटर की हैसियत में प्राप्त दो वर्ष की सज़ा रावलपिंडी जेल में काट रहे हैं, भेजा था। वर्मा के बाद अफ्रीका भी आप इसी काम पर भेजे गये थे। पंडित यशपाल जी सिद्धांतालंकार को आसाम-प्रांत का कार्य सौंपा था। मद्रास-प्रांत के समान आसाम के लिये भी अपील करते हुए आपने 'अर्जुन' के

७ मार्च सन् १९२५ के अङ्क में लिखा था—"आसाम का उद्धार कौन करेगा ?"

(च) मथुरा में शताब्दी

मथुरा में श्रीमद्दयानन्द-जन्म-शताब्दि का भूतो न भावी समारोह आपकी ही कल्पना थी और उसका मुख्य उद्देश्य आर्य जाति के संगठन को दृढ़ करते हुए, उसकी सोई हुई शक्ति को जगा कर, उसमें आत्मविश्वास की स्फूर्ति पैदा करना और आर्य-सार्वदेशिक-सभा के हाथ पैर मज़बूत करना था। मथुरा-जन्म-शताब्दी के इस समारोह का आयोजन सम्वत् १९८३, सन् १९२५, में किया गया था। उससे तीन वर्ष पहिले ६ वैशाख सं० १९७८, २२ अप्रैल सन् १९२२, की आप की 'पंजिका' में अपने हाथ से यह लिखा हुआ है कि "दयानन्द-जन्म-शताब्दी सम्वत् १९८१ की शिवरात्रि को मनाना। एक सप्ताह तक कार्य-क्रम रहे। फागुण कृष्णा ६ से लेकर अमावस्या तक। केवल आर्यसमाजी ही नहीं—सब मनायें, क्योंकि वर्तमान जागृति का देवता दयानन्द था। कहां मनाई जावे ? अजमेर—यहां मृत्यु हुई सम्वत् १९४० में। इस लिये जब सम्वत् १९९० की दीपमालिका आवे तो अजमेर में मृत्यु की अर्ध-शताब्दी का दिवस मनाया जाना चाहिये। शेष दो रहे—एक-जन्मभूमि का ग्राम, दूसरा-देहली-सार्वदेशिक-सभा का मुख्य-स्थान। जन्मभूमि में

पहुंचने का सुभीता पञ्जाब, युक्तप्रान्त, बंगाल आदि को न होगा और शायद सात दिन का प्रबन्ध करने में भी कठिनाई पड़े। परन्तु गुजरात प्रान्त में धर्म-प्रचार खूब हो जायगा। गुजरात धनाढ्य है, इस लिये शायद् धन भी वहां अधिक एकत्र हो सके। परन्तु इसका निर्णय तब हो, जब मैं स्थान देख लूं और ठीक निश्चय भी कर लूं। निम्न कार्यक्रम—(क) तीन कानफ्रेंस हों—१. वर्णव्यवस्था-निर्णायक, प्रश्न पहले से भेजे जायं; २. किन मुख्य सिद्धान्तों का मानना आवश्यक है और कौन गौण हैं, जिससे प्रचार में उन्हीं पर बल दिया जाय ?; ३. गुरुकुल-शिक्षा-विधि-सम्मेलन—एक पाठविधि और एक क्रम नियत कर सब गुरुकुलों को एक सूत्र में बांधने के लिये। (ख) शिवरात्रि के दिन के अतिरिक्त नित्य प्रातः ८ से ११ तक कानफ्रेंस और सायंकाल चार घण्टों तक भजन-व्याख्यान हों, जिनमें ऋषि दयानन्द के जीवन तथा मन्तव्य का कोई भाग लेकर विद्वानों के भाषण हों। (ग) शिवरात्रि के प्रातः एक बड़ा यज्ञ हो, जो ७ से १२ बजे तक रहे। नित्य भी एक ओर परिषद् बैठे और दूसरी ओर ९ से ११ तक हवन-यज्ञ हुआ करे। फिर ३ से ६ तक प्रोसैशन, रात को ऋषि जीवन की दीक्षा-रात्रि की घटना पर दो आध-आध घण्टे के व्याख्यान, जिनके अन्त में प्रेरणा हो कि सब आध घण्टे के लिये बैठ कर आत्म-चिंतन करें। फिर भोजन हो। दिन को सब सिवा जल और दूध के

कोई अन्नादि ग्रहण न करें, जिससे शुद्ध हो कर आत्मचिंतन कर सकें। पुस्तक-रचना—(१) आर्यसमाज का इतिहास, (२) अथर्ववेद का स्वाध्याय—सातवलेकर जी से। (३) प्रो० रामदेव, (४) पं० घासीराम, (५) पं० गंगाप्रसाद, इत्यादि की कोई पुस्तक।" इसके बाद आय-व्यय का अनुमान भी दिया है। "व्यय—(१) चार पुस्तकों की छपाई—२५००×४=१० हजार, (२) पण्डाल-तय्यारी—३ हजार, (३) उतारा—१ हजार, (४) सात दिन का भोजन उपदेशकादि का संख्या पांच सौ—५००×७=३॥ हजार, (५) अन्य प्रबन्ध—२॥ हजार, (६) दयानन्द-देशान्तर-प्रचारनिधि—८० हजार—योग=एक लाख। ८० हजार का सूद ४८००, जिसमें ४ प्रचारक स्थिरता से रक्खे जा सकें।" ७ मार्च सन् १९२३, चैत्र कृष्णा ५ सम्वत् १९७९, की पंजिका में सार्वदेशिक सभा का एक प्रस्ताव दर्ज है। वह यह है—"निश्चय हुआ कि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में भारतवर्षीय-सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि के अधीन एक 'दयानन्द-दलितोद्धार-मण्डल' (मिशन) स्थापित किया जावे और उसके लिये जनता से एक लाख रुपयों की अपील की जाय। सर्व सम्मति से निश्चय हुआ कि उक्त मण्डल के कार्य के लिये धन एकत्र करने तथा तत्सम्बन्धी अन्य प्रबन्ध और कार्य का भार प्रधान जी के सुपुर्द किया जावे।" पंजिका से ये सब उद्धरण इस लिये दिये गये है कि इनसे स्वामी जी की मौलिकता, नीतिमत्ता,

कार्यशैली, दूर-दृष्टि तथा व्यवहार-कुशलता का तो पता लगता ही है, साथ में यह भी पता लगता है कि मथुरा में जन्म-शताब्दी का समारोह एक मेले के रूप में केवल मनोरंजन के लिये नहीं किया गया था, किंतु उसका कुछ स्थिर उद्देश्य था। उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर शताब्दी पर हुये 'आर्य-सम्मेलन' में तीन प्रस्ताव स्वीकृत किये गये थे, जिनमें अन्तिम प्रस्ताव में पांच लाख रुपयों के स्थिर कोष के लिये अपील की गई थी, जिससे सार्वदेशिक-सभा स्थिरता से लेखबद्ध और मौलिक प्रचार करने में समर्थ होसके। इस अपील में नक़द और वायदे सब मिला कर सवा लाख रुपया हुआ था। नक़द शायद ५० हज़ार भी नहीं था। शताब्दी से लौटते ही स्वामी जी ने ५ मार्च सन् १६२५ के 'अर्ज़ुन' में "सार्वदेशिक-स्थिर-कोष को पूरा करो" शीर्षक से अपील निकाल कर आर्य-पुरुषों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया था और उसके बाद भी समय-समय पर आप उसके लिये अपील करते रहते थे। सचमुच, यह दुःख का विषय है कि उस कोष की पूर्ति आज तक भी नहीं हुई। शताब्दी-समारोह का वास्तविक उद्देश्य 'सार्वदेशिक-स्थिर-कोष' की स्थापना करना ही था। मालूम होता है, आर्य जनता ने स्वामी जी के उस उद्देश्य को हृदयंगम न करके उन द्वारा प्रारम्भ किये गये ऐसे समारोहों को मेले या महा-मेले ही बना लिया है।

शताब्दी-समारोह की विस्तृत रिपोर्ट सार्वदेशिक-सभा की ओर से प्रकाशित हो चुकी है। स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व की साक्षी-स्वरूप दो-एक घटनाओं का यहां उल्लेख करना आवश्यक है। मथुरा सरीखे पौराणिकता के गढ़ में आर्यों का वह भूतो न भावी समारोह और उस समारोह के अवसर पर आपके नेतृत्व में कोई सवा लाख आर्य-स्त्री-पुरुषों का निकला हुआ शानदार विराट् जलूस सचमुच न केवल आर्यसमाज के लिये किन्तु समस्त देश के लिये भी ऐतिहासिक घटनायें हैं। उस समारोह ने सब देश को और उस जलूस ने सब मथुरा नगरी को हिला दिया था। आर्यसमाज की संगठन-शक्ति की चारों ओर धूम मच गई थी। दो लाख नर-नारियों ने मथुरा के पास केवल सात दिनों के लिये नयी ही 'विरजानन्द-नगरी' बसा डाली थी। दुर्भाग्यवश शताब्दी की समाप्ति होते न-होते २१ फ़रवरी के सवेरे एक दुर्घटना होगई। कुछ आर्य-युवकों के बचपन ने मथुरा के पुराणमतवादियों को इतना उत्तेजित कर दिया कि शहर में मार-पीट होगई। कई आर्य बुरी तरह घायल हुए। स्वामी जी जिस प्रकार सम्वत् १९६५ में हरिद्वार में आर्यों के विरुद्ध मार-पीट होने पर उत्तेजित वायु मण्डल की कुछ भी परवा न कर हर की पैड़ी पर अकेले और पैदल ही जा पहुंचे थे, वैसे ही अब भी समाचार मिलते ही शहर में जा पहुंचे। शहरवासियों के प्रतिनिधियों विशेषतः पण्डों

से मिल कर परिस्थिति को अधिक बिगड़ने से सम्हाला और उत्तेजना को शान्त किया। उसी दिन आपने शताब्दी-कमेटी के प्रधान की हैसियत से उक्त दुर्घटना के लिये दुःख और दोषी युवकों के आचरण के लिये घृणा प्रगट की। इस पर भी सनातनी समाचार पत्रों के तिल का ताड़ बनाने पर आपने ६ मार्च १९२५ के 'अर्जुन' में फिर दुःख और घृणा प्रगट करते हुए आर्यों को सम्बोधन कर के लिखा था—"आर्य सामाजिक-पुरुषों मे साधारणतया और आर्यधर्म के प्रचारकों से विशेषतः मेरा अनुरोध है कि 'सहोऽसि सहो मयि धेहि' का पाठमात्र ही न किया करें। अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहते और उनका गम्भीरभाव से प्रचार करते हुए भी दूसरे भाइयों के विश्वासों को अनुचित चोट न लगाना यही वैदिक-धर्म की मर्यादा है। मैंने शोक से देखा कि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के मेले में कुछ ऐसे चित्र बेचे और बांटे गये, जिससे अन्य साम्प्रदायिक भाइयों को दुःख पहुंचा। दो-एक समाचार पत्रों के शताब्दी अंकों में भी ऐसे चित्र दिखाई दिये, जिन्होंने धर्म के आंदोलन और सदाचार के प्रचार की मर्यादा का उल्लङ्घन किया। मैं आर्यजनता से अपील करता हूं कि ऐसे चित्रों का बहिष्कार करके उनके प्रचारकों को शिक्षा दें और जो धर्म-प्रचारक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उस की रक्षा करने वाले आर्यसमाज को एक संकुचित सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं, उन के प्रयत्नों को सफल न होने दें। आर्य संस्कृति

के उद्धार और संसार में उस के प्रचार का यही समय है। उस के मार्ग में जो भी कण्टक सिद्ध होगा, वह आने वाली आर्य सन्तति का द्वेषी समझा जायगा। आर्यसमाजी भाइयों से अन्त में मेरी यही प्रार्थना है कि घोर से घोर उत्तेजना होते हुए भी मर्यादा का भंग न करना यही आर्यत्व है और इसी सिद्धान्त पर आचरण करते हुए सारे संसार को आर्य बनाया जा सकेगा।" स्वामी जी के हृदय की विशालता, उदारता और सहिष्णुता के द्योतक ये कितने सुन्दर शब्द हैं? आर्यसमाज को सम्प्रदाय बनाने की प्रवृत्ति का भी आप ने कितने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है?

इस शताब्दी के बाद फरवरी सन १९२६ में ऋषि दयानन्द की जन्मभूमि टंकारा में मनाई गई शताब्दि पर भी आप पधारे थे। शताब्दी-समारोहों के प्रवर्त्तक स्वामी श्रद्धानन्द जी के उपकारों को स्मरण करता हुआ आर्यसमाज मथुरा की जन्म-शताब्दी के समारोह को भी सदा याद किया करेगा।

८-१०. हिन्दू-महासभा, संगठन और शुद्धि

स्वामी जी के संन्यासकाल के जीवन की अधिकांश घटनायें दलितोद्धार के सूत्र में पिरोई हुई हैं। संन्यास-जीवन की चहुं-मुखी कार्यप्रणाली में तारतम्य एक ही विषय का है और वह विषय है दलितोद्धार का। स्वामी जी जहां भी गये वहीं दलि-

तोद्धार का अपना कार्यक्रम साथ लेकर गये। उस के लिये वहां यदि अनुकूलता नहीं मिली, तो तुरन्त उलटे पैर लौट भी आये। कांग्रेस और साधु-महामण्डल से निराश हो कर स्वामी जी ने हिन्दू-महासभा का द्वार खटखटाया। हिन्दू-समाज की बिखरी हुई अवस्था और उसके लुटते हुए घर को देखकर स्वामी जी को उस को संगठित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पीछे पाठक हिन्दू-गोरक्षा-उपसमिति की ओर से देहली में युवराज के स्वागत के बहिष्कार के लिये किये गये आंदोलन का वर्णन पढ़ आये हैं। गोरक्षा सरीखे धार्मिक और हिन्दुओं को. तुरन्त उत्तेजित कर देने वाले प्रश्न पर भी हिन्दू सरकार के विरुद्ध वैसे एक नहीं हुए थे, जैसे कि गुरुद्वाराओं के प्रश्न पर सिख और खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमान एक हो गए थे। हिन्दुओं की इस असंगठित और मुर्दा अवस्था से भी स्वामी जी के हृदय में संगठन का भाव पैदा हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वामी जी के दिल में वे भाव बहुत पुराने थे, जिन से प्रेरित होकर आप संगठन और शुद्धि के काम में पूरे वेग के साथ एक दम तन्मय हो कर लगे थे। आप का जीवन ऋषि दयानन्द के जीवन का प्रतिबिम्ब था। उन की दीक्षा-शिक्षा की भावना आप में पूरी तरह समाई हुई थी। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के स्वप्न आप सदा देखा करते थे। आप धार्मिक-वृत्ति-प्रधान

व्यक्ति थे। आपकी देशभक्ति पर भी धर्म का खोल चढ़ा हुआ था। यह सब आपके जीवन से अलग नहीं हो सकता था। दलितोद्धार के प्रश्न पर कांग्रेस से निराश होने और कांग्रेसी-नेताओं के कांग्रेस तक के विधायक-कार्यक्रम की ओर कुछ भी ध्यान न देने पर आपके लिये चुप बैठा रहना सम्भव नहीं था। चुप बैठना तो आपके स्वभाव में था ही नहीं। कर्म ही आपके लिये जीवन था। अतः देश में चारों ओर राजनीतिक सुस्ती छा जाने पर ऐसे कर्मशील धार्मिक महापुरुष के अन्तःकरण में धार्मिक-वृत्ति फिर जाग उठी और उसने शुद्धि तथा संगठन के काम को भी धर्म की पवित्र भावना से ही प्रेरित होकर किया। स्वामी जी 'हिंदू-महासभाइट' की अपेक्षा अधिक 'संगठनी' थे। शुद्धि तथा संगठन को आपने महासभा में जाकर नहीं अपनाया था, किंतु आपने ही शुद्धि तथा संगठन को महासभा के सिर पर जबरन् लादने का यत्न किया था और जब देखा कि महासभा के नेता शुद्धि तथा संगठन का काम न कर के महासभा को अपनी संकुचित राजनीतिक आकांक्षाओं का साधन-मात्र बनाना चाहते हैं, तब आप उस से भी अलग हो गये। मुसलमान नेताओं की कुछ हरकतों ने भी आपको शुद्धि-संगठन के काम में अधिक दृढ़ता के साथ लगने के लिये प्रेरित अथवा बाधित किया। सन् १६२१ के मालाबार के मोपला-कांड की निन्दा का प्रस्ताव अहमदाबाद कांग्रेस की विषय-नियामक-

समिति में आने पर मौलाना हसरत मोहानी सरीखे राष्ट्रीय मुसलमानों ने भी जब उसका विरोध किया, तब स्वामी जी चमक पड़े। 'लिबरेटर' में उस अधिवेशन की कार्यवाही पर लिखते हुए आपने लिखा था—"मुसलमानों की मनोवृत्ति में परिवर्तन पैदा करने वाली वह पहली चेतावनी थी।" खिलाफ़त कानफ्रेंसों में ज़हाद की घोषणा करने वाली कुरान-शरीफ़ की आयतों में भी स्वामी जी को मुसलमानों की आक्रामक मनोवृत्ति की गन्ध आती थी, जिसकी शिकायत आपने कई बार महात्मा जी से भी की थी। मौलाना शौकतअली सरीखे मुस्लिम नेताओं का अहिंसात्मक-असहयोग के आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों से ही अहिंसा में तनिक-सा भी विश्वास नहीं था। उस ओर भी स्वामी ने गांधी जी का ध्यान आकर्षित किया था। देहली के सत्याग्रही शहीदों के स्मारक के लिये पटौदी-हाउस के खरीदने का काम जब आपने उठाया था और जब आप उसके लिये देहली में घर-घर, दूकान-दूकान घूम कर चन्दा इकट्ठा कर रहे थे, तब उस काम में एक पाई की भी सहायता न कर डा० अन्सारी और हकीम साहब सरीखे मुस्लिम नेता भी अंगोरा-फण्ड के लिये एक लाख की अपील कर उसमें लग गये थे। स्वामी जी की प्रार्थना करने पर भी उन्होंने उस काम में हाथ नहीं बटाया था। स्वामी जी की सम्मति थी कि विलायती वस्त्रों को न जला कर उनको गरीबों में बांट देना चाहिये। स्वामी जी ने

गांधी जी को ऐसा ही करने के लिये लिखा भी था। पीछे ऐसा बहुत-सा कपड़ा इकट्ठा करके मुसलमानों की ओर से अंगोरा भेजा गया। इन छोटी-मोटी घटनाओं ने भी स्वामी जी के हृदय पर चोट की। सहारनपुर, मुलतान, कोहाट आदि स्थानों पर हिन्दुओं के प्रति हुए अन्याय तथा अत्याचार के प्रतिकूल भी मुसलमान नेताओं ने जैसी चाहिये थी, वैसी आवाज़ नहीं उठाई थी। मौलाना मुहम्मदअली ने कोकोनाडा-कांग्रेस के अध्यक्ष के भाषण में अछूतों को लावारिस माल समझ आधा-आध बांट लेने की बात कह कर, स्वामी जी के जीवन से भी अधिक प्रिय विषय पर, ऐसी गहरी चोट की थी कि उसके बाद स्वामी जी ने एक क्षण भी न गवां कर सब समय और शक्ति इस काम में ही लगा देने का संकल्प कर लिया था। महात्मा गांधी ने सन् १९२४ में जेल से बाहर आने पर जुहू में रहते हुए स्वामी जी से बात किये बिना और उनका पक्ष जाने विना ही 'यंग इडिया' में आर्यसमाज, उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द और स्वामी जी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रगट करते हुए जो लेख लिखे थे, उन पर वैसे तो स्वामी जी बिलकुल चुप ही रहे थे और आर्यसमाज-चावड़ी-बाज़ार-देहली के साप्ताहिक सत्संग में आपने उन लेखों के प्रतिकूल किये गये आर्यसमाज के आंदोलन के सम्बन्ध में आर्यसमाजियों से यहां तक कहा था कि 'मुझे आप आज्ञा दें कि मैं महात्मा जी तक यह सन्देश पहुंचा

दूं कि इस सिलसिले में जो अनुचित कलमें आर्यसमाज की ओर से लिखे गये हैं, उनके लिये हमें दुःख है।' फिर आपने यह भी कहा था कि 'मैं महात्मा जी के प्रतिवाद में कुछ नहीं लिखूंगा। मैं इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं समझता। उनके लेख का कारण मैं जानता हूं। केवल इतनी आवश्यकता है कि आर्य लोग अपने आचरणों को उत्तम बना कर दीपक बनें, ताकि उनसे दूसरे दीपक जलाये जा सकें। यदि आप इस योग्य बन जायेंगे, तो महात्मा जी या किसी अन्य के आक्रमण से आर्य-समाज का काम बन्द नहीं होगा।' फिर भी गांधी जी के इन लेखों से स्वामी जी के हृदय पर बड़ी गहरी चोट लगी थी। 'लिबरेटर' में उन लेखों के सम्बन्ध में लिखते हुए स्वामी जी उस चोट के दर्द को दबा नहीं सके थे और आपने उन लेखों में कांग्रेस तथा महात्मा गांधी के मुस्लिम पक्षपाती होने की भी शिकायत की थी। इनमें से ही कुछ घटनाओं ने पहिले तो स्वामी जी को शुद्धि तथा संगठन के काम के लिये प्रेरित किया था और जब आप एक बार उस ओर झुक गये तो वैसी ही अन्य घटनायें आपको उसमें अधिकाधिक दृढ़ करती चली गईं। स्वामी जी की अन्तरात्मा में काम करती हुई जिस वृत्ति अथवा भावना का ऊपर चित्र अंकित किया गया है, उसकी कुछ हलकी-सी छाया आपके उस बयान में भी मिलती है, जो आपने सन् १९२२ में १४ अगस्त को कांग्रेस की सत्याग्रह-जांच-कमेटी

के सामने साक्षी देते हुए दिया था। उसमें आपने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के सम्बन्ध में कहा था—"यद्यपि बाहर तो भेदभाव का ऐसा कोई चिन्ह दीखने में नहीं आता, परन्तु प्रायः सभी प्रांतों में मैंने यह देखा है कि हिंदू और मुसलमान परस्पर सन्देह करने लग गये हैं। इसका एक कारण यह जान पड़ता है कि मुसलमान और सिख तो सामाजिक तौर पर खूब संगठित हैं, किंतु हिंदू सामाजिक-दृष्टि से बिखरे हुए हैं। मेरी सम्मति में इसका उपाय एक ही है कि हिन्दू नेता हिंदू-समाज को सामाजिक दृष्टि से संगठित करें और मुसमान नेता खिलाफत की अपेक्षा स्वराज्य की प्राप्ति पर अधिक ध्यान दें।" इससे स्पष्ट है कि १९२१-२२ में कांग्रेस के साथ तन्मय हो जाने पर भी आपके हृदय में वे भाव समाये हुए थे. जिन्होंने आपको संगठन तथा शुद्धि के कार्य के लिये प्रेरित किया था। हिन्दू-मुसलमानों में पैदा होते हुए इस पारस्परिक अविश्वास की ओर आपने महात्मा गांधी का ध्यान भी उन दिनों में ही आकर्षित कर दिया था।

(क) शुद्धि

शुद्धि का काम तो आर्यसमाज के नाते स्वामी जी के लिये बहुत पहिले का था। सन् १८९६ ईस्वी में आप और आर्य-पथिक लेखराम जी द्वारा सैंकड़ों रहतियों की शुद्धि लाहौर और

जालन्धर आर्यसमाजों में की गई थी। पं० लेखराम जी आर्य-समाज की शुद्धि की वेदी पर ही बलिदान हुए थे। मेघों, ओड़ों, पहाड़ी प्रदेश के डूमनों की शुद्धि की भी कुछ दिन धूम थी। स्वामी जी के अनुमान से इस शुद्धि-आंदोलन से पहिले कोई एक लाख व्यक्ति पंजाब में ही आर्यसमाज द्वारा शुद्ध होकर अपनी बिरादरियों अथवा आर्यसमाज में शामिल हुए होंगे। शुद्धि के उस आंदोलन का आरम्भ, जिस पर इस प्रकरण में विचार किया जा रहा है, १ फाल्गुन सम्वत् १९७९, १३ फ़रवरी सन् १९२३, को हुआ समझना चाहिये, जिस दिन आगरा में हिंदू-शुद्धि-सभा की स्थापना की गई थी। आपकी पंजिका में दर्ज है कि आप उसके प्रधान चुने गये थे और उसी रात्रि को आगरा-आर्यसमाज के उत्सव पर आपका डेढ़ घण्टा व्याख्यान हुआ था, जिसमें आपने शुद्धि तथा संगठन के लिये हिंदुओं से ज़ोर-दार मार्मिक अपील की थी। सम्भवतः शुद्धि के सम्बन्ध में इतना ज़ोरदार और प्रभावशाली यह पहिला ही भाषण था। मलकाना राजपूतों को फिर से अपनी बिरादरी में मिला लेने का आंदोलन राजपूतों में स्वयं ही उठा था। शिक्षित राजपूत गत २५ वर्षों से उनको अपने में मिला लेने के लिये आंदोलन कर रहे थे। सन् १९०५ में कुछ को मिलाया भी गया था। उसके बाद भी उसके लिए कुछ यत्न होता रहा। पर, कुछ सन्तोषजनक फल न निकलने से वह यत्न दब गया। फिर राजपूत-शुद्धि-सभा

की स्थापना की गई। लगभग दो हज़ार व्यक्तियों को इस सभा की ओर से बिरादरी में मिलाया गया। सन् १९१० में इस सभा की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई थी। सहानुभूति न मिलने से वह यत्न भी शांत होगया। सन् १९२२ में फिर इस आन्दोलन ने जोर पकड़ा। दिसम्बर १९२२ में शाहपुराधीश की अध्यक्षता में राजपूत-सभा ने फिर उसके लिये प्रस्ताव स्वीकृत किया। उसके बाद फरवरी मास में उक्त 'हिंदू-शुद्धि-सभा' की स्थापना हुई। योग्य नेता के अभाव को स्वामी जी ने पूरा करके शुद्धि के इस प्रश्न को अखिल-भारतीय-आन्दोलन बना दिया। आगरा की हिन्दु-शुद्धि-सभा के समान देश में प्रायः सर्वत्र शुद्धि-सभाओं का जाल बिछ गया और देहली में अखिल-भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा की स्थापना होकर 'शुद्धि-समाचार' मासिक-पत्र भी निकलने लगा। स्वामी जी के नाम में ही कुछ ऐसा जादू था कि जिस पत्थर पर भी लिख दिया जाता था, वही तैरने लगता था। फिर जिस संस्था और उसके कार्य को आपका ऐसा सहयोग मिला हो, जैसा शुद्धि-सभा को मिला था, उसके तैरने में तो कोई गुञ्जाइश ही नहीं रह सकती थी। कार्य कुछ ऐसा चल निकला, जैसे कि उसके लिये वर्षों से भूमि तय्यार थी। कुछ स्थानों पर शुद्धि के इतने बड़े-बड़े आयोजन और समारोह हुए कि गांव के गांव अपनी पुरानी बिरादरियों में आ मिले और बहुत बड़े पैमाने

पर किये गये पंचायती भोजों के रूप में भरत-मिलाप का अपूर्व दृश्य जहां-तहां दीख पड़ने लगा। हिंदू शुद्धि-सभा की स्थापना से लेकर जीवन की समाप्ति तक स्वामी जी ही शुद्धि-आंदोलन के आत्मा रहे। कभी प्रधान, कभी उपप्रधान और कभी कार्यकर्ता प्रधान की हैसियत से कार्य करते हुए आप बराबर उसमें प्राण-संचार करते रहे। स्वामी जी का वियोग होने पर सभा लड़खड़ाती अवस्था में रह गई और शुद्धि-आंदोलन भी धीमा पड़ गया।

(ख) संगठन का क्रान्तिकारी-कार्यक्रम

संगठन तो स्वामी जी के अपने ही दिमाग की सूझ थी। हिन्दू-महासभा-वादी अन्य नेताओं के संगठन से आप का संगठन बिलकुल भिन्न था। आप के संगठन के कार्यक्रम में अखाड़े, कुश्तियां आदि बिलकुल गौण चीजें थीं। आप संगठन द्वारा थोथा शारीरिक-बल पैदा करने के लिये अन्य समाजों के समान हिन्दू-समाज में मांस-भक्षण आदि दुर्व्यसनों को नहीं पैदा करना चाहते थे। आप के संगठन में मुसलमानों के प्रति द्वेष की गन्ध भी नहीं थी। भारत के महान् राष्ट्र के निर्माण की दृष्टि से ही आप ने इस महान् आंदोलन को उठाया था। 'अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधु साधुना जयेत्' की जिस नीति का प्रतिपादन आप ने अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद से किया था, उसी को सामने रख कर आप हिन्दू-समाज के

संगठन के लिए उसमें दिव्य गुणों का विकास करना चाहते थे। इसीलिए आप के संगठन में पहला स्थान ब्रह्मचर्य को था। गृहस्थी, बानप्रस्थी और संन्यासी के लिए भी आप की दृष्टि में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक था। हिन्दू-समाज में से जन्म, जाति, मत, सम्प्रदाय, पन्थ, रूप, रंग आदि के सब भेद-भाव को मिटा कर उस को एक रंग में रंग देने के कार्यक्रम को आप के संगठन में दूसरा स्थान था। आप का यह स्पष्ट मत था कि जात-पात के हजारों दायरों में बटा हुआ, उन अलग अलग दायरों में भी चूल्हे-चौके के झंझट में उलझा हुआ और न केवल अपने भाई के स्पर्श को किंतु उसकी दृष्टि, छाया तथा उस के पैर के स्पर्श से भूमि तक को अपवित्र मानने वाला हिंदू-समाज, इन सब कुरीतियों की परम्परा के जैसा का तैसा बने रहने पर, कभी तीन काल में भी संगठित एवं शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये दलितोद्धार तो आप के संगठन के कार्यक्रम-रूपी देह का अन्तरात्मा था। आप की दृष्टि में स्त्रीवर्ग को पराधीन पददलित और अपमानित रखते हुए भी हिन्दू-समाज का संगठित होकर शक्ति-सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। विधवाओं के प्रति हिन्दू-समाज का अन्याय उस पराधीनता, अपमान और दैन्यावस्था की चरम सीमा थी। यह वह पाप था जिस का प्रायश्चित्त, स्वामी जी की सम्मति के अनुसार, हिन्दू-समाज को अपने पुनरुद्धार के लिये शीघ्र से शीघ्र कर डालना आवश्यक

था। इसी दृष्टि से आप ने अपने संगठन के कार्यक्रम में बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह को भी प्रधानता दी थी। सारांश यह है कि स्वामी जी संगठन द्वारा हिन्दू-समाज की काया ही पलट देना चाहते थे। संगठन के इस विस्तृत, नवीन और एक दम क्रान्तिकारी कार्यक्रम को लेकर आपने हिन्दू-महासभा की ओर मुख फेरा और उस से यह आशा रखी कि उस द्वारा उस को कुछ बल मिलेगा।

(ग) हिन्दू-महासभा में

स्वामी जी का यह स्वभाव ही था कि जिधर भी झुकते थे, उधर ही आग की लपट की तरह चीरते हुए आगे बढ़ते चले जाते थे। हिन्दू-महासभा में जिस आशा और उत्साह से प्रवेश किया था, उसी का यह परिणाम था कि जैसे कभी गुरुकुल के लिये पञ्जाब का और दलितोद्धार तथा वैदिक-धर्म के प्रचार के लिए मद्रास का दौरा किया था, ठीक वैसे ही अब पञ्जाब, संयुक्तप्रांत, बिहार और बंगाल प्रांतों के ३४ स्थानों का दौरा आप ने हिन्दू-महासभा के लिये स्वयं किया और शेष स्थानों पर पं० नेकीराम जी शर्मा और स्वामी रामानन्द जी को भेजा। ता० ११ जुलाई सन् १९२३ को देहली से विदा हो कर मुरादाबाद, बरेली, शाहजहांपुर, लखनऊ, बाराबांकी-फ़ैज़ाबाद, अयोध्या, काशी, कुछ दिन और संयुक्त-प्रांत में बिता कर

आगरा, इटावा होते हुए ता० ३१ को कानपुर पहुंच कर जुलाई का महीना पूरा किया। ता० ४ अगस्त के बाद गोरखपुर, बस्ती, बलिया, बक्सर, आरा, दानापुर, भागलपुर, झरिया होते हुए कलकत्ता पहुंचे। वहां से महासभा के अधिवेशन में शामिल होने के बाद २५ अगस्त को देहली लौटे। मुरादाबाद, बरेली आदि में आप पर सार्वजनिक भाषण न करने के लिए सरकारी नोटिस भी तामील किए गये। पर, फिर भी जिस उद्देश्य से आप ने यह दौरा किया था, उस में सफलता प्राप्त की। हिन्दुओं को जगाया, हिन्दू-सभाओं की स्थापना की, महासभा के लिए फण्ड जमा किया और ता० १८, १९ व २० अगस्त को काशी में होने वाले वार्षिक अधिवेशन पर पधारने के लिये प्रतिनिधियों को तय्यार किया। इस अधिवेशन की सफलता का अधिकांश श्रेय आप को ही था। महासभा के अधिवेशन में आपने अपना क्रान्तिकारी कार्यक्रम उपस्थित किया। उसके सम्बन्ध में वहां जो कुछ हुआ, उसका वर्णन स्वामी जी के शब्दों में ही करना अच्छा होगा। काशी से लौट कर स्वामी जी ने लिखा था—"मेरी इच्छा थी कि हिन्दू-महासभा को गत अधिवेशन में और अधिक पूर्ण सफलता प्राप्त हुई होती। यदि अस्पृश्यता का पाप धुल जाता और विधवाओं के पुनर्विवाह की रुकावट एकदम ही उठा दी जाती, तो मुझको अधिक सन्तोष होता। यदि आग्रह किया जाता तो दोनों प्रस्ताव

बहुत अधिक सम्मति से अवश्य स्वीकृत हो जाते, परन्तु आदरणीय सभापति पंडित मालवीय जी की सम्मति को मानते हुए मैंने काशी के ब्राह्मण पंडितों को एक और अवसर देना उचित समझा, जिससे वे स्वयं जनता का हित करते हुए हिन्दू-जाति का सम्मान प्राप्त कर सकें। मुझको यह जान कर बड़ा दुःख और निराशा हुई कि दलित भाइयों को महासभा के मंच पर से भाषण नहीं करने दिया गया।.........हिंदू-महासभा ने न केवल मलकाना राजपूतों को किन्तु ब्राह्मण, वैश्य, गुज्जर, जाट आदि सभी को जो रीति-रिवाज तथा संस्कारों में तो हिंदू हैं, पर नाममात्र के परधर्मी हैं, अपनी-अपनी बिरादरियों में फिर से सम्मिलित करने का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया है।" इस सब के लिये आपको जो श्रेय दिया जा रहा था, उसके सम्बन्ध से आपने लिखा था—"अकेले मुझ को सब श्रेय देना उन कार्यकर्ताओं की उपेक्षा करना है, जिन्होंने अपना सब समय इस काम में लगाया हुआ है।..........फिर भी मुझको प्रसन्नता यह है कि पुरातन आर्य सभ्यता की सेवा के लिये बलिदान का मुकुट धारण करने के लिये एकमात्र मुझको ही योग्य समझा जा रहा है।" सम्भवतः पिछली पंक्तियां ग़ैर-हिंदुओं विशेषकर मुसलमानों की ओर से शुद्धि-संगठन को लेकर अपने प्रतिकूल होने वाले आन्दोलन को दृष्टि में रखते हुए लिखी थीं।

लगभग ढाई वर्ष तक आप हिन्दू-महासभा के साथ रहे। कलकत्ता में सन् १६२४ ईस्वी में लाला लाजपतराय जी के सभापतित्व में हुए हिन्दू-महासभा के अधिवेशन में भी आप सम्मिलित हुए। वहां महासभा ने शुद्धि तथा दलितोद्धार की ओर एक कदम और उठाया था। पर, स्वामी जी इतने ही से सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। संगठन के क्रान्तिकारी-कार्यक्रम के आन्दोलन के लिये आपने १३ अप्रैल सन् १६२३ से देहली से हिन्दी में प्रो० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति के सम्पादकत्व में दैनिक-'अर्जुन' और उर्दू में श्री देशबन्धु जी गुप्ता के सम्पादकत्व में दैनिक-'तेज' का संचालन शुरू किया था। स्वामी जी ने अपने साहस और पुरुषार्थ पर दोनों पत्रों को शुरू किया था। आज दोनों दो संस्थाओं के रूप में देहली में विद्यमान हैं। पीछे 'अर्जुन' को तो प्रो० इन्द्र जी ने खरीद लिया और 'तेज' के संचालन के लिये एक लिमिटेड कम्पनी बना दी गई थी। मद्रास की दूसरी यात्रा में अंग्रेज़ी-पत्र की आवश्यकता अनुभव होने पर आपने देहली से ही पहली अप्रैल सन् १६२६ से साप्ताहिक 'लिबरेटर' निकालना शुरू किया था, जिसका पहिला उद्देश्य था दलितोद्धार, दूसरा हिन्दू-संगठन और तीसरा आत्मिक साधना द्वारा स्वराज्य की स्वतः प्राप्ति। इसके ३७ ही अङ्क निकल पाये थे, किन्तु प्रत्येक अंक तीनों उद्देश्यों की सिद्धि के यत्न में आदि से अन्त तक भरा रहता था। 'लिबरेटर' अपने ढङ्ग का एक

ही पत्र था, जिसमें साप्ताहिक-स्वाध्याय की अपेक्षा स्थिर-स्वाध्याय की ही सामग्री अधिक रहती थी। 'अर्जुन' और 'तेज' में भी स्वामी जी समय-समय पर विशेष लेख लिखते रहते थे। बहुत-सी छोटी-मोटी पुस्तकें और पुस्तिकायें भी आपने प्रकाशित की थीं। साहित्य द्वारा आन्दोलन करने में आपने कोई भी बात उठा न रखी थी। हर एक समस्या पर आप अपनी ही दृष्टि से विचार करते थे। इस लिये आपके लेखों में ऐसी मौलिकता रहती थी, जो पढ़ने वाले के हृदय की गहराई में सीधा पहुंच कर वहां अपना घर बना लेती थी। इन शीर्षकों के आपके लेख असाधारण हलचल पैदा करने वाले थे—"बिरादरी में मिलाने का काम स्वयं हिन्दू बिरादरियों को करना चाहिये", "एक नहीं अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है", "दलितोद्धार किस प्रकार हो ?"—पांच लेख, "दलितोद्धार के मार्ग में रुकावटें"—चार लेख और "रचनात्मक हिन्दू-संगठन"—दो लेख। दो-ढाई वर्ष तक आप हिन्दू-महासभा के उप-सभापति रहे और धन-संग्रह तथा धार्मिक-अधिकारों की रक्षा आदि के लिये बनाई जाने वाली उपसमितियों के भी आप सभासद् निर्वाचित होते रहे। सारांश यह है कि हिन्दू-महासभा में प्रवेश करते ही आपने अपनी कर्तव्यपरायणता से उसमें अपना विशेष स्थान सहज में ही बना लिया था।

(घ) उदारता और सहिष्णुता

हिंदू-महासभा में अपने लिये विशेष स्थान बना लेने पर भी आप उसके साथ अधिक दिन नहीं निभ सके। आपके संगठन के क्रांतिकारी-कार्यक्रम में से कट्टर सनातनी हिंदुओं को आर्यसमाज की 'बू' आने लगी। वैसे आपने इस सम्बन्ध में जिस उदारता तथा सहिष्णुता का परिचय दिया था, वह अद्भुत, आश्चर्यजनक और कुछ अलौकिक ही था। आर्यसमाज के रंग में इतने गहरे रंगे हुए स्वामी जी, जो कभी केवल 'आर्य' शब्द के प्रयोग के लिये ही आग्रह किया करते थे, अब निरन्तर 'आर्य-हिंदू' शब्द का प्रयोग करने लग गये थे, शुद्धि के लिये लम्बे-चौड़े संस्कारों को अनावश्यक बता कर सीधी-सादी और संक्षिप्त विधि से ही काम लेने का आदेश दिया करते थे, पौराणिक लोग जहां अपनी गोमूत्र आदि की विधि काम में लाना चाहते थे, वहां अपनी वैदिक विधि के लिये ऐसा कोई दुराग्रह भी नहीं करते थे और उनके मनको रखते हुए ही काम कर लेने का यत्न करते थे। आपके इस व्यवहार से कट्टर आर्यसमाजी तो असन्तुष्ट थे ही, पर आश्चर्य यह है कि इतनी उदारता दिखाते हुए आप सनातनियों को भी सन्तुष्ट नहीं कर सके। पीछे पंजाब, संयुक्त-प्रांत, बिहार और बंगाल की जिस यात्रा का वर्णन किया गया है, उसके सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ जी तक ने स्वामी जी पर कलकत्ता में एक

भाषण में यह आक्षेप किया था कि उस मात्रा में स्वामी जी ने आर्यसमाज का ही प्रचार किया था। मद्रास के सम्बन्ध में भी आप का ऐसा ही आक्षेप था। आपने उस भाषण में कहा था—"सनातनधर्म के नाम से आर्यसमाज का काम होता है। लोगों को शुद्ध करके यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण बनाया जाता है। हमें धोखा देकर ऐसा काम किया जाता है। इस पर हमने श्री० मालवीय जी को लिखा, रिमाइण्डर भी दिये, पर कोई जवाब नहीं।" सनातनधर्म के कुछ अग्रणी महानुभावों ने 'हिन्दू-शुद्धि-सभा-आगरा' के मुक़ाबले में 'हिंदू पुनः-संस्कार-सम्मेलन' नाम की संस्था अलग ही खड़ी की थी। उसके खड़ा करने में आर्य-सनातनी की भावना काम कर रही थी। भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज को स्वामी जी ने बड़े ही शांत, युक्ति-युक्त और गम्भीर शब्दों में उत्तर दिया था। संयुक्त-प्रान्त और विहार आदि के लिये किये गये आक्षेप को निराधार बताते हुए मद्रास के दौरे के लिये लिखा था—"वह दौरा आर्य-सार्वदेशिक-सभा की ओर से किया गया था, सनातनधर्म या सनातन-धर्म-सभा के नाम पर नहीं।" अपनी स्थिति आपने कितने सुन्दर शब्दों में स्पष्ट की थी—"अपने विषय में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं। गुरुकुल में रहते हुए मैंने सब विचारों के सभ्य पुरुषों का उदारता के साथ स्वागत किया। तीर्थ जी स्वयं मानते हैं कि गुरुकुल में वह अपनी पूजा करते रहे। मुसलमान भाइयों ने

गुरुकुल में अपनी पांच वक्ता नमाज़ आनन्द से अदा की। ईसाई पादरियों को भी अपने धर्म के अनुसार उपासना की खुली छुट्टी थी। वह सब हमारे उपासना-मन्दिर में भी आकर सम्मिलित होते थे। मैं जिस सम्प्रदाय के धर्म-मन्दिर में जाता हूं, उनकी मर्यादा से भी बढ़ कर उन मन्दिरों का मान करता हूं। पुरानी मुसलमानी मजारों में, जहां मुसलमान स्वय जूता पहिने चले जाते हैं, मैं वहां नंगे पैर जाता हूं। मुसलमान और ईसाई तक जब भौतिक शरीर को गाड़ने को जारहे हों, तब सवारी खड़ी कर उतर जाता हूं और इस प्रकार सह-दुःखता प्रगट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।" संगठन-शुद्धि के आंदोलन के कारण स्वामी जी को अनुदार और असहिष्णु समझने वालों को ऊपर की पंक्तियां कुछ अधिक ध्यान से पढ़नी चाहियें। 'हिंदू-पुनः-संस्कार-सम्मेलन' को लक्ष्य करके ही स्वामी जी ने 'अर्जुन' में "एक नहीं अनेक संस्थाओं की आवश्यकता है" शीर्षक से एक लेख लिखा था। उसमें आपने स्पष्ट शब्दों में यह भी लिखा था—"यदि माननीय पं० मदनमोहन मालवीय वा श्रीमान् महाराजाधिराज रामेश्वरसिंह दरभंगा-नरेश स्वीकार करलें तो मैं एक साधारण सभासद् रह कर उनके अधीन काम करने को तय्यार हूं। इस विषय में पिछले डेढ़ मास के अन्दर मालवीय जी को तीन तारें और पांच पत्र भेज चुका हूं, परन्तु उधर से कोई उत्तर नहीं मिला।" इसी लेख में आपने यह भी

लिखा था—"जब हिंदू-महासभा का नियम-पूर्वक निर्माण हो जायगा, तब यह सारा काम उसके अधीन हो सकता है।" उक्त लेख में जिन पत्रों और तारों की ओर संकेत किया गया है, उनको यहां देने की आवश्यकता नहीं। २२ जून सन् १६२३ के 'अर्जुन' में भी आपने मालवीय जी से ऐसा ही निवेदन किया था, पर वह भी निरर्थक ही साबित हुआ था। दूसरे एक लेख में आपने सनातनधर्म के स्वामी दयानन्द बी० ए० और पण्डित गिरधर शर्मा आदि से भी प्रार्थना की थी कि वे इस काम को सम्हाल कर आपको उससे छुट्टी दिला दें।

(ङ) हिन्दू-महासभा के साथ मत-भेद

स्वामी जी के ऐसे व्यवहार पर भी यह भेद-भाव बढ़ता चला गया। कुछ सनातनी पण्डितों का यह आग्रह था कि स्वामी जी संगठन के अपने क्रांतिकारी कार्यक्रम को एक दम ही त्याग दें। पर, वह सम्भव नहीं था। सन् १६२५ में रोहतक में हरियाना-प्रांतीय-हिन्दू-कान्फ्रेन्स महामना मालवीय जी के सभापतित्व में हुई थी। विषय-नियामक-समिति में एक गौड़-ब्राह्मण पण्डित ने बाल विधवाओं के पुनर्विवाह का विषय पेश कर दिया। मालवीय जी ने धमकी दी कि यदि उस प्रस्ताव के लिये आग्रह किया गया तो वे अपने सनातनी साथियों सहित कान्फरेंस छोड़ कर चले जायेंगे। पण्डित नेकीराम जी और

भाई परमानन्द जी का झुकाव भी मालवीय जी की तरफ था। परिस्थिति बिगड़ रही थी कि स्वामी जी ने, विधवा-विवाह के समर्थकों को यह विश्वास दिला कर कि वे स्वयं इस विषय को हिन्दू-महासभा के देहली में होने वाले आगामी वार्षिक अधिवेशन में पेश करेंगे, उस समय उस को वापिस लिवाया और परिस्थिति को सम्हाला। देहली में भी मालवीय जी ने स्वामी जी से आग्रह किया कि हिन्दू-महासभा की रक्षा के लिये वे उस प्रस्ताव को पेश न करें। अतः विषय-नियामक-समिति में पेश करने के बाद भी स्वामी जी ने उस प्रस्ताव को उठा लिया। परन्तु सुधार-विरोधी ऐसे वातावरण में स्वामी जी का टिका रहना सम्भव नहीं था। केवल नाम के लिये किसी भी संस्था में आप कभी भी नहीं रहे थे। इस लिए ता० २४ जून सन् १९२५ को आप ने उस समय के हिन्दू-महासभा के प्रधान लाला लाजपतराय जी की सेवा में त्याग-पत्र लिख भेजा। उस का आशय यह था—"आप, मालवीय जी और आप के मन्त्रियों ने महासभा के कार्यक्रम में से सुधार के जिन विषयों को अलग रखने की घोषणा की थी, अपनी बिहार की यात्रा में मैंने जान-बूझ कर ही उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा था। पर, मैं यह अनुभव करता हूं कि हिन्दू-महासभा के कार्यक्रम को उदार बनाये बिना आर्य-हिन्दू-समाज की पतन और नाश से रक्षा नहीं की जा सकती। इस लिये हिन्दू-समाज को आवश्यक

सुधारों के लिये तय्यार करने को पञ्जाब के दौरे पर मैं अपनी व्यक्तिगत हैसियत से जा रहा हूं। महासभा के पदाधिकारियों को अपने कारण किसी भी उलझन में न डालने के लिये मैं १६ मई को महासभा की कार्यकारिणी की बैठक में ही उप-सभापति तथा कार्यकारिणी की सभासदी से त्यागपत्र दे रहा था। पर, आप लोगों ने मुझ को वैसा करने नहीं दिया। मैं यह देख रहा हूं कि मैं जिस कार्यक्रम को ले कर बाहर निकल रहा हूं, उस से सनातनधर्मी नेता महासभा से बिगड़ उठेंगे। इसलिये मैं यह त्यागपत्र फिर पेश कर रहा हूं। मैं वैसे महा-सभा की सहायता करता ही रहूंगा।" लाला जी ने आप को लिखा—"जब आप अपनी व्यक्तिगत हैसियत से, न कि महासभा की ओर से, सुधार-कार्य में लगेंगे, तब आप को त्यागपत्र देने की आवश्यकता मुझ को तो प्रतीत नहीं होती।" इस पर फिर आपने लिखा—"यदि मैं त्यागपत्र नहीं देता तो मैं अपने प्रति ही सच्चा नहीं रहता। मैं नहीं चाहता कि 'वर्णाश्रम-संघ' वालों को, समाज-सुधार के लिये किए जाने वाले मेरे यत्नों को ले कर महासभा के विरुद्ध कुछ कहने का अवसर मिले। इसलिए कार्यकारिणी के अगले अधिवेशन में मेरा त्यागपत्र पेश कर दें।" कार्यकारिणी से यह कह कर त्यागपत्र लौटा दिया गया कि वह स्थानीय हिन्दू-सभा के पास भेजा जाना चाहिए।

(च) हिन्दू-महासभा की साम्प्रदायिकता और त्याग-पत्र

इसी बीच में महासभा की ओर से कौंसिलों के लिए उमीदवार खड़े करने न-करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। महासभा के टिकट पर उमीदवार खड़ा करने के स्वामी जी सैद्धान्तिक दृष्टि से ही प्रतिकूल थे और महासभा की नियमावली के अनुसार भी वैसा नहीं किया जा सकता था। देहली में सन १९२६ के मार्च के दूसरे सप्ताह में हिन्दू-सभा-कान्फ्रेंस की विषय-नियामक-समिति के सामने जब यह विषय पेश हुआ, तब वहां और खुले अधिवेशन में भी आपने उसका स्पष्ट विरोध किया। सिन्ध के श्री जयरामदास दौलतराम और अम्बाला के लाला दुनीचन्द जी ने भी आप का साथ दिया। अवध-प्रांतीय-हिन्दू-कान्फ्रेंस के खुले अधिवेशन पर भी इस विषय पर आप की मालवीय जी के साथ अच्छी झपट हो गई थी। कुछ समाचार-पत्रों ने उस झपट को महासभा में फूट पैदा होने के रूप में प्रकाशित किया था। स्वामी जी ने 'लिबरेटर' के २३ सितम्बर सन् १९२६ के अंक में महासभा से त्यागपत्र देने के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"मैंने मालवीय जी से अत्यन्त आग्रहपूर्ण शब्दों में कहा कि महासभा अपने ध्येय के प्रतिकूल साम्प्रदायिक-राजनीति की ओर झुक रही है। उन से आग्रह किया कि महासभा की ओर से शुद्धि तथा दलितोद्धार का काम

करने के लिये वे अपील करने दें। कार्यकर्ताओं के अभाव का बहाना करके अपील नहीं करने दी गई। मैंने प्रतिज्ञा की कि यदि महासभा इस काम को अपने हाथ में ले ले तो भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा तोड़ कर उस का सब फण्ड महासभा को सौंप दिया जायगा और मैं अपने सहित अपने सब कार्यकर्ताओं को शुद्धि, दलितोद्धार तथा संगठन के आंदोलन के लिये महासभा के सुपुर्द कर दूंगा। मैंने पण्डित जी को विश्वास दिलाया कि इस प्रकार आंदोलन में जान पड़ जायगी। पर, मुझ को एक ही जवाब मिला कि हिन्दू-महासभा को ऐसे सब झंझटों से अलग रखना चाहिए और ऐसा सब काम महासभा से अलग रह कर ही करना चाहिए। मेरी निराशा का अनुमान सहज में किया जा सकता है। महासभा की वर्किंग-कमेटी ने महासभा के प्रस्ताव की सीमा को लांघ दिया और पंजाब-प्रांत की सभा को अपने उमीदवार खड़े करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार जो महासभा अपने निश्चित ध्येय और मार्ग से अलग हो रही थी, उससे त्याग-पत्र देने के सिवा मेरे लिये दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहा था।" आगे आपने लिखा था—"मैं हिंदू-महासभा की प्रतिष्ठा से इस प्रकार लाभ उठाने और एक राजनीतिक दल के विरोधियों को पराजित करने में उसको साधन बनाने को घातक नीति समझता हूं। कोरी साम्प्रदायिक नीति से प्रेरित हो कर काम करने वाले दल के मैं विरुद्ध हूं। यदि मुसलमान

तुम्हारा साथ नहीं देते तो इसका दोष उन पर है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम भी एक विशुद्ध-हिंदू-राजनीतिक-संगठन खड़ा कर लो। मेरे त्याग-पत्र का यह आशय है कि यतः हिंदू-महासभा एक साम्प्रदायिक-राजनीतिक-संस्था बन गई है, इस लिये उसके काम में सहयोग देना मेरे लिये सम्भव नहीं रहा। मैं उसकी अधीनता में समाज-सुधार का ही काम कर सकता था, किंतु अब वह भी सम्भव नहीं; क्योंकि मालवीय जी का यह खयाल है कि शुद्धि-दलितोद्धार आदि का समाज-सुधार का काम करने पर वह टूट जायगी। अब मैं उन लोगों की ओर से निश्चिंत हो कर अपने ढङ्ग से वैदिक-धर्म के पुनरुत्थान के काम में लगूंगा, जिनकी दृष्टि में उनके साम्प्रदायिक-राजनीतिक-आन्दोलन की अपेक्षा हिंदू-समाज के सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सुधार का काम बिलकुल गौण है।" देहली की स्थानीय हिंदू-सभा के मन्त्री को आपने जो त्याग-पत्र भेजा था, उसमें भी आपने लिखा था—"यतः महासभा ने प्रान्तीय सभाओं को अपनी ओर से कौंसिलों तथा एसेम्बली के लिये उमीदवार खड़े करने का अधिकार दे दिया है और कुछ सभाओं ने वैसा करना शुरू भी कर दिया है, इस लिये मैं अन्तरात्मा में यह अनुभव करता हूं कि मैं हिंदू-महासभा का सभासद् नहीं रह सकता। इससे भी बड़ी बात यह है कि हिंदू-महासभा हिंदू-समाज को सर्वनाश से बचाने के लिये अत्यन्त आवश्यक सुधारों

को करना अपना कर्तव्य नहीं समझती और वह अपने सभासदों के उस कर्तव्य-पालन के मार्ग में रुकावटें भी डालती है। इसी लिये मैं आपकी सभा से त्याग-पत्र देने के लिये बाधित हूं।"
इसी त्याग-पत्र की एक प्रति आपने महासभा के कार्यालय में भेज दी थी।

(छ) साम्प्रदायिकता के विरोध में

हिन्दू-महासभा से दिये गये त्याग-पत्र और उस के सम्बन्ध में लिखे गये 'लिबरेटर' के उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट है कि स्वामी जी साम्प्रदायिक व्यक्ति नहीं थे और आप संगठन, शुद्धि अथवा दलितोद्धार द्वारा हिंदू-समाज में साम्प्रदायिकता पैदा नहीं करना चाहते थे। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये यहां दो-एक और उद्धरणों का देना भी आवश्यक है। 'अर्जुन' के दूसरे वर्ष में प्रवेश करने पर आप ने 'अर्जुन' द्वारा हिन्दू-समाज को जो सन्देश दिया था, वह स्मरण करने योग्य है और उस से पता लगता है कि आप ने संगठन, शुद्धि तथा दलितोद्धार के काम को किस भावना से उठाया था। उस में आप ने लिखा था—
"पांच हज़ार वर्षों से दीन अवस्था को प्राप्त होते-होते गत एक हज़ार वर्षों में तो गिरते-गिरते यह देश दासता की पराकाष्ठा को पहुंच गया था! उस गुलाम की हालत बड़ी दर्दनाक है, जो अपनी दासता को अनुभव करता हुआ भी गुलामी की जंजीरों में

जकड़ा जा रहा हो। यह हालत आर्य-हिन्दू-समाज की मुसलमानों के शासन-काल में थी। परन्तु जो अभागा दास अपनी अवस्था में ऐसा सन्तुष्ट हो जाय कि उसी को जीवन का स्वाभाविक आदर्श समझने लग जाय, उस की अवस्था को ज़ाहिर करने के लिए कोई शब्द ही ढूंढ़े नहीं मिलता। आर्य-हिन्दू-समाज को जब तक लोहे की जंजीरें पहिनाई रहीं, तब तक वह उससे छूटने के लिये हाथ-पैर मारता रहा। मुसलमानों के समय में इसीलिये क्षत्रियों के दल बार-बार दासता की ज़ंजीर काटने का प्रयास करते रहे। अंग्रेज़ों ने जहां भाई-भाई को लड़ा कर सारा देश क़ाबू कर लिया, वहां कुछ काल के अनुभव से ही सन् १८५७ ईस्वी के विप्लव के पीछे, महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के रूप में, हिंदियों को सोने की जंज़ीरें पहना दीं। साथ ही अपनी शिक्षा-विधि द्वारा ऐसा क्लोरोफ़ार्म सुंघाया कि गुलाम ज़ंजीरों को आभूषण समझने लग गये।। फिर अपनी हालत में ऐसे मस्त हुए कि हिलने-जुलने की ज़रूरत ही न समझी। हिन्दियों में से मुसलमानों ने तो फिर भी अपनी हस्ती क़ायम रक्खी, परन्तु हिन्दुओं ने अपने अस्तित्व को ही भुला दिया। पचपन वर्ष हुए एक बाल ब्रह्मचारी ने मूर्छित आर्य जाति को जगाने का यत्न किया। कुछ हलचल भी हुई, परन्तु मुट्ठी भर व्यक्तियों के सिवाय बाकी सब खुर्राटे ही लेते रहे। उसी नशे में चूर हिंदू-समाज की आंखें जब महात्मा गांधी ने खोलीं, तो

अपनी विवशता को भूल कर उन्होंने पहिले स्वयं साधन-सम्पन्न बनने के स्थान में अपने मुसलमान भाइयों की रहनुमाई का दावा कर दिया। स्वार्थ इस प्रतिज्ञा की जड़ में था। इस लिये महात्मा गांधी के जेल जाते ही हिन्दुओं ने मुंह की खाई। तब परमात्मा के अटल नियम ने उनकी आंखें खोलीं, जिसका परिणाम गत सवा वर्ष का धर्म-युद्ध है। वह दिन दूर नहीं है जब आर्य-हिंदू समाज संघ-शक्ति से सुसज्जित होकर व्यक्ति और समष्टि दोनों को बलवान् बना कर, सारे संसार के अन्य समाजों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ायगा।" इसी के साथ मुसलमानों के नाम इसी सम्बन्ध में निकाले गए सन्देश को भी पढ़ना चाहिये। वह यह था—"मुसलमान-समाज को मैं सिर्फ़ एक सलाह देना चाहता हूं। याद रखो—संगठित और शक्ति-सम्पन्न समाज का असंगठित और कमज़ोर समाज पर अत्याचार करना भी वैसा ही पाप है, जैसा कि कमज़ोर और कायर होना पाप है। इस लिये हिंदुओं के संगठन और शक्ति-सम्पन्न होने में विघ्न मत डालो। यदि तुम हिंदू-समाज के अस्तित्व को इस भूमि पर से मिटा सकते, तो मैं कुछ भी नहीं कहता; क्योंकि मनुष्य-समाज का यह दुर्भाग्य है कि इस वसुन्धरा का भोग वीर लोग ही कर सकते हैं। साथ ही तुमको यह भी मालूम होना चाहिये कि जो समाज पांच हज़ार वर्ष के निरन्तर पतन के बाद भी नष्ट नहीं हुआ उसको भगवान् ने किसी भावी

हेतु से ही क़ायम रखा हुआ है। यदि हिंदू-समाज के अस्तित्व को नष्ट नहीं किया जा सकता, तो उसको संगठित तथा दृढ़ होने दो, जिससे वह भारतीय-राष्ट्र के राजनीतिक-अभ्युदय में मुसलमानों के गले का भार न होकर शक्ति का पुंज साबित होसके।" इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद इसमें सन्देह के लिये थोड़ी सी भी गुञ्जाइश नहीं रहती कि स्वामी जी के संगठन का उद्देश्य बहुत विस्तृत और पवित्र था, साम्प्रदायिकता अथवा मुस्लिम-द्वेष की उसमें गन्ध भी नहीं थी।

स्वामी जी की उदारता और उच्चाशयता की द्योतक कुछ घटनायें भी हैं देहली में सन् १६२४ में बकरीद पर हुए उपद्रव के सम्बन्ध में जब महात्मा जी देहली पधारे थे, तब उनकी यह इच्छा थी कि आपस के सब मामलों के लिये सरकारी अदालतों में न जाकर उन का निर्णय पंचों द्वारा ही होना चाहिये। स्वामी जी ने हिंदुओं को उसके लिये इतना तय्यार कर लिया कि उन्होंने अपनी ओर से महात्मा जी को ही एकमात्र पंच नियुक्त कर दिया। पर, मुसलमान उस के लिये तय्यार नहीं हुए। स्वामी जी ने 'लिबरेटर' में लिखा था—"इसी समय अमेठी, गुलवर्गा और कोहाट में भी उपद्रव हुए थे। महात्मा जी से वस्तुस्थिति जान-बूझ कर छिपाई गई। जब महात्मा जी ने मुझको बुलाया, तब मैंने उनको सब घटनायें पढ़कर सुनाईं और मौलाना अब्दुल बारी की पुस्तिका में से आर्यसमाजियों के प्रतिकूल

मौलानाओं के उद्गार और फ़तवे भी पढ़कर सुनाये। तब उन को मालूम हुआ कि उनसे अनजाने ही हिंदुओं के प्रति कितना अन्याय हुआ था ? उसी अन्याय के प्रायश्चित्त के तौर पर उन्होंने २१ दिन का उपवास किया था। उस उपवास के अन्तिम दिनों में स्वर्गीय पं० मोतीलाल जी नेहरू की अध्यक्षता में जो एकता-सम्मेलन हुआ था, उसकी कार्यवाही इतिहास में लिखे जाने योग्य है।" इस एकता-सम्मेलन का निमन्त्रण-पत्र स्वामी जी और हकीम साहेब के नाम से निकाला गया था। उसको सफल बनाने में स्वामी जी ने जिस उदारता का परिचय दिया था, उसको बम्बई के श्रीयुत के० एफ० नरीमन ने सम्मेलन की सफलता का एक बड़ा कारण बताया था। इसी प्रकार सन् १९२३ के सितम्बर मास में देहली के कांग्रेस के विशेष-अधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस की ओर से एक विशेष शांति-सभा का आयोजन किया गया था और उसमें आगरा के आस-पास के राजपूत-मलकानों की शुद्धि को लेकर ही विशेष चर्चा हुई थी। मौलाना हसरत मोहानी और श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन का यह प्रस्ताव था कि मलकानों के अपनी बिरादरी में शामिल होने या करने का सब काम उन पर और स्थानीय लोगों पर छोड़ कर बाहर के लोगों को वहां से एक दम चले आना चाहिये। स्वामी जी ने स्पष्ट कह दिया था कि यदि मुसलमानों के सब प्रचारक वहां से लौट आयेंगे तो मैं भी भारतीय-हिन्दू-

शुद्धि-सभा को अपने कार्यकर्त्ता आगरे से लौटा लेने के लिये सलाह दूंगा और यदि सभा ने मेरा निवेदन न माना तो उक्त सभा के प्रधान पद से मैं अलग हो जाऊंगा। मौलाना मुहम्मद अली ने उलमाओं के पैरों में अपनी टोपी रख कर उनसे प्रार्थना की कि वे अपने प्रचारकों को वापिस बुला लें, परन्तु वे नहीं माने और शांति-सभा बिना किसी परिणाम के ही भंग हो गई। सम्वत् १९२३, २४ और २५ में बकरीद पर हिंदुओं को शांत रखने के लिये स्वामी जी ने जो आंदोलन किया था, उससे भी आपकी उदारता का परिचय मिलता है। आपने देहली के हिंदुओं से सन् १९२३ में ईद के दिन सन्देश के रूप में अपील की थी—"दिल्ली के हिंदुओ! तुम्हारा धर्म प्रेम और उदारता की शिक्षा देता हैं। बकरीद पर इस बात की परीक्षा है कि तुम कहां तक धर्म को समझते हो? छोटी-मोटी बातों पर अड़ना कायरता है। तुम्हें चाहिये कि गम्भीर रहो और मुसलमान भाइयों की सद्बुद्धि के लिये परमात्मा से प्रार्थना करो।" ईद के शांत बीतने पर आपने लिखा था—"इस आदर्श शांति के लिये मैं दिल्ली के हिंदू-मुसलमान दोनों को बधाई देता हूं। ईश्वर करे राजधानी की यह शीतल वायु सारे देश में फैल जाय।" सन् १९२५ में भी आपने ईद के अवसर पर देहली निवासियों को सम्बोधन करते हुए लिखा था—"परमात्मा सारे संसार का पिता है। यदि तुम्हें इस बात पर विश्वास है तो प्राणीमात्र को

मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये और मनुष्यमात्र को तो भाई समझना चाहिये । क्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आज से तीन दिनों तक अपने अमल से दोगे ? आज मुसलान स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा नये कपड़े पहिन कर एक अद्वितीय ब्रह्म के आगे अपनी श्रद्धा की भेंट धरने जा रहे हैं । क्या वह श्रद्धा उनके अन्दर घर कर गई है ? यदि ऐसा होगा तो वे अपने त्यौहार पर हिन्दुओं का दिल दुःखाने की कोई बात नहीं करेंगे । मेरे हिन्दू भाइयो ! आज तुम्हें भी अपने भ्रातृ-भाव का स्पष्ट प्रमाण देना है । परमात्मा की उपासना में अपने मुसलमान भाइयों को निमग्न देख कर प्रसन्नता से उन को आशीर्वाद दो । यदि तुम्हारी आंखों के आगे से कुर्बानी के लिये गोमाता जाती हो तो क्रोध और द्वेष का लेश भी अपने अन्दर न आने दो, प्रत्युत परमात्मा से हार्दिक प्रार्थना करो कि वह परमपिता उन की बुद्धियों को प्रेरणा करें, जिस से स्वयं गोमाता की रक्षा का भाव उनमें उत्पन्न हो । तुम्हारे भाई भूल से गोवध को स्वर्ग का साधन समझ रहे हैं । उन पर क्रुद्ध होकर और उन से घृणा दिखा कर उन्हें अधिकतर गोघात की ओर प्रवृत्त कर के दूने पाप के भागी न बनो । जितना तुम सहन करोगे और मुसलमान भाइयों को प्रेम का मार्ग दिखाओगे, उतना ही भगवान तुम पर कृपा करेंगे ।"

जिस हृदय से ऐसे शब्द निकल सकते थे, उस में मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष कहां रह सकता था ?

सचमुच देश का यह दुर्भाग्य ही था कि स्वामी जी सरीखे उदार, सहिष्णु और सर्वत्यागी महापुरुष के महान् कार्य के अर्थ का अनर्थ किया गया। आप के गम्भीर आशय पर परदा डाल कर जान बूझ कर अनपढ़ और साधारण मुस्लीम जनता को कुछ स्वार्थी नेताओं ने आपके विरुद्ध इतना बरगला दिया कि वे आपके जानी दुश्मन हो गये। धमकियों की चिट्ठियां तो स्वामी जी को प्रायः रोजाना ही मिलती रहती थीं। ऐसी अवस्था में भी शुद्धि, संगठन तथा दलितोद्धार के काम में लगे रहना पानी में रह कर मगर से बैर करने के समान ही था। एक बार कुछ भक्त लोगों ने आपके निवास-स्थान पर पहरा भी बिठा दिया था। कुछ खालसा और आर्यसमाजी भाई भी हरदम आपकी सेवा में उपस्थित रहने के लिये तय्यार थे। उस समय आपने लिखा था—'परम पिता ही मेरा रक्षक है।······ इस प्रकार की सहायता स्वीकार करना मेरे जीवन-भर के सिद्धान्तों के विपरीत है।······ आर्य-सन्तान में विश्वास के ऐसे अभाव को देख कर मैं आश्चर्यित होता हूं। मैं यह भी समझता हूं कि मेरे शरीर की रक्षा के लिये ऐसे उपाय पर विचार करने में हमारे मुसलमान भाइयों का तिरस्कार है। मैं धमकियों से पूर्ण सन्देशे भेजने वालों को ऐसा पतित नहीं समझता, जैसा वे स्वयं अपने आप को समझते हैं। जो मुझ से सच्चा प्रेम करते हैं मेरी उन से प्रार्थना है कि वे मुसलमान भाइयों के प्रति सहिष्णुता दिखायें

और मुझे अपने सदा से माने हुए सिद्धान्तों की रक्षा में सहायता दें ”

इतना ही नहीं, आप पर इस काम के लिये सरकार से दो लाख रुपया लेकर हिंदू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने का दोषारोप भी किया गया था। एसेम्बली में एक मुसलमान सदस्य ने तो सरकार से यह प्रश्न भी पूछ लिया था कि सरकार ने स्वामी जी को शुद्धि के लिये कितने लाख रुपया दिया है? जनता के हित का दोहरा ध्यान रखने वाली सरकार ने यह सब मामला उलझाये रखने के लिये उस प्रश्न को पूछने की अनुमति ही नहीं दी थी। ऐसा आक्षेप करने वालों और सरकार को भी स्वामी जी ने सचाई सिद्ध करने के लिये खुला चैलेञ्ज दिया था। किसी को भी उस चलेञ्ज को स्वीकार करने का साहस नहीं हुआ। स्वामी जी निन्दा-स्तुति और जीवन-मृत्यु की कुछ भी परवा न कर अपने 'मिशन' में निरन्तर ऐसे लगे रहे, मानो सिर हथेली पर रख कर ही आपने सार्वजनिक जीवन के इस कार्यक्षेत्र में आगे पैर बढ़ाया था। शुद्धि-संगठन के सम्बन्ध में स्वामी जी से गहरा मतभेद रखने और आपकी उसके लिये निन्दा करने वाले भी आपकी निर्भीकता तथा हिम्मत की तो प्रशंसा ही करते हैं।

ज. दलितोद्धार

दलितोद्धार के सम्बन्ध में कुछ अलग लिखने की आवश्यता इस लिये नहीं कि उसके सम्बन्ध में आपका काम संन्यास-काल के समस्त जीवन और उस जीवन के समस्त कार्य के साथ ऐसा तन्मय है कि उसको उस सब से अलग नहीं किया जा सकता। असहयोग-आन्दोलन के बाद की सब जीवनी दलितोद्धार की ही जीवनी है। यह भी एक विचित्र ही संयोग है कि महात्मा जी ने हरिजन-आन्दोलन जिस ढंग पर उठाया है, प्रायः उसी पर स्वामी जी उसका संचालन करना चाहते थे, किंतु स्वामी जी की वृत्ति कुछ उग्र थी और आप दलित भाइयों के साथ खान-पान आदि का सब व्यवहार एकदम ही खोल देने के पक्ष में थे। 'हरिजन' के समान अस्पृश्य कहे जाने वालों के लिये 'दलित' शब्द का प्रयोग स्वामी जी ने ही सब से पहिले किया था। स्वामी भी यह चाहते थे कि यतः यह हिंदू-समस्या है, इस लिये इसको सुलझाने का काम हिन्दुओं पर ही छोड़ देना चाहिये। वायकोम-सत्याग्रह में ग़ैर-हिंदुओं के शामिल होने के स्वामी जी प्रतिकूल थे। 'अर्जुन' में 'दलितोद्धार किस प्रकार हो ?' शीर्षक से लिखी गई विशेष लेखमाला के पांचवें लेख के अन्त में आपने लिखा था—"इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गांधी अस्पृश्यता को भारतीय-हिन्दू-समाज पर बड़ा भारी धब्बा समझते हैं। उन्होंने

देख लिया है कि कांग्रेस में सब की ऐसी समझ नहीं है। इस कलङ्क के टीके को हिन्दू-समाज के माथे से मिटाना केवल हिन्दुओं का ही कर्तव्य है। तब इसमें क्या गौरव-हानि है कि महात्मा जी कांग्रेस की हार मान कर इस बड़े काम को हिन्दू-समाज पर ही छोड़ दें और अपने ऊंचे व्यक्तित्व की छाया से उसकी सहायता करें?" पर, उस समय ऐसा होना नहीं था। स्वामी जी कांग्रेस में रहते हुए और बाद में भी कांग्रेस और उसके नेताओं का ध्यान इस समस्या की ओर राजनीतिक-दृष्टि से भी बराबर आकर्षित करते रहे थे। हिंदू-समाज से अछूत जातियों को अलग करके उसको दो टुकड़ों में बांट देने की सरकार की जिस गूढ़ चाल को महात्मा जी सन् १९३१ में दूसरी गोलमेज-सभा में समझ पाये थे, स्वामी जी ने अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के भाषण में ईस्वी सन् १९१८ में ही उसकी ओर संकेत करते हुए स्पष्ट कहा था कि भारत में अंग्रेज़ी राज के जहाज का उनको लंगर बताया जा रहा है। सरकार की ऐसी चालों को निरर्थक बनाने के लिये ही देहली में आपने दलितोद्धार-सभा का संगठन किया था। सामाजिक दृष्टि से स्वामी जी भी दलितोद्धार को हिन्दुओं के लिये सदियों के पाप का प्रायश्चित ही कहा करते थे। मथुरा-शताब्दी, कानपुर-कांग्रेस तथा ऐसे अन्य अवसरों पर हुए दलितोद्धार-सम्मेलनों में दिये गये अपने भाषणों में

आर्य-हिंदू-जाति से आप इस प्रायश्चित के लिये सदा अपील किया करते थे। आपने लिखा था—"यदि साढ़े छः करोड़ दलित भाई ईसाई या मुसलमान हो गये और इस प्रकार दलितोद्धार की समस्या हल हुई तो ऐसा होने से हिन्दुओं का प्रायश्चित तो नहीं होता और इसी लिये हिन्दू-समाज स्वराज्य का अधिकारी नहीं होता।" दलितोद्धार के लिये स्वामी जी की बेचैनी का पता उस तार से लगता है, जो अहमदाबाद में जून सन् १९२४ में होने वाले आल-इंडिया-कांग्रेस-कमेटी के अधिशन के अवसर पर आपने महात्मा जी को दिया था। वह तार यह था—"कृपा करके अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी के प्रांतीय हिन्दू सभासदों को, जो नौकर रख सकते हैं, कहा जाय कि वे अपनी व्यक्तिगत सेवाओं के लिये जो नौकर रखें, उनमें एक नौकर अवश्य अछूतों में से ही हो। जो ऐसा न कर सके, वह कांग्रेस में पदाधिकारी न रहे। यदि यह सम्भव न हो तो अस्पृश्यता के प्रश्न को हिंदू-समाज पर ही छोड़ दिया जाय।" आज महात्मा गांधी अपने जीवन की बाजी लगा कर जिस हरिजन-आन्दोलन को सफल बनाने में लगे हुये हैं, स्वामी जी भी उस दलितोद्धार-आन्दोलन की सफलता का स्वप्न देखने की इच्छा रखते हुए ही इस संसार से बिदा हुए थे। अमृतसर-कांग्रेस के भाषण में दलितोद्धार के लिये अपील करते हुए उपस्थित देवियों और सज्जन पुरुषों से आपने उस स्वप्न के पूरा

होने का आशीर्वाद मांगा था। यदि यह सच है कि महापुरुषों के असिद्ध स्वप्न महापुरुष ही पूरे किया करते हैं, तो यह कहना होगा कि महात्मा गांधी स्वामी जी का असिद्ध स्वप्न ही पूरा करने में लगे हुए हैं।

११. आर्यसमाज

हिन्दू-महासभा से निराश हो कर आप ने अपने ही ढंग से और बिलकुल स्वतन्त्र-रूप में शुद्धि-संगठन तथा दलितोद्धार का काम जारी रखा। 'अर्जुन' में "शुद्धि और संगठन का काम जारी है" शीर्षक से लिखे गये लेख में आप ने लिखा था—"मलकानों की शुद्धि भारतीय-हिन्दू-शुद्धि-सभा आगरा के द्वारा जारी है। मैं उस सभा के साथ यह काम नहीं कर रहा हूं, परन्तु स्वतन्त्रता से। जो भी हिन्दू रस्म-रिवाज़ रखने वाली ईसाई व मुसलमान बिरादरियां मिलती हैं उनको बिरादरी में मिलाने का यत्न मैंने नहीं छोड़ा। हां, इसका ढोल पीटना बन्द कर दिया है। दलितोद्धार का काम बराबर जारी है। परन्तु उस को भी हिन्दू-महसभा तथा आर्यसमाज के साथ मिलकर नहीं कर रहा हूं। हिन्दू-महासभा के साथ मिलना इसलिये नहीं हो सकता कि वे शुद्ध-स्वच्छ दलितों के भी हाथ का अन्न-जल ग्रहण करने के प्रतिकूल हैं और मैं उस में कुछ भी संकोच नहीं करता हूं। आर्यसमाज की किसी संस्था के साथ

इसलिये काम नहीं चला सकता कि वे बिना गुण-कर्म का विचार किये सब को यज्ञोपवीत धारण करा देते हैं। मैं उन को ही यज्ञोपवीत का अधिकारी समझता हूं जो गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य कहे जा सकते हैं।" इस तरह स्वतन्त्र रूप में कुछ समय आप ने काम चलाया। शुद्धि के लिये उन्हीं दिनों में आप ने 'भ्रातृ-मिलाप' शब्द काम में लाना शुरू कर दिया था। सन १९२३ में हिन्दू-शुद्धि-सभा आगरा की स्थापना के बाद आप ने 'अर्जुन' में 'शुद्धि या प्रायश्चित्त' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी। उस में आप ने इस शुद्धि को प्रायश्चित्त का नाम दिया था और वैसे भी बिछुड़े भाइयों के इस मिलाप को शुद्धि कहना आप की दृष्टि में अनुचित था। आगरा की शुद्धि-सभा से अलग हो कर इस काम को आपने 'भ्रातृ-मिलाप' के नाम से करना शुरू किया था। 'हिन्दू-संगठन' की जगह भी आप 'आर्य-संगठन' शब्द का प्रयोग करने लग गये थे। आर्य-संगठन शब्द की सार्थकता के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"हिन्दू-संगठन के स्थान में आर्य-संगठन इसलिये लिखा है कि बिना आर्यसमाज का संगठन हुए हिन्दू-संगठन में कृतकार्यता न होगी। इसलिये पहले आर्यसमाज का ही संगठन करना होगा।"

जुलाई सन् १९२५ में इसी उद्देश्य से आप ने पञ्जाब का विस्तृत दौरा किया था। उस दौरे का कार्यक्रम समाचार पत्रों

में देते हुए आपने लिखा था—"हिन्दू-संगठन के लिये गत ढाई वर्ष काम करते हुए मैंने अनुभव किया है कि यदि आर्य-संस्कृति की रक्षा करना और उसके द्वारा हिन्दू समाज को अधःपतन से बचाना है, तो आर्यसमाज को अपनी त्रुटियाँ दूर करके इस सेवा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। जबतक अपनी बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करके आर्यसमाज की संस्था लगन से इस काम में नहीं लग जाती, तब तक हिन्दू समाज के अन्य सम्प्रदायों में भी जान नहीं पड़ सकती।" इसलिये इस दौरे में मेरा सब से पहला उद्देश्य यह है कि आर्यसमाज को घरेलू झगड़ों और तुच्छ विचारों से मुक्त करा के उस मार्ग की ओर निर्देश करूँ, जिस पर चलाने के लिये ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज को जन्म दिया था। दूसरा उद्देश्य यह है कि आर्य संस्कृति से उत्पन्न हुए सम्प्रदायों, सनातनी-जैनी-सिख आदि के साथ, मिल कर काम करने का ढंग आर्यसमाजियों के सामने रखूँ और प्रयत्न करूं कि वे सब गौण भेद-भावों को छोड़कर अपने विस्तृत जाति के संगठन में लग जांय। तीसरा उद्देश्य यह है कि स्वार्थ-परायण मौलवियों से भड़काये हुए मुसलमानों पर असलियत ज़ाहिर कर दूं। ता० ८ जुलाई से १४ अगस्त तक इन २६ स्थानों में दौरा करने का कार्यक्रम बनाया गया था—करनाल, अम्बाला, लुधियाना, जालन्धर, होशियारपुर, अमृतसर, लाहौर, लायलपुर, स्यालकोट, गुजरानवाला,

गुज़रात, रावलपिण्डी, तक्षशिला, झेलम, मीरपुर, सरगोधा, पिण्डदादनखां, खुशाब, मियांवाली, डेराइस्माइलखां, डेरा-गाज़ीखां और मुलतान। इस दौरे में आप दो-दो, ढाई-ढाई घण्टा तक भाषण देते थे और आर्यसमाज के दोनों ओर के स्थानीय नेताओं से विचार-विमर्श भी करते थे। दौरे से लौटने पर आप ने उसी उद्देश्य से 'अर्जुन' में 'आर्यसमाज का संगठन' शीर्षक से दो लेख भी लिखे थे। हिन्दू समाज और साथ में आर्यसमाज का भी यह दुर्भाग्य ही समझना चाहिये कि स्वामी जी को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। आर्यसमाज की दुई को दूर करने का स्वामी जी का यह अन्तिम उद्योग था। लाहौर पहुंचने पर दोनों दलों के नेताओं के वहां अनुपस्थित होने पर भी आप दोनों ओर के कार्यकर्ताओं से मिले। पर, उन द्वारा वह उलझन सुलझ नहीं सकती थी। उक्त लेखों में स्वामी जी ने लिखित रूप में उन प्रस्तावों को आर्य जनता के सामने उपस्थित किया था, जिन का प्रतिपादन आप अपने दौरे में व्याख्यानों में किया करते थे। आप के प्रस्ताव ये थे—"(१) कालिज-विभाग के सब आर्यसमाज अपनी जनरल सभा में यह ठहराव करें कि आर्यसमाज के सिद्धांतानुसार मांस-भक्षण वेद-विरुद्ध है। (२) गुरुकुल-विभाग के आर्यसमाज यह प्रस्ताव स्वीकार करें कि मांस-भक्षण को वेद-विरुद्ध मानते हुए जब एक बार आर्यसमाज के अधिकारी और अन्तरङ्ग-

समासद् नियत हो जावें तब फिर उन के निजू आचरणों की पड़ताल करना छोड़ देंगे। हां, जिन के आचरण ऐसे गिर जांय, जिन से समाज को हानि पहुंचती हो, तो उन के विषय में आर्य-समाज की अन्तरङ्ग-सभा उचित निर्णय कर सकती है। (३) जब उपरोक्त दो विषयों में आर्यसमाजों का बहुमत स्थिर हो जाय, तो दोनों प्रतिनिधि-सभाओं के विशेष अधिवेशन शीघ्र बुलाये जांय और उनके अन्दर सब बातें तय हो कर पञ्जाब के सब आर्यों का एक बड़ा सम्मेलन हो, जिस में आगे के कार्यक्रम की घोषणा की जाय। (४) दोनों विभाग के सभ्य अपनी अपनी आर्य-विद्या-सभा के नियम बना और उन के द्वारा सभा का निर्माण कर के उसी सम्मेलन के अन्दर उन की घोषणा कर दें। (५) यदि और सब कुछ तय हो कर भी पञ्जाब में दो आर्य-प्रतिनिधि-सभायें ही बनी रहें, तब प्रादेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा का सम्बन्ध सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के साथ हो जाय और दोनों सभायें प्रतिज्ञा कर लें कि पञ्जाब से बाहर जिन प्रांतों में प्रतिनिधि-सभायें नहीं हैं, वहां सिवाय सार्वदेशिक-आर्य-प्रतिनिधि-सभा के कोई अन्य सभा अपने प्रचारक न भेजेगी।" कालेज-विभाग वालों से आपने यह भी कहा था—"कालेज-विभाग के भाइयों से नम्र निवेदन यह है कि उनमें से जो प्रसिद्ध नेता तथा संस्थाओं के कार्यकर्ता हैं, उन में से यदि कोई मांस खाते हैं तो लोक-संग्रह और वैदिक-धर्म के हित की दृष्टि से इसे छोड दें।

सनातनधर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में आर्यसमाजों से आप का निवेदन यह था कि उन को चिड़ाने और भड़काने की कार्य-शैली तुरन्त बंद कर दी जाय। आप ने लिखा था—"एक बात याद रक्खो। यदि तुम्हें अपने मन्तव्य पर पूर्ण श्रद्धा है तो अन्य मतावलम्बियों को अपने मन्तव्य पर सच्ची श्रद्धा है, यह मानकर ही यदि आत्मिक-सुधार का कार्य आरम्भ करोगे, तभी तुम्हारा प्रयत्न सफल होगा। फिर मनुष्य का अपने सेव्य उपास्य स्वामी के साथ जो सम्बन्ध है, उसे ठेस लगाने का तुम्हें क्या अधिकार है? यदि तुम सच्चे ईश्वरोपासक हो तो अपनी उपासना का ऐसा चमत्कार दिखाओ कि अविद्या-जाल से निकल कर आप से आप लोग वैदिक धर्म के अनुयायी बनते जांय।"

मुसलमानों के लिये आर्यसमाजियों से आपने कहा था—"कादियान और लाहौर दोनों स्थानों के अहमदियों के साथ मुनाज़िरा (शास्त्रार्थ) बन्द कर दिया जाय। मैं तो शास्त्रार्थों के, चाहे किसी हिन्दू वा अहिन्दू सम्प्रदाय के साथ हों, १६ वर्षों से विरुद्ध हूं। हां, एक बार सन १९२३ ई० के दौरे में मौलवियों के अनुचित व्यवहार के मर्दन के विचार से मैंने खुले मुनाज़रे का चेलेञ्ज मुसलमानों के सब फ़िरकों को दिया था। परन्तु दिल्ली स्पेशल कांग्रेस पर मुसलिम नेताओं की दर्खास्त पर मैंने उस मुनाजरे को भी बन्द कर दिया था। मैं उसे भी अपनी भूल स्वीकार करता हूं। यदि अहमदी शास्त्रार्थ का चेलेञ्ज दें, तो

उन का उत्तर शुद्धि और दलितोद्धार के ठोस काम से दिया जाय। वह भी ढोल पीट कर नहीं, प्रत्युत विनय और शील के साथ।"

आर्यसमाज के नेताओं ने तो आप से मिलने का अवसर ही टाल दिया था, किंतु सनातन-धर्म-सभा के नेताओं ने मिलने से ही स्पष्ट इनकार कर दिया था। इस लिये दौरे का और उन लेखों के लिखने का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। फिर भी ऊपर के उद्धरणों से स्वामी जी की उदारता तथा सहिष्णुता का पता लग जाता है, साथ में यह भी मालूम हो जाता है कि आर्यसमाज को स्वामी जी किस ओर ले जाना और उसकी कार्यशैली को किस ढांचे में ढालना चाहते थे। इसी उद्देश्य से रचनात्मक-हिंदू-संगठन के शीर्षक से आपने 'अर्जुन' में दो लेख और लिखे थे। पहिले लेख में हिंदू-महासभा से शुद्धि का काम अर्यसमाज पर ही छोड़ देने के लिये वैसे ही अपील की थी, जैसे कभी महात्मा जी से कांग्रेस की हार मान कर दलितोद्धार का काम हिंदू-समाज पर ही छोड़ देने की प्रार्थना की थी। आपने लिखा था—"इस काम के लिये आर्यसमाज ही तय्यार मालूम होता है। तब क्यों न सारा हिंदू-समाज यह काम आर्यसमाज के ही सुपुर्द कर दे और यदि आप खुल्लमखुल्ला इस काम में शरीक न हो सकें तो आर्यसमाज के काम में कोई रुकावट खड़ी न करें।" दूसरे लेख में आर्यसमाज को शुद्ध हुए लोगों के साथ निःसंकोच

होकर रोटी-बेटी-व्यवहार करने और दलितों को अपने में दूध-पानी की तरह एक कर लेने की अपील की थी। इस अवसर पर आर्यसमाजियों के नाम की गई अपील प्रत्येक आर्यसमाजी को अपने हृदय पर अंकित कर लेनी चाहिये। वह अपील यह थी—"आर्यसमाज के माने हुए वैदिक सिद्धांत ऐसे व्यापक और स्वतः-सिद्ध हैं कि उनका आचरण में लाना ही उनका प्रचार है। फिर जब स्वयं आचरण करने वाले प्रचारक अपने सिद्धांतों की सचाई प्रिय भाषण द्वारा सर्व साधारण के सामने रखेंगे तो अनृत के खण्डन की क्या आवश्यकता रह जायगी ? जिन्हें वैदिक सिद्धांतों की शक्ति पर विश्वास है, उन्हें खण्डन की शरण लेने की ज़रूरत ही नहीं रहती। जब सत्य का सूर्य उदय होगा, तब अनृतरूपी रात्रि का अन्धकार स्वयं दूर हो जायगा। मैं यह सामयिक नीति की ही सम्मति नहीं दे रहा। मैं सदा अवलम्बन करने योग्य मार्ग की ओर आर्य प्रचारकों को निर्देश कर रहा हूं। जिनके कल्याण के लिये तुम इस समय प्रयत्न करना चाहते हो, यदि वे ही ऐसे भड़क जायें कि तुम्हारी बात सुनना भी न चाहें तो अपनी सुधार की स्कीम, जो वास्तव में आर्य जाति के संगठन के लिये जरूरी है, किसके आगे रक्खोगे ?" कितनी सुन्दर अपील है। इससे अधिक सहिष्णुता तथा उदारता और क्या हो सकती है ? स्वामी जी प्रचार से सदा ही आचार को ऊंचा दर्जा दिया करते थे।

७ नवम्बर सन् १६२५ को आपने 'आर्यसमाज में मिलाप' शीर्षक से फिर एक लेख लिखा था। उसमें अपने यत्न के असफल होने के सम्बन्ध में आपने लिखा था—"मेरा लेख बहरे कानों पर पड़ा।...... अब स्थिति यह है कि दोनों दल मिलना नहीं चाहते। कोई तीसरा प्रयत्न उन्हें नहीं मिला सकता। दोनों में सिद्धान्त-भेद भी है। तब उसी समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब दोनों दलों के नेताओं के अन्दर आर्य जनता के लिये दया का भाव उत्पन्न हो।" उसी लेख में फिर आपने लिखा था—"मेरा प्रयत्न समाप्त हो गया, अब इस विषय में दखल नहीं दूंगा। कहीं-कहीं गद्दीनशीनों की ओर से इस लिये भ्रममूलक अपवाद फैलाये जा रहे थे, क्योंकि वे समझ बैठे थे कि मैं उनके इन्द्रासन को छीनने के लिये यह सब प्रयत्न कर रहा हूं। यह उनकी भूल है। वह कौन-सा पद है, जिसे मैंने अन्य उत्सुक कार्यकर्ताओं की खातिर स्वयं नहीं त्याग दिया? यह ठीक है कि यदि मेरी प्रार्थना पर एकता हो जाती, तो कुछ यश मुझे भी मिल जाता; परन्तु यदि महात्मा हंसराज जी अपने भाई श्री रामदेव जी से मिल कर समझौता कर लें, तो जो यश उन्हें मिले, उसे देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।" इन शब्दों के भावों को खोलने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस जीवनी की अपेक्षा उनका सम्बन्ध आर्यसमाज के इतिहास के साथ अधिक है। सारांश यह है कि दोनों ओर के नेता ही स्वामी जी के इस

अन्तिम यत्न के सफल न होने देने के दोषी थे। इस यत्न के विफल होने पर स्वामी जी को बहुत दुःख हुआ आपने यह सोच कर अपना समाधान किया कि "कर्मफल के भोग से किसको कौन बचा सकता है?" लेख के अन्त में आपने दोनों दलों से यह अन्तिम प्रार्थना फिर की थी कि "क्या ही अच्छा हो यदि पञ्जाब से बाहर मत-भेद और विद्वेषाग्नि की चिनगारियां न पहुंचाई जावें।"

अमेरिका के तत्वदर्शी डेविड ने आर्यसमाज को भूमण्डल की समस्त सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक गन्दगी को भस्मसात् करने वाली अग्नि से उपमा दी थी और उसके सम्बन्ध में यह भविष्यवाणी की थी कि उसको बुझाने का जितना यत्न किया जायगा, उतनी ही तेजी के साथ वह प्रज्वलित होती जायगी। निस्सन्देह, बाहर के यत्न उस अग्नि को धीमा नहीं कर सके, किन्तु आपस की दुई ने उसकी निस्तेज-सा किया हुआ है। स्वामी जी ने इस दुई को मिटाने का कई बार यत्न किया था और यह अन्तिम यत्न था। आप यह समझते थे कि इस दुई के रहते हुए आर्यसमाज तेजस्वी, संगठित और शक्तिसम्पन्न नहीं हो सकता। आप यह भी अनुभव कर रहे थे कि आर्यसमाज साम्प्रदायिक-संस्था बन रहा है तभी तो आपने मथुरा-शताब्दी के बाद उस अपील में, जो पीछे दी जा चुकी है, यह कहा था कि उनसे आर्यसमाज की रक्षा करनी चाहिये, जो

उसको साम्प्रदायिक बनाने में लगे हुए हैं। आर्यसमाज को फिर से उस मार्ग की ओर, जिसके लिये ऋषि दयानन्द ने उसको जन्म दिया था, निर्देश करने की आवश्यकता स्वामी जी को इसी लिये अनुभव हुई थी कि आर्यसमाज उस मार्ग का त्याग कर साम्प्रदायिकता की ओर झुक रहा था। कांग्रेस के बाद हिन्दू-महासभा से भी निराश होकर आर्यसमाज की ओर आये हुए आर्य-संन्यासी को अपने द्वार से निराश लौटाने का ही फल आर्यसमाज इस समय तक भोग रहा है। आर्यसमाज के व्यापक कार्यक्रम के एक अंग को लेकर, जिसके द्वारा स्वामी जी उसमें नया जीवन, नयी स्फूर्ति और नयी जागृति पैदा करने आये थे, महात्मा गांधी ने देश में नया संगठन, नया जीवन और नया आन्दोलन खड़ा कर दिया है; जब कि आर्यसमाज जीवन की खोज में इधर-उधर भटक रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि आर्यसमाज के सिद्धान्त, उन सिद्धान्तों की सचाई और उस सचाई का रूप इतना व्यापक, पवित्र और ऊंचा है कि इस सम्बन्ध में दूसरा कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता। परन्तु, साथ ही यह भी निर्विवाद है कि सिद्धान्त और उनकी सचाई स्वतः निर्जीव हैं। केवल प्रचार द्वारा नहीं, किंतु आचार द्वारा ही उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की जा सकती है। ऋषि दयानन्द से पहले भी वेद थे, उनके सिद्धान्त भी थे और उनकी सचाई भी थी, परन्तु उन सब को लोग भूले हुए थे। ऋषि

ने अपने आचरण द्वारा उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करने के बाद ही प्रचार का काम हाथ में लिया था। सन् १८२४ के कुम्भ पर आचार में कुछ कमी अनुभव होते ही ऋषि ने फिर पहाड़ और जंगलों में तपस्या करने का मार्ग स्वीकार किया था। स्वामी जी भी इसी प्रकार आर्यसमाज को फिर से तपस्या के मार्ग की ओर ले जाना चाहते थे। पर, आर्यसमाज को अभी अपने कर्मों का फल भोगना बाकी था। देखें, कर्मफल भोगने की इस योनि से आर्यसमाज का कब उद्धार होता है ?

१२. अन्तिम दिन

शुद्धि-संगठन के आंदोलन को लेकर आम जनता को स्वामी जी के विरुद्ध भड़काने वालों को करांची की असगरी बेगम नाम की मुसलमान महिला की शुद्धि और मुकद्दमे से अच्छा अवसर हाथ आया। साम्प्रदायिक समाचार-पत्रों में मुकद्दमे की अति रंजित रिपोर्टें छपने लगीं। आर्यसमाजियों पर औरतों और बच्चों को भगाने का दोष लगाने वालों को तो इस से एक ऐसा प्रमाण हाथ आ गया कि मुकदमे का फ़ैसला होने तक उन्होंने भी अपने दिल का गुब्बार निकालने में कोई कसर बाकी न रखी। असगरी बेगम करांची से अपने दो बच्चों और भतीजे के साथ देहली आर्यसमाज में आई थी। वहां उस ने हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रगट की। उस की इच्छा के

अनुसार उस का संस्कार किया गया और 'शान्तिदेवी' नाम स्वीकार कर उसने स्थानीय बनिता-आश्रम में रहते हुए हिन्दी, संस्कृत आदि पढ़ना शुरू किया। कोई तीन मास बाद उस के पिता मौलवी ताज मुहम्मद खां उस को खोजते हुए देहली आये। कुछ दिन बाद उस के पति अब्दुल इस्लाम भी आ गये। उन दोनों ने शांतिदेवी से मिलकर फिर से इस्लाम धर्म स्वीकार कर वापिस चलने के लिये आग्रह किया। पर, उस ने ऐसा करना मंजूर न किया। इस प्रकार रुष्ट हो स्थानीय इस्लामी अंजुमनों से भड़काये जाकर उस के पति ने शान्तिदेवी, स्वामी जी, डा० सुखदेव, प्रो० इन्द्र, श्री देशबन्धु गुप्त, लाला गणपतराय और करांची आर्यसमाज के मन्त्री पर मुकदमा दायर करा दिया। शान्तिदेवी पर बच्चों को भगाने और शेष सब पर उस को सहायता करने का आरोप लगाया गया था। मुकदमा खूब चला। लाहौर से बैरिस्टर बुलाये गये। स्थानीय अंजुमनों ने उस को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। जून से दिसम्बर तक मुकदमा चला। आखिर ता० ४ दिसम्बर सन् १९२६ को सब अभियुक्त मुकदमे से बरी कर दिये गये। जाहिल मुसलमानों को स्वामी जी के प्रति इतना अधिक भड़का दिया गया कि उन के इस प्रकार बेदाग़ छूट जाने पर भी उन में सुलगी हुई असन्तोष की आग और ज़ोरों से भड़क उठी। स्वामी जी को खून करने की धमकियों के और भी गुमनाम-पत्र आने

लगे। हापुड़, मेरठ, देहली आदि में इस सम्बन्ध में कुछ पैम्फलेट भी निकाले गये। ख्वाजा हसन निजामी ने अपने पत्र 'दरवेश' में भी इसी प्रकार के कुछ इशारे किये थे और कुछ नज़में भी शाया की थीं। स्वामी जी उन सब को अपने स्वभावानुसार उपेक्षा की दृष्टि से देखते रहे।

नवम्बर मास में अपने प्रिय गुरुकुल कुरुक्षेत्र में, जो उन का सैनीटोरियम था, जाकर आप कुछ विश्राम करना चाहते थे और उस के बाद गोहाटी-कांग्रेस जाने का विचार था। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पं० सोमदत्त जी विद्यालङ्कार को सब व्यवस्था करने के लिये पत्र भी लिख दिया था। पर, बनारस से श्री घनश्यामदास जी बिड़ला के कई तार आने पर वहां जाने के लिये आप को बाधित होना पड़ा। वृद्ध और थका हुआ शरीर पहिले ही रोगों का घर बना हुआ था। बनारस में कई दिनों तक देहात की गर्द और सर्दी में मोटर का सफ़र करना पड़ा; दिन में कई-कई जगह बोलना पड़ा; गले और फेफड़े को खांसी तथा कफ ने धर दबाया। बीमार हो कर बनारस से लौटे। लौट कर फिर ता० ८ दिसम्बर सन् १९२६ को कुरुक्षेत्र जाने का निश्चय किया। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता ने आकर घेर लिया और अपने यहां चलने को विवश किया। सवेरे ही मोटर पर वहां के लिये चल दिये। सरदी में बड़े सवेरे, झक्कड़ की तरह चलती हुई हवा में, १२ मील का सफर तय

करने के बाद गुरुकुल पहुँचते ही तबियत बिगड़ गई। दुपहर के बाद उलटियां आने लगीं। बुखार में ही शाम को देहली लौट आये। डाक्टर सुखदेव जी ने परीक्षा की तो मालूम हुआ 'ब्रांको निमोनिया' का आक्रमण था। दूसरे दिन से डाक्टर अन्सारी का इलाज शुरू हुआ। डाक्टर अन्सारी पर स्वामी जी को बड़ा ही अद्भुत विश्वास और श्रद्धा थी। आधी बीमारी उन के दर्शनसे ही दूर होजाती थी। डाक्टर अन्सारी को चार दिन के लिये रामपुर जाना पड़ा। पीछे बीमारी बहुत बिगड़ गई। पर, डाक्टर साहब ने लौटते ही सम्हाल लिया। दो दिन में ही ज्वर उतर गया। डाक्टरों ने भयंकर अवस्था के टल जाने और कुछ ही रोज़ में नीरोग हो जाने की घोषणा कर दी। चिन्तित जनता को इस समाचार से कुछ शांति और समाधान मिला। पर, स्वामी जी के हृदय में अद्भुत परिबर्तन दिखाई देने लगा। ज्वर उतरते ही बड़े सवेरे आप ने वसीयत लिखने तथा बैंक में रखे हुए सार्वजनिक-धन और सब काम की सद्-व्यवस्था करने के लिये कुछ कार्यकर्ताओं को बुलाया। लोगों ने टालना चाहा तो स्वामी जी ने कहा—"अन्दर से यह आवाज नहीं उठती कि मैं उठ खड़ा होऊंगा। वसीयत लिख लो तो अच्छा है।" लोगों ने बात दुपहर पर टाल ही दी। दुपहर को फिर आप ने प्रोफेसर इन्द्र जी को बैंक में पड़े हुए रुपये के लिये निर्देश देते हुए कहा—"इस शरीर का कुछ ठिकाना नहीं।

तुम एक काम जरूर करना। मेरे कमरे में आर्यसमाज के इतिहास की सामग्री पड़ी है, उसे सम्हाल लेना और समय निकाल कर इतिहास जरूर लिख डालना। इतिहास के लिखने में मुझे माफ़ नहीं करना। मैंने बड़ी-बड़ी भूलें की हैं। तुम्हें तो मालूम है कि मैं क्या करना चाहता था और किधर पड़ गया।?" इतना कहते-कहते स्वामी जी का दिल भर आया और आप ने आंखें बन्द कर लीं।

१५-१६ वर्ष गुरुकुल के ब्रह्मचारियों की चिकित्सा करते हुए रोटी देने का लालच दिखा कर रोगी में उठ बैठने की हिम्मत पैदा करने का नुसख़ा डा० सुखदेव जी ने गुरुकुल में ही ईज़ाद किया था। डाक्टर अपने बड़े से बड़े बीमार को भी बालक ही समझता है। इसी भावना से एक दिन डा० सुखदेव जी ने अपने सहज-स्वभाव में हँसते हुए कहा—"स्वामी जी, अब आप अच्छे हो रहे हैं। बस, दो दिन में आपको रोटी दे दूंगा और आप बैठने लगेंगे।" स्वामी जी ने कहा—"आप लोग तो ऐसा ही कहते हैं। पर, मैं अनुभव कर रहा हूं कि मेरा यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इस रोगी देह से अब देश का क्या कल्याण होगा? अब तो एक ही इच्छा है कि दूसरे जन्म में नये देह से इस जीवन का काम पूरा करूं।"

२१ दिसम्बर को व्याख्यान-वाचस्पति दीनदयालु जी आये और आपसे बोले—"स्वामी जी, मुझ से मालवीय जी एक वर्ष बड़े

हैं और आप उनसे एक वर्ष बड़े हैं। अभी हम लोगों को बहुत-सा काम करना है। आप क्यों इतनी जल्दी मोक्ष की तय्यारी करने लगे थे ? अब तो आप राजी हो जाओगे।" स्वामी जी का एक ही उत्तर था—"इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं। मैं तो चोला बदल दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूं। अब यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इच्छा है फिर भारतवर्ष में ही उत्पन्न हो कर इसकी सेवा करूं।" २३ दिसम्बर को देहावसान के कुछ ही समय पहिले शुद्धि-सभा के मन्त्री स्वामी चिदानन्द, शुद्धि-सभा के प्रधान सर राजा रामपालसिंह का स्वास्थ्य के सम्बन्ध में समाचार मालूम करने का तार लेकर आये। स्वामी जी ने जो उत्तर लिखवाया, उसकी अन्तिम पंक्तियों का आशय यह था—"अब तो यही इच्छा है कि दूसरा शरीर धारण कर शुद्धि के अधूरे काम को पूरा करूं।"

डाक्टर, सेवक तथा भक्त लोग इन आंखों से केवल बाहर की अवस्था देख रहे थे, पर तपस्वी अन्तरात्मा की अवस्था देख रहा था और देख रहा था उस ओर, जिधर से उसको अन्तिम दिन का बुलाया आ रहा था। उसकी जिन बातों में छोटी बुद्धि वाले सांसारिक लोगों को निराशावाद जान पड़ता था, उनमें वह निश्चित और सत्य भविष्य की ओर संकेत कर रहा था। कहते हैं, मृत्यु बिना बुलाये आती है; परन्तु दूरदृष्टि वाले संन्यासी का अन्तरात्मा, बीमारी से मुक्ति-लाभ करने के बाद भी,

मालूम होता है, उसको स्वयं ही बुला रहा था और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को बदल कर नये वस्त्र पहनने की तय्यारी कर रहा था।

१३. अमरपद की प्राप्ति

प्रोफेसर इन्द्र जी प्रतिदिन की भांति तारीख २३ दिसम्बर सन् १९२६, ४ पौष सम्वत् १९८३, की दुपहर को स्वामी जी के दर्शनों के लिये गये। कमरे सब खुले पड़े थे और भीतर सब गाढ़ी नींद सोये हुए थे। कई दिन-रात की सेवा से थके हुए स्वामी जी के मन्त्री श्री धर्मपाल जी विद्यालङ्कार पास के कमरे में और सेवक धर्मसिंह स्वामी जी की चारपाई के पास दरी पर सोये हुए थे। सोते से किसी को जगाना उचित न समझ शाम को दर्शन करने की इच्छा से आप लौट आये। ईसाई से आर्यसमाजी बने हुए एक लड़के को ऊपर भेज दिया, जिस से स्थान अरक्षित न रहे। लगभग ढाई बजे कुछ सज्जन आ बैठे; जिन में डा० सुखदेव जी, कन्या गुरुकुल की आचार्या विद्यावती जी, भक्त जमनादास जी इत्यादि भी थे। पौने चार बजे स्वामी जी ने सब को विदा किया। सेवक धर्मसिंह ने कमोड़ ला दिया और स्वामी जी नित्य कर्मों से निवृत्त हो मसनद के सहारे सावधान होकर ऐसे बैठ गये, मानो अमृत पीने के लिये तय्यार हो कर ही बैठे थे।

क़मोड उठा कर बाहर रखा ही था कि सीढ़ियों में एक युवक दिखाई दिया। डाक्टर का आदेश था कि अधिक लोग स्वामी जी के पास न आयें। आप को पूरा आराम करने दिया जाय। सेवक के रोकने पर भी उस ने दर्शन करने का आग्रह किया। स्वामी जी ने आवाज सुनी और कहा—"कौन है, अन्दर आने दो!" अन्तिम दिन का सन्देश लेकर जिस के आने की इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहे थे, उस को सीढ़ियों के ऊपर, घर के द्वार तक, आ जाने के बाद खाली कैसे लौटाया जा सकता था? अन्दर आकर उस ने स्वामी जी से कहा—"स्वामी जी, मैं आप से इस्लाम के मुतल्लिक कुछ गुफ़्तगू करना चाहता हूं" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"भाई, मैं बीमार हूं। तुम्हारी दुआ से राज़ी हो जाऊंगा तो बातचीत करूंगा।" पानी मांगने पर स्वामी जी के आदेश से सेवक ने उस को पानी पिला दिया।

पानी पीकर भीतर आते ही उस हत्यारे ने मसनद के सहारे बैठे हुए स्वामी जी पर पिस्तौल दाग़ दी। आंख की एक झपक में दो फ़ायर हो गये। लपक कर सेवक ने हत्यारे को पीछे से पकड़ा, इतने में उसने तीसरा फ़ायर भी कर दिया। धर्मसिंह ने अपनी जान की ममता छोड़ सामने होकर उसका सामना किया, तो उस पर भी गोली दाग़ दी गई। रान पर गोली खाकर बेचारा धर्मसिंह जमीन पर लोट गया। हत्यारा भागने की चेष्टा

में ही था कि धर्मपाल विद्यालंकार ने आकर उसको दबा लिया। एक हाथ रिवाल्वर वाले हाथ पर और दूसरा उस पर रखे हुए उसको आध घण्टा दबाये रखा।

लुढ़कते-पुढ़कते धर्मसिंह ने मकान के छज्जे पर पहुंच कर शोर किया तो लोग दौड़े हुए चले आये। बिजली की तरह शहर में बात फैल गई। चारों ओर मातम छा गया। जिसने सुना वही सन्न रह गया। अच्छा होने का समाचार सुनते-सुनते सहसा वैसे अवसान का समाचार सुनने के लिये कोई तय्यार न था। फिर देहली की हिन्दू आबादी के ठीक बीच नया-बाजार में वैसी दुर्घटना का घटना विश्वास से कुछ परे की चीज़ था। फिर भी लोग दौड़े चले आये। अन्तिम दर्शनों की लालसा ने लोगों को विव्हल कर दिया। नया-बाज़ार में जनता की बाढ़ आ गई। बड़ी रात तक वहां वैसा ही दृश्य बना रहा। देहली की सड़कों, बाज़ारों, गलियों, मुहल्लों, दुकानों और घरों में—सब जगह और सब के मुंह पर एक ही चर्चा थी। वह दुर्घटना क्या थी, देहली पर कल्पनातीत भयंकर बज्रपात था। यह (२३ दिसम्बर सन् १९२६—८ पौष सम्वत् १९८३—गुरुवार) वह दिन था, जिस दिन सूर्य-भगवान् ने दक्षिण की ओर से उत्तर को प्रस्थान किया था और कोई पांच हज़ार वर्ष पहिले महाभारत के भीष्म पितामह ने शर-शय्या पर पड़े हुए स्वेच्छा से प्राणों का विसर्जन किया था और अब देहली के

भीष्म पितामह, जनता के हृदय-सम्राट् स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने भारत की प्राचीन आर्यसंस्कृति के कुरुक्षेत्र में छाती पर गोली खाकर अपने प्राणों का विसर्जन किया था।

डा० चिम्मनलाल किक्कानी, डा० अन्सारी और डा० अब्दुर्रहमान आदि ने परीक्षा की और शरीर के बिलकुल ठंडा होने की सूचना दे दी। रोगी देह तो पहिले ही ठंडा होचुका था, गरम दवाइयों की गरमी से उसको ज़बरन गरम रख कर, यमराज के साथ लड़ाई लड़ते हुए, प्रकृति की अवश्यम्भावी घटना को टालने की व्यर्थ कोशिश की जारही थी। वह टल कैसे सकती थी? पर, उस कर्मशील जीवन को उस बुढ़ापे में भी अन्तिम दिन अन्तिम सांस बीमारी के बिस्तर पर ही सिसकते हुए नहीं लेना था। अपितु, जीवन की अवश्यम्भावी उस अन्तिम घटना को जीवन से भी अधिक स्फूर्तिदायक बना जाना था और इस संसार से जाते-जाते भी कुछ करते हुए ही जाना था। मुँहमांगी मुराद की तरह आपको वीर गति प्राप्त हुई। उकसाये हुए मतान्ध बेचारे अब्दुल रशीद को क्या मालूम था कि जो कुछ वह करने आया था, उससे ठीक उलटा ही होगा। वह नहीं जानता था कि वह अपने उस अधम कृत्य द्वारा इस्लाम की चादर पर कभी न धुलने वाला एक काला दाग़ लगा जायगा और जिसको वह इस संसार से मिटाने आया था, उसको सदा के लिये अमर बना जायगा? निश्चय ही स्वामी जी को वह अमर-पद प्राप्त हुआ
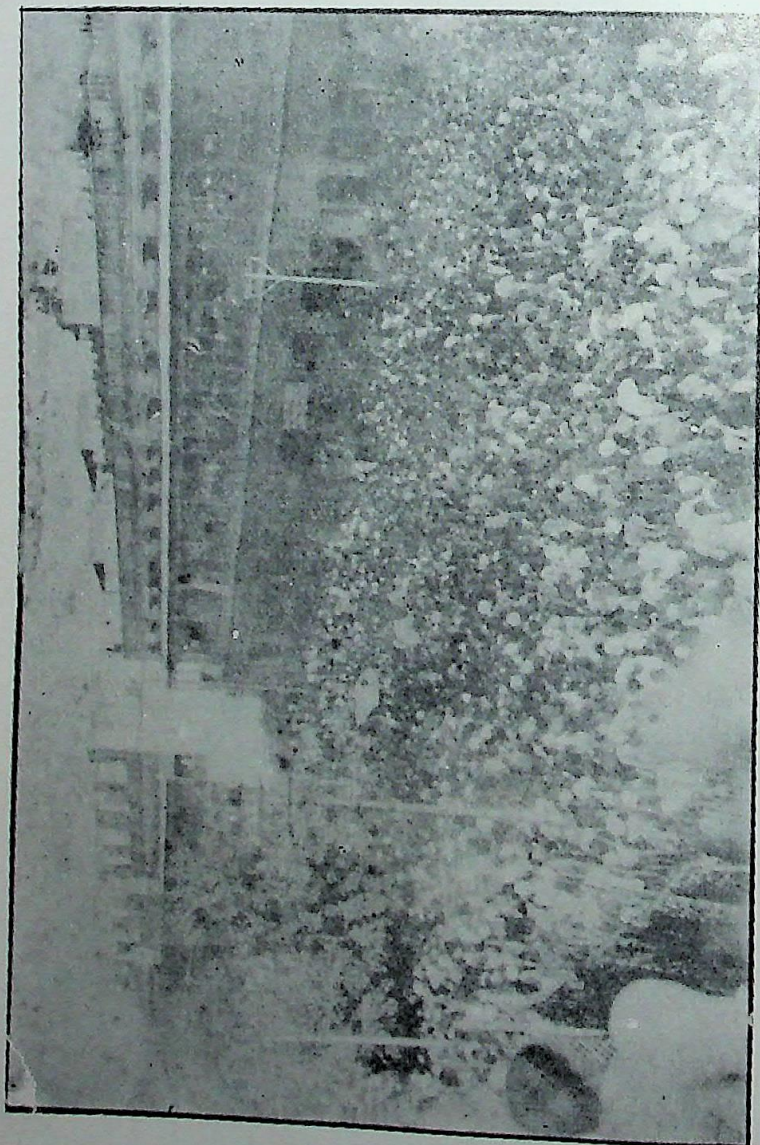
शव का सम्मान

श्रद्धानन्द-बाज़ार से अर्थी के विराट् जलूस के निकलने की तय्यारी होरही है ।

जिसकी खोज में दुनिया पत्थर-पहाड़-कन्दरा, मन्दिर-मसजिद-गिर्जा और मथुरा-काशी-काबा आदि में भटकती फिरती हैं।

गोली चलने के आध घण्टा बाद पुलिस घटनास्थल पर पहुँची। उसके थोड़ी देर बाद सीनियर सुपरिंटेण्डेण्ट-पुलिस मार्गन और शेख नजरुल हक़ आये। हत्यारे को सिपाहियों के सुपुर्द कर जांच शुरू की गई। कुछ दिन मुक़द्दमा चलने के बाद हत्यारे को फांसी की सज़ा हुई। प्रीवी-कौंसिल तक मुक़द्दमा लड़ा गया। पर, वहां से भी फांसी की सज़ा बहाल रही। इस्लाम को नापाक करने वाले मुसलमानों ने तो हत्यारे को 'गाज़ी' के पद से सुभूषित किया और प्रीवी-कौंसिल में की गई अपील के रद्द होजाने पर भी स्वामी जी के पुत्र के नाते प्रो० इन्द्र जी ने उसको फांसी न देकर इस्लाम के हाथों में उसकी किस्मत का फैसला छोड़ देने की सम्मति प्रगट की।

स्वामी जी के शव का देहली में भूतो न भावी सम्मान हुआ। सुदूर प्रदेशों से आकर लोग उसमें शामिल हुए। जिसके लिये भी देहली पहुँचना सम्भव था, वह सिर पर पैर रख आंखों के बल दौड़ा चला आया। हरिद्वार से गुरुकुल-कांगड़ी के प्रायः सभी ब्रह्मचारी और कर्मचारी कुल-पिता के अन्तिम-दर्शन करने देहली आ पहुंचे थे। गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ भी उठ कर देहली चला आया था। बलिदान के तीसरे दिन शनिवार को अर्थी का जो विराट् जलूस निकला, वह सम्राटों को भी रिझाने वाला

था। जनसमूह का उस दिन देहली में समाना कठिन था। दो-ढाई मील पर नरमुण्ड ही नरमुण्ड दीख पड़ते थे। अर्थी इतर-फुलेल और फूलों की वर्षा से इतनी भारी होरही थी कि उसको सम्हालना कठिन होरहा था। शहर के मुख्य-मुख्य भागों में घूमता हुआ जलूस सवेरे का चला हुआ दुपहर बाद जमुना के किनारे पहुँचा। अपने हृदय-सम्राट् के नश्वर शरीर को अग्नि-देव की भेंट कर देहली के निवासी अपने घरों को ऐसे खाली हाथ लौटे, जैसे उनका सर्वस्व ही लुट गया था, जैसे अबोध बालक मां-बाप की असामयिक मृत्यु से बिलकुल अनाथ होगया था और जैसे लखपति बनने की आशा में बैठे हुए साहूकार का दिवाला ही पिट गया था।

१४. सिंहावलोकन

स्वामी जी को जीवन की जिस अन्तिम घटना से अमर-पद प्राप्त हुआ और जिसने आपकी मृत्यु को कर्मशील जीवन से भी अधिक स्फूर्तिदायक बना दिया, उसी से आपके सम्बन्ध में एक निराधार भ्रम भी पैदा हो गया और आपके उत्कृष्ट सार्वजनिक जीवन पर उस साम्प्रदायिकता का एक परदा भी पड़ गया, जो आप में लेशमात्र भी नहीं थी। इसी दृष्टि से आपका देहावसान असामयिक था और मृत्यु ने आपके लिये 'अब्दुल-रशीद' को अपना साधन बना कर स्पष्ट ही आपके साथ छल-

कपट से काम लेते हुए विश्वासघात किया था। जिस देश में मनुष्य-जीवन का औसत २३ वर्ष हैं और नेताओं के लिये आयु की अवधि अधिक से अधिक ५० वर्ष है, उस देश में ७०-७२ वर्ष की आयु प्राप्त करना और जीवन की अन्तिम घड़ी तक भी लोकसेवा करते हुए ही प्राण न्यौछावर करना एक असाधारण घटना है; ऐसे जीवन का अन्त असामयिक नहीं है। फिर 'अब्दुल रशीद' सरीखे दीवाने और मतान्ध किस समाज, जाति तथा देश में नही हैं ? भाषा तथा भावों को अनाचार का साधन बना कर अपने धर्म की सेवा कौन कर पाया है और किसने इस प्रकार अपनी जाति का सिर ऊंचा किया है ? शुद्धि-संगठन और तबलीग-तंज़ीम की आड़ में भारत के इतिहास, भारत के महात्माओं और मनुष्य जाति के पथप्रदर्शकों की जो छीछालेदर की गई थी, उससे किसी उच्च आदर्श की प्राप्ति क्या हो सकती थी ? उससे तो इस देश में 'अब्दुल रशीद' सरीखे दीवाने ही पैदा हो सकते थे। मृत्यु ने 'अब्दुल रशीद' को अपना साधन बना कर मज़हबी-पागलपन की ओर आंखें मूंद कर दौड़ते हुए भारतीयों के पैर में भयानक ठोकर लगा उनको सचेत ही किया था। मृत्यु के मुख से स्वामी जी को सुरक्षित बाहर निकाल लाने वाले डा० अन्सारी के मुकाबले में 'अब्दुल रशीद' को खड़ा करके मृत्यु ने जो शिक्षाप्रद दृश्य उपस्थित किया था, प्रो० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति ने उसका कितना सुन्दर चित्र अंकित किया था ?

आपने लिखा था—"भाग्यों का चक्र यह है कि एक मुसलमान ने उन्हें मौत के मुंह से बचाया और दूसरे ने तमंचे के घाट उतार दिया। परमात्मा की अद्भुत लीला ऐसे ही रूपों में अपने को प्रगट किया करती है। डा० अन्सारी और अब्दुल रशीद मनुष्य जाति के रोशन और स्याह पहलुओं के दो नमूने हैं। आने वाली सन्तानें दोनों से उपदेश ग्रहण किया करेंगी।" 'अब्दुल रशीद' के पीछे समस्त मुसलमान जाति को डा० अन्सारी के रहते हुए कैसे 'वहशी' या 'बरबर' कहा जा सकता है? जो मुस्लिम-सभ्यता डा० अन्सारी, मौलाना आज़ाद, स्वर्गीय हकीम साहब आदि को जन्म दे सकती है, उसको जानने तथा समझने की सहृदयता, क्षमता और निर्पेक्षता अपने अन्दर पैदा किये बिना, कैसे एकाएक उसकी निन्दा की जा सकती है? अबोध बालक जमीन से ठोकर खाकर गिरने के बाद जमीन को ही मारता और दुगुनी चोट खाता है। क्या हम को भी वैसा ही अबोध बन कर दुगुनी चोट खाने की मूर्खता करनी चाहिये? 'अब्दुल रशीद' तो मृत्यु का साधन या बहाना ही था, इसलिये सब रोष, द्वेष और क्रोध मृत्यु पर ही पूरा करना चाहिये।—और मृत्यु भी क्या है? मनुष्य की अपनी कमजोरी का नाम ही मृत्यु है। वह पेड़, जिसकी जड़ें इतनी कमज़ोर पड़ जाती हैं कि वे तेज हवा का झोंका सहन नहीं कर सकतीं, गिर कर नष्ट हो जाता है। हिन्दू-समाज यदि दुर्गति, अधःपात और मृत्यु से वचना चाहता है तो उसको

अपनी एक-एक कमजोरी को परख-परख कर दूर करना होगा। नहीं तो मृत्यु नहीं टलेगी। वह अवश्य आयेगी। भले ही वह कौरव पाण्डवों के युद्ध, यादव-दल के सर्वनाश, महमूद गज़नवी के आक्रमण और विदेशी राजसत्ता में से किसी भी रूप में क्यों न आय? स्वामीजी के संगठन तथा शुद्धि के आन्दोलन का यही सन्देश था। मुस्लिम-द्वेष के शब्दों में उसका अर्थ करना सत्य की स्पष्ट हत्या और वस्तुस्थिति का जान-बूझ कर विपर्यास करना है।

मनुष्य के बाहर के कार्य उसके भीतर की भावना के निदर्शक हैं। अनुकरण भीतर की भावना का होना चाहिये, बाहर के कार्यों का नहीं। भावना स्थिर वस्तु है, बाहर के कार्य नश्वर हैं। भावना शुद्ध और पवित्र है, बाहर के कार्यों पर परिस्थिति का मैल चढ़ा रहता है। भावना ही आदर्श है, कार्य तो उसकी ओर केवल संकेत करने वाले हैं। स्वामीजी की जीवनी का पारायण करने वालों को उनकी भावना की तह तक पहुंचने का यत्न करना चाहिये और उसी को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहिये। स्वामीजी के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन की भावना को ब्रह्मचर्य, सत्य, श्रद्धा, तप तथा त्याग के शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है। युवावस्था की स्वच्छन्दता के बाद भी ब्रह्मचर्य की ऊंची से ऊंची साधना का सफल परीक्षण स्वामीजी की जीवनी है और समाज में उसकी स्थापना के लिये किये गये यत्नों का

सार 'गुरुकुल कांगड़ी' है। उनके सत्य और श्रद्धा के सम्बन्ध में विश्व-कवि रवीन्द्र ने ठीक ही लिखा था—"सत्य के प्रति निष्ठा का आदर्श श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये हैं। सत्य के प्रति श्रद्धा के उस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य हम सार्थक आकार में देख सकते हैं।" तप और त्याग का ही यह परिणाम था कि बवासीर, खाँसी, जुकाम तथा हरनिया और अन्तिम वर्षों में ब्राइड डिसीज़ से घिरे हुए होने पर भी आप १२ महीने और २४ घण्टे कमर कस कर तैयार रहते थे। इस तपस्वी जीवन से ही तो आपको ऐसा डील-डौल और स्वास्थ्य प्राप्त हुआ था कि 'पोस्ट मार्टम' करने वाले डाक्टर भी आपकी शव-परीक्षा करके हैरान रह गये थे। शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग हृष्ट-पुष्ट और मज़बूत था। व्यक्तिगत जीवन का यह चित्र किसके लिये आदर्श नहीं हो सकता ? वैसे भी धर्म, समाज, साहित्य, शिक्षा, राजनीति आदि के सभी क्षेत्रों में आपकी निष्ठा, लगन, विद्वत्ता, चरित्र तथा दक्षता को आदर्श बनाया जा सकता है। निर्भीकता की आकृति, साहस के अवतार, सचाई के धनी, संयम के उपासक, ब्रह्मचर्य के आकार, स्वाभिमान की मूर्ति, स्वदेशाभिमान की प्रतिमा, राष्ट्रीयता की ज्योति, भारतीय-संस्कृति के पुंज—उस दिवंगत आदर्श महापुरुष को बार-बार—हज़ार बार—नमस्कार है।

अप्रैल १९२४ में मद्रास-प्रांत की धर्मयात्रा के दौरान
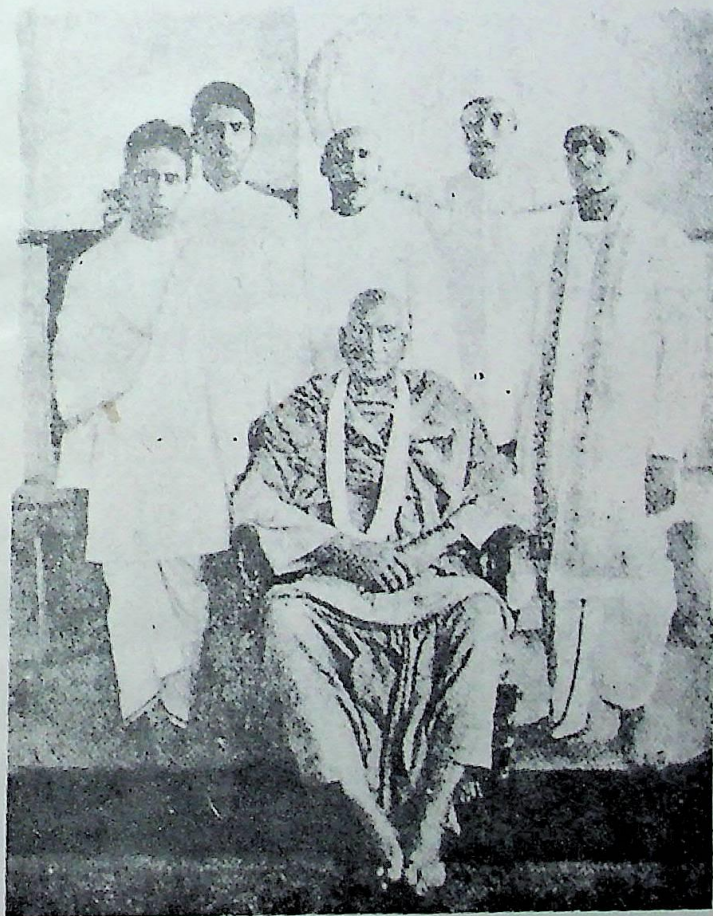
बाईं ओर से सर्वश्री आर० नटसन, पं० केशवदेव ज्ञानी सिद्धांतालंकार, काहनचन्द वर्मा, सेवक धर्मसिंह, जेठाभाई

स्वामी जी अपने साथियों के साथ

बाएं से दाएं पं० पूर्णानन्द महोपदेशक, लाला रामकृष्ण (प्रधान आ० प्र० सभा पंजाब), लाला लब्भूराम नैयर, डॉ० श्यामस्वरूप, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प० सूर्यदेव

बलिदान के बाद अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द

गुरुकुल के विकास में अन्यतम सहयोगी एवं आद्य शिक्षक

आचाय गंगादत्त
(प्रथम आचार्य)

पं० भीमसेन शर्मा
(साहित्य के अध्यापक)

पं० नरदेव शास्त्री
(अध्यापक)
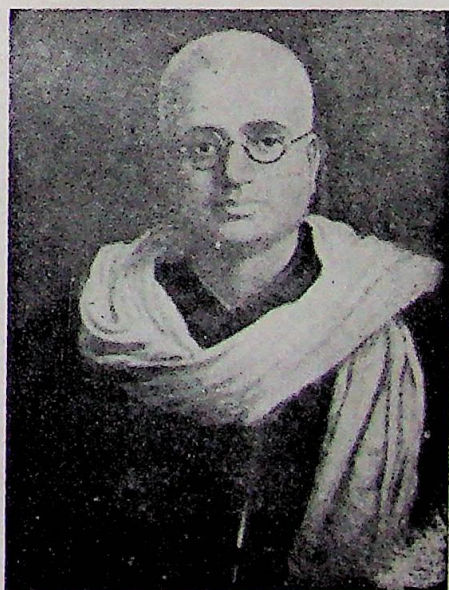
आचार्य रामदेव
प्रथम मुख्याध्यापक, प्रिन्सिपल
एवं आचार्य

पं० पद्मसिंह शर्मा
(साहित्य के अध्यापक)
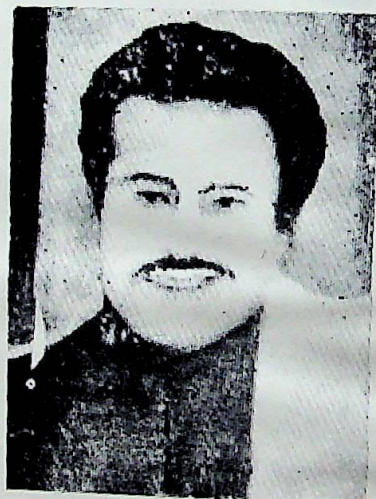
मा० गोवर्धन बी. ए.
(विज्ञान के अध्यापक एवं
मुख्याध्यापक)
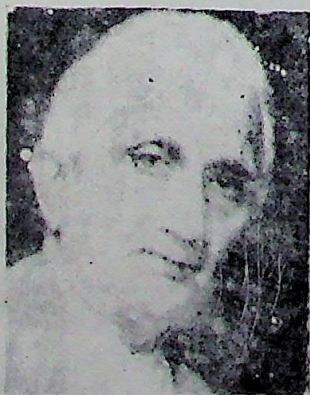
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
(कला के शिक्षक)

डॉ० चिरंजीव भारद्वाज
(चिकित्सक)

श्री मुंशीराम के कॉलिज के गुरुजन

पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र
(बनारस कॉलिज में अध्यापक)

आदित्यराम भट्टाचार्य
(म्योर कालेज इलाहाबाद में
संस्कृत के अध्यापक)

सहपाठी

पं० अम्बिकादत्त व्यास
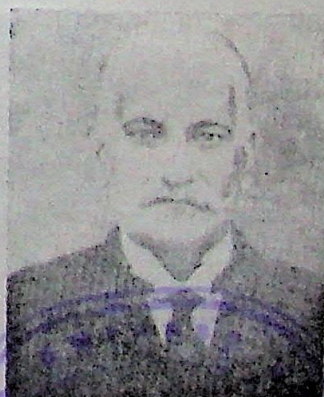
पं० मोतीलाल नेहरू

महात्मा मुंशीराम के अभिन्न मित्र

पंडित गुरुदत्त
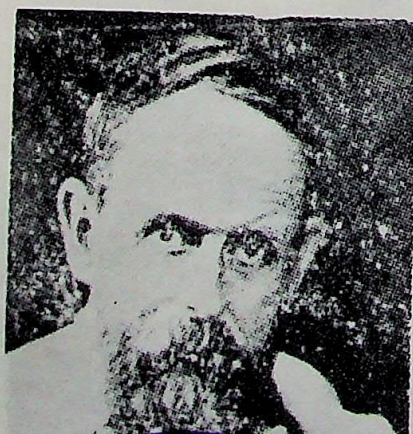
आर्यपथिक पं० लेखराम

दीनबन्धु सी. एफ. एण्ड्रूज
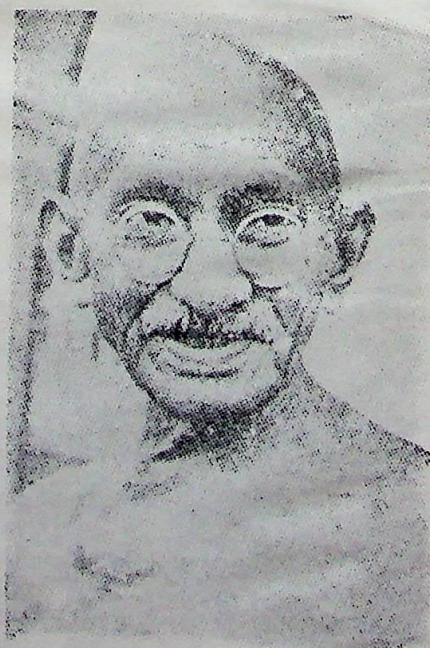
महात्मा गाँधी

सत्यदेव विद्यालंकार

१ अक्टूबर, १८९७ को नाभा (पू० पंजाब) में जन्म। विद्यालंकार (गुरुकुल, १९२०)। दैनिक 'विजय' (दिल्ली), 'राजस्थान केसरी' (नागपुर), दैनिक मारवाड़ी', 'प्रणवीर' (नागपुर), 'नवयुग' (अकोला), दैनिक 'स्वतन्त्र' (कलकत्ता), दैनिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), दैनिक 'विश्वमित्र' (दिल्ली), 'अमर भारत' (दिल्ली) में संपादन; दैनिक 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली) और दैनिक 'नवप्रभात' (उज्जैन, इन्दौर, भोपाल) के आदि संपादक।

प्रमुख रचनाएँ : गाँधी जी का मुकदमा, दयानन्द दर्शन, जनरल अवारी, आर्यसमाज किस ओर, स्वामी श्रद्धानन्द, आर्य सत्याग्रह, जयहिन्द (तीन खण्डों में); लालकिले में, टोकियो से इम्फाल, जीवन-संघर्ष (महाशय कृष्ण का जीवन-चरित्र), धुन के धनी (जयनारायण व्यास का जीवन-परिचय), बसंतलाल मुरार का स्मृति-ग्रन्थ, आज का मध्य भारत, परदा, राष्ट्रधर्म, हमारे राष्ट्रपति, लाला देवराज, राष्ट्रवादी दयानन्द आदि।

छात्रावस्था से ही पत्रकारिता के प्रति रुचि होने के कारण गुरुकुल में 'राजहंस', 'अद्भुत', 'विजयदशमी' (दैनिक) तथा 'समालोचक' (दैनिक) हस्तलिखित पत्रों का संपादन। स्वामी श्रद्धानन्द जी के 'सद्धर्म-प्रचारक' एवं 'श्रद्धा' में कार्य करते हुए पत्रकारिता की दीक्षा प्राप्त। १९२० में गाँधी जी और जमना-लाल बजाज के निकट संपर्क में आकर वर्धा-आश्रम में निवास। राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण कई बार जेल-यात्राएँ। १९५४ में प्रज्ञाचक्षु होने के बावजूद धुन के धनी होने के कारण अपना लेखन-कार्य निरन्तर जारी रखा और जीवन पर्यन्त इसी में लगे रहे। ३१ मार्च, १९३५ को पंजाब सरकार द्वारा 'जय साहित्य' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके सम्मानित। निधन २५ जून, १९६५ को दिल्ली में।

श्री श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केंद्र

के नये प्रकाशन

सं० विष्णुदत्त राकेश

1. वैदिक साहित्य, संस्कृति एवं समाज दर्शन 500.00

2. शोध-सारावली (संपादित) 220.00

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

3. वेद और उसकी वैज्ञानिकता 3000.00

डॉ० विष्णुदत्त राकेश

4. श्रुतिपर्णा 95.00

सं० सूर्यकांत श्रीवास्तव, जगदीश विद्यालंकार

5. क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर (अंग्रेजी) 800.00

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

6. वेद का राष्ट्रीय गीत 200.00